स्व-कथन

स्वावलंबी चिकित्सा अधिक वैज्ञानिक- स्वयं द्वारा स्वयं को स्वस्थ रखने की प्रभावशाली विधियाँ है, उपचार की अच्छी पद्धतियाँ हैं। अच्छी चिकित्सा पद्धति के लिए आवश्यक होता है, रोग के मूल कारणों का सही निदान, तुरन्त दुष्प्रभावों से रहित स्थायी उपचार। जो पद्धति सहज, सरल, सस्ती, स्वावलंबी एवं अहिंसक होने के साथ-साथ, शरीर, मन, वाणी और आत्मा के विकारों को कम करने में सक्षम हो, जिन चिकित्सा पद्धतियों में करणीय-अकरणीय, भक्ष्य-अभक्ष्य, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय, वर्जित-अवर्जित का विवेक हो, वे ही चिकित्सा पद्धतियाँ अपने आपको वैज्ञानिक एवं सर्वश्रेष्ठ होने का दावा कर सकती है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वास्थ्य के संबंध में उपर्युक्त मापदण्डों के आधार पर ही अधिकांश कथन किया गया है। स्वावलंबन एवं अहिंसक उपायों की तरफ विशेष ध्यान दिया गया है।

जब से मानव सभ्यता का विकास हुआ, तभी से स्वास्थ्य वैज्ञानिक तथा चिंतक इस प्रयास में व्यस्त हैं कि मानव रोग मुक्त जीवन कैसे जी सके? यथार्थता यह है कि इतनी प्रगति के बावजूद भी आज रोग और रोगियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। मानव शरीर के लिये अति आवश्यक कोशिकाओ, रक्त, वीर्य, अस्थि, मज्जा आदि किसी भी शारीरिक अवयव का आज तक प्रयोगशालाओं में निर्माण नहीं हो सका है।

दुनिया में चेतनाशील प्राणियों में मानव का प्रतिशत तो एक प्रतिशत से भी कम होता है। बाकी 99 प्रतिशत जी अनादि काल से सहज जीवन जी रहे हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार की चिकित्सा पद्धति का न तो कोई ज्ञान होता है और न अनुभवी चिकित्सकों का सान्निध्य ही मिलता है। क्या वे रोगी नहीं होते? वे पुनः कैसे स्वस्थ होते हैं? दूसरी तरफ स्वच्छ वातावरण में रहने वाले, पौष्टिक आहार का सेवन करने वाले, शुद्ध निर्मल मिनरल वाटर पीने वाले भी रोगी हो जाते हैं। आखिर क्यों? इस पर बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष सम्यक् चिन्तन आवश्यक है।

मानव शरीर दुनिया की सर्वश्रेष्ठ मशीनरी है जो पांचों इन्द्रियों और मन जैसी अमूल्य सम्पदाओं से न केवल परिपूर्ण ही होता है। अपितु, उसके सारे अंग-उपांग पूर्ण तालमेल एवं आपसी सहयोग एवं समन्वय से अपना-अपना कार्य करते हैं। यदि शरीर के किसी भी भाग में कोई तीक्ष्ण कांटा, सुई अथवा पिन चुभ जाए तो उस समय न तो आँख को अच्छे से अच्छा दृश्य देखना अच्छा लगता है और न कानों को मन पसन्द गीत सुनना। यहां तक दुनिया भर में चक्कर लगाने वाला हमारा चंचल मन क्षण मात्र के लिए अपना ध्यान वहां केन्द्रित कर देता है। जिस शरीर में इतना तालमेल और अनुशासन हो, क्या उस शरीर में कोई अकेला नामधारी रोग हो सकता है? मानव शरीर अपने आप में परिपूर्ण हैं। इसमें अपने आपको स्वस्थ रखने की पूर्ण क्षमता होती है।

शरीर में हजारों रोग होते हैं, परन्तु अधिकांश चिकित्सा पद्धतियाँ आज निदान करते समय उनकी उपेक्षा कर मुख्य रोग को ही प्रधानता देती हैं। जनतंत्र में सहयोगियों को अलग किये बिना जिस प्रकार नेता को नहीं हटाया जा सकता, सेना को जीते बिना सेनापति को कैद नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार सहयोगी रोगों की उपेक्षा कर शरीर को पूर्ण रूप से रोग मुक्त नहीं रखा जा सकता। यह सनातन सत्य है तथा उसको नकारने एवं उपेक्षा करने वाली चिकित्सा आंशिक, अधूरी एवं अस्थायी ही होती है। यह रोगों एवं लक्षणों के नाम से उपचार

करने वाली पद्धतियों के प्रशंसक स्वास्थ्य प्रेमियों के लिए चुनौती भरा चिन्तन का प्रश्न है तथा स्वास्थ्य के संबंध में हमारे पूर्वाग्रहों से ग्रसित मान्यताओं पर पुनर्विचार करने हेतु प्रेरित करता है।

हमारे शरीर में स्वयं को स्वस्थ रखने की क्षमता होती है। अनुभवी चिकित्सक एवं अच्छी से अच्छी दवा शरीर को अपना उपचार स्वयं करने की प्राकृतिक विधि में सहायक मात्र होते हैं। शरीर के सहयोग के बिना सारे उपचार निष्क्रिय हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ रहना चाहता है, परन्तु चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य नहीं मिलता। उपचार से पूर्व रोगी को यह जानना और समझना आवश्यक है कि रोग क्या है? रोग कब और क्यों होता है? उसके प्रत्यक्ष परोक्ष कारण क्या-क्या हो सकते हैं? रोग के सहायक एवं विरोधी तत्त्व क्या हैं? व्यक्ति रोग तो स्वयं पैदा करता है, परन्तु दवा और डॉक्टर से ठीक होना चाहता है। क्या उसका श्वास अन्य व्यक्ति ले सकता है? क्या उसका खाया हुआ भोजन कोई दूसरा व्यक्ति पचा सकता है। प्रकृति का सनातन सिद्धान्त है कि जहाँ समस्या होती है, उसका समाधान उसी स्थान पर होता है। अतः जो रोग शरीर में पैदा होते हैं, उनका उपचार शरीर में अवश्य होना चाहिए। यही स्वावलम्बी चिकित्सा का मूल सूत्र है। अतः जो चिकित्सा पद्धतियाँ जितनी ज्यादा स्वावलम्बी होगी, रोग की उसमें उतनी ही अधिक सजगता, भागीदारी होगी एवं सम्यक् पुरुषार्थ होने से वे पद्धतियाँ उतनी अधिक प्रभावशाली होंगी।

अधिकांश व्यक्ति रोग होने में स्वय की गलती स्वीकार नहीं करते। इसी कारण रोग के कारणों को समझे बिना, निदान के बारे में अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त किये बिना, डॉक्टरों के पास पड़ने वाली भीड़ के अन्धानुकरण के कारण, चिकित्सा से भविष्य में पड़ने वाले दुष्प्रभावों की उपेक्षा करते हुए, अपने आपको डॉक्टरों की प्रयोगशाला बनाते संकोच नहीं करते। दवाओं के अनावश्यक सेवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति क्षीण होने लगती हैं। रोग के जितने मानसिक और भावात्मक कारणों के साथ-साथ प्रकृति के विरूद्ध खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार से संबंधित कारण स्वयं को ज्ञात होते हैं, उनको रोगी पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जितने कारण अभिव्यक्त कर सकता है, वे सारे के सारे यंत्रों एवं पेथालोजिकल परीक्षणों की पकड़ में सदैव नहीं आते। अतः निदान प्राय अधूरा ही होता है। जब निदान ही अधूरा हो, जिसमें रोग के मूल कारणों की उपेक्षा हो तो ऐसे उपचार कैसे स्थायी हो सकते हैं? आज उपचार किया जाता है, परन्तु वास्तव में होता नहीं। मात्र पीड़ा में राहत मिलना अथवा रोग के बाह्य कारणों का दब जाना, रोग का सम्पूर्ण उपचार नहीं माना जा सकता।

हमें चिन्तन करना होगा कि जो शरीर अपनी कोशिकाएँ रक्त, मांस, मज्जा, हड्डियाँ, चर्बी, वीर्य आदि अवयवों का निर्माण स्वयं करता है, जिसे आधुनिक विकसित स्वास्थ्य विज्ञान पूरी कोशिश के बावजूद अभी तक नहीं बना सका। ऐसे स्वचालित, स्वनिर्मित, स्वनियन्त्रित शरीर में स्वयं के रोग को दूर करने की क्षमता न हों, यह कैसे संभव है?

शरीर का विवेक पूर्ण सजगता के साथ उपयोग करने की विधि स्वावलम्बी जीवन की आधारशीला होती है। मानव की क्षमता, समझ और विवेक जागृत करना उसका उद्देश्य होता है। उपचार में रोगी की भागीदारी मुख्य होती है। अतः रोग उपचार से पड़ने वाले प्रभावों के प्रति सजग रहता है, जिससे दुष्प्रभावों की सम्भावना प्रायः नहीं

रहती। ये उपचार बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, शरीर विज्ञान की विस्तृत जानकारी न रखने वाला साधारण व्यक्ति भी आत्म-विश्वास से स्वयं कर सकता है। पुस्तक का उद्देश्य जनसाधारण में फैली भ्रामक धारणाओं को दूर कर स्वयं की असीम क्षमताओं के प्रति स्वयं का आत्मविश्वास पैदा करना है ताकि मानव को विश्वास हो सके कि-''स्वावलंबी चिकित्सा पद्धतियाँ अधिक वैज्ञानिक एवं प्रभावशाली होती है।

चिकित्सा हेतु हिंसा को प्रोत्साहन अनुचित- आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की जानकारी हेतु करोड़ों जानवरों का प्रति वर्ष विच्छेदन किया जाता है। दवाइयों के निर्माण और उनके परीक्षण हेतु जीव जन्तुओं पर निर्दयता, क्रूरता पूर्वक यातनाएँ दी जाती है। किसी को दुःख देकर सुख और शांति कैसे मिल सकती है? जो प्राण हम दे नहीं सकते, उनको अपने स्वार्थ हेतु लेने का हमें अधिकार किसने दे दिया? यह तो पशुता एवं अनैतिकता का लक्षण है। हिंसा, क्रूरता, निर्दयता अथवा अन्य विधि द्वारा किसी जीव को स्वयं कष्ट पहुँचाना अथवा ऐसा कृत्य करने वालों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग देना बुरा है।, उसके चाहे जो कारण रहे हों। ''जैसा करेंगे वैसा फल मिलेगा,'' यह कर्म का सनातन सिद्धान्त है। प्रकृति के न्याय में देर हो सकती है, परन्तु अन्धेर नहीं। परन्तु अहिंसा का प्रचार-प्रसार करने एवं उपदेश देने वाले अनेक संत भी चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाली हिंसा का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष मूक समर्थन करते आज संकोच नहीं करते। चिकित्सा में अहिंसा न केवल उपेक्षित एवं गौण होती जा रही है, अपितु हिंसा को आवश्यक बतलाने का प्रयास किया जा रहा है। पुस्तक में प्रभावशाली उपचार हेतु हिंसा की आवश्यकता तो पूर्ण रूप से नकारा गया है। उपचार में हिंसा कर्जा चुकाने के लिये ऊंचे ब्याज पर कर्जा लेने के समान नासमझी है।

उपभोक्ता एवं सुविधावादी जीवन पद्धति तथा स्वार्थपरक चिन्तन शैली ने मानव को शारीरिक और मानसिक रूप से रुग्ण बना दिया है। दर्द सहनशक्ति से परे होता है। येन-केन-प्रकारेण तुरन्त राहत समय की मांग है। साथ ही बहुत से अहिंसा प्रेमियों को न चाहते हुये भी विवशता पूर्वक रोगोपचार कराते समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा में भागीदार होना पड़ रहा है। आज का मानव भाषणों, लेखों,तर्को के बजाय उपचार में तुरन्त राहत को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है। अतः पुस्तक में ऐसी जीवन शैली एवं उपचारों की चर्चा की गई है जो मानव को अहिंसक जीवन जीते हुए तुरन्त रोग मुक्त रख सके तथा यदि किसी कारणवश भूल एवं असजगता से रोग पैदा हो भी गया हो तो, उसमें तुरन्त राहत और दुष्प्रभाव से रहित उपचार करने में सक्षम हो।

उपचार हेतु चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों को प्राथमिकता आवश्यक- आजकल अन्य चिकित्सा पद्धतियों से जुड़े चिकित्सक अपने मूल सिद्धान्तों से हटकर आधुनिक चिकित्सा के निदान को आधार मानकर प्रायः उपचार करते हैं। उनमें स्वयं की अधिकांश चिकित्सा के प्रति आत्मविश्वास की कमी स्पष्ट प्रतीत होती है। भूतकाल में आयुर्वेदाचार्य नाड़ी देखकर रोग का सही निदान कर देते थें। उनको सही एवं शुद्ध देशी जड़ी बूटियों का ज्ञान और पहचान थी। दवा बनाते समय वे उपयोगी मंत्रों का उच्चारण करते थे, जिससे दवा का प्रभाव कई गुणा बढ़ जाता था। परन्तु आज आयुर्वेद चिकित्सक कैसे निदान करते हैं? और उपचार हेतु दवा देते हैं, हम सबको विदित है। आजकल तो आयुर्वेद दवाओं का निर्माण भी कारखानों में होना प्रारम्भ हो गया है एवं उनका परीक्षण जानवरों पर होने से उनका प्रभाव सीमित हो रहा है। अतः वर्तमान आयुर्वेद चिकित्सा न तो पूर्ण रूप से अहिंसक है और न अत्यधिक प्रभावशाली। योग का भी आजकल योगा के रूप में प्रचलन बहुत चल रहा है। परन्तु पातंजलि के

अष्टांग योग में से यम, नियम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि की उपेक्षा कर योगा के आसन और प्राणायाम को विभिन्न विधियों तक सीमित होने से उससे आंशिक लाभ ही प्राप्त हो सकते हैं।

अधिकांश एक्युप्रेशर चिकित्सक भी अपने सिद्धान्तों के अनुसार न तो रोगों का निदान ही करते हैं और न उपचार। आधुनिक चिकित्सा के निदान को आधार मानकर ही प्रायः नामधारी रोगों का उपचार सहयोगी रोगों की उपेक्षा करने से उपचार अस्थायी और आंशिक प्रभावशाली एवं अधिक समय लेता है, जबकि हथेली और पगथली में सभी दर्दस्थ प्रतिवेदन बिन्दुओं पर उपचार करने से सारे शरीर, मन और मस्तिष्क के विकारों को जल्दी दूर किया जा सकता है और उपचार से असाध्य एवं संक्रामक रोग जल्दी ठीक हो सकते हैं।

मौलिक और वैज्ञानिक चिकित्सा के मापदण्ड- अन्य चिकित्सकों द्वारा आधुनिक चिकित्सा को महत्त्व देने से, उनका प्रयास सदैव अपने उपचारों को प्रमाणिक और वैज्ञानिक बतलाने के लिये उनके मापदण्डों को प्राथमिकता देनी पड़ती है। उपचार के परिणामों को आधुनिक परीक्षणों से सत्यापित करना आवश्यक होता है। जबकि अच्छी चिकित्सा का मापदण्ड तो स्थायी एवं प्रभावशाली परिणाम ही होते हैं। आधुनिक चिकित्सा जहाँ भौतिक परिणामों तक आधारित होती है। वहीं स्वावलंबी चिकित्सा प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित होने से अधिक प्रभावशाली होती है, परन्तु उसके लिए उसके अनुरूप निदान, उपचार और परहेज अथवा आचरण आवश्यक होता है। पानी पीने से प्यास बुझती है, अग्नि का स्पर्श करने से जलाती है आदि ऐसे सनातन सिद्धान्त है, जिनके लिये परिणामों को प्रमाणित करने के लिए आंकड़ों के संकलन की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार जो उपचार दुष्प्रभावों से रहित है और तुरन्त राहत देते हैं, उनको संकलित आंकड़ों के अभाव में स्वीकार न करना, हमारी पूर्वग्रसित मान्यताओं का प्रभाव हो सकता है। विज्ञान का सोच नहीं हो सकता। विज्ञान हानि-लाभ का विश्लेषण करता है। आधुनिक दवाओं के प्रभावों का बढ़ा-चढ़ा कर विज्ञापन किया जाता है, परन्तु उससे पड़ने वाले दुष्प्रभावों की उपेक्षा की जाती है, ऐसा सोच और तरिका अपने आपको ही मौलिक एवं वैज्ञानिक एवं अन्य चिकित्सा पद्धतियों को अवैज्ञानिक अथवा वैकल्पिक बतलाने का दावा कैसे कर सकता है? परन्तु हमारी असजगता, भ्रामक विज्ञापनों से प्रभावित हमारे अविवेक, मिथ्या चिन्तन के कारण आज ऐसा ही प्रचार हो रहा है।

मौलिक चिकित्सा कौनसी? स्वावलंबी या परावलम्बी, सहज अथवा दुर्लभ, सरल अथवा कठिन, सस्ती अथवा महँगी। प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृतिक या नित्य बदलते मापदण्डों वाली अप्राकृतिक। अहिंसक अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा, निर्दयता, क्रूरता को बढ़ावा देने वाली। दुष्प्रभावों से रहित अथवा दुष्प्रभावों वाली। शरीर की प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ाने वाली या कम करने वाली। रोग का स्थायी उपचार करने वाली अथवा राहत पहुँचाने वाली। सारे शरीर को एक इकाई मानकर उपचार करने वाली अथवा शरीर को टुकड़ों-टुकड़ों के सिद्धान्त पर उपचार करने वाली। उपर्युक्त मापदण्डों के आधार पर हम स्वयं निर्णय करें कि कौनसी चिकित्सा मौलिक है और कौनसी वैकल्पिक? मौलिकता का मापदण्ड भ्रामक विज्ञापन अथवा संख्याबल नहीं होता। करोड़ों व्यक्तियों के कहने से दो और दो पांच नहीं हो जाते। दो ओर दो तो चार ही होते है। अतः स्वावलंबी चिकित्सा पद्धति मौलिक चिकित्सा पद्धति है, वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति नहीं है।

पुस्तक में संकलित छोटे-छोटे सिद्धान्तों का आचरण कर सजग व्यक्ति स्वयं को स्वस्थ रख सकता है, भले ही उसको स्वास्थ्य विज्ञान एवं शरीर के आंतरिक भागों की विस्तृत जानकारी न भी हो। जिसका मैंने स्वयं

जीवन की घटित विभिन्न दुर्घटनाओं, हृदयज्ञात जैसे घातक रोग एवं अन्य रोगों से तुरन्त राहत पाकर सुखद अनुभव किया है। अपनी क्षमताओं से परिचित न होने तथा सही मार्ग दर्शन न मिलने के कारण आज जनसाधारण स्वास्थ्य के प्रति परावलंबी बनता जा रहा है। चिकित्सा के प्रति सजगता एवं सही चिन्तन न होने से अन्धानुकरण हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में आरोग्य आपका जनसाधारण के लिये अंधेरे में दीपक का कार्य करेगा। उनमें स्वावलंबी चिकित्सा पद्धतियों के प्रति फैली आशंकाओं का निवारण होगा तथा उपचार में स्वयं की भागीदारी और सजगता बढ़ेगी जिससे उपचार के चमत्कारी परिणाम तुरन्त प्राप्त होने लगेगें। स्वयं की भागीदारी एवं सजगता न होने से अन्य चिकित्सा पद्धतियों का पूर्ण लाभ जल्दी ही मिलता। ऐसे रोगी परिणाम शीघ्र न मिलने के कारण कभी-कभी स्वावलंबी चिकित्सा पद्धतियों के निन्दक बन जायें तो भी आश्चर्य नहीं। प्रत्येक रोगी को समयावधि की अल्पता के कारण उपचार संबंधी विस्तृत तथ्यों की विस्तृत जानकारी देना भी संभव नहीं होता और न रोगी रोग से परेशान होने के कारण सच्चाई को जानना, समझना और सुनना तथा स्वयं कुछ करना ही चाहता है। जब स्वाललंबी चिकित्सा स्वयं देखा देखी परावलंबी चिकित्सा पद्धतियों के सिद्धान्तों पर कार्य करने लगती है, तो रोगी को अपेक्षित लाभ कैसे मिल सकता है?

उपचार सस्ता और सरल होने से न तो परामर्शदाताओं को अपेक्षित अर्थ उपार्जन करवा सकता है और न दवा कंपनियों की भाँति महंगे विज्ञापनों द्वारा प्रचार-प्रसार ही संभव होता है। अपने परिक्षण शिविरों एवं टेलीफोन द्वारा रोगियों का मार्गदर्शन करते समय ऐसी पुस्तक का अभाव अनुभव हो रहा था। अतः गत वर्ष मैंने ''स्वस्थ रहें अथवा रोगी : फैसला आपका'' एवं भोजन के संबंध में ''क्या बुद्धिमान व्यक्ति मांसाहारी हो सकता है''? का प्रकाशन करवाया, जिसको पाठकों ने बहुत पसन्द किया। उसी शृंखला में ''आरोग्य आपका'' प्रकाशित करते हुए अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है।

सहज एवं प्रभावशाली उपचारों का उपहार-''आरोग्य आपका'' पुस्तक में चर्चित अधिकांश उपचार हमारे घर में प्रायः उपलब्ध होते हैं और बालक-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, परिचित-अपरिचित, सिद्धान्तों की साधारण सी जानकारी के पश्चात् स्वयं कर सकते हैं। उन्हीं सरल उपायों की चर्चा पुस्तक में की गई है। जैसे स्विच चालू करने की कला जानने वाला बिजली के उपकरणों का उपयोग आसानी से कर सकता है। उसे यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि बिजली का आविष्कार किसने, कब और कहाँ किया? बिजलीघर से बिजली कैसे आती है? कितना वोल्टेज, करेन्ट और फ्रिक्वेन्सी है? मात्र स्विच ऑन करने की कला जानने वाला उपलब्ध बिजली का उपयोग कर सकता है। विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों की ऐसी साधारण जानकारी से न केवल अपने आपको स्वस्थ ही रख सकता है, अपितु असाध्य से असाध्य रोगों का बिना किसी दुष्प्रभाव ढंग से उपचार भी कर सकता है।

जिस प्रकार रोग के असंख्य कारण हो सकते हैं, ठीक उसी प्रकार उसके उपचार के भी अनेक कारण हो सकते हैं। परन्तु पुस्तक में उन्हीं स्वावलंबी चिकित्सा से संबंधित तथ्यों की प्राथमिकता के आधार पर चर्चा की गयी है जो न केवल सहज सरल सस्ते अहिंसक भी है अपितु बहुत प्रभावशाली भी हैं। जिसका मैंने स्वयं अपना एवं हमारे उपचार केन्द्रों से मार्ग दर्शन पाकर, रोगियों को, बिना किसी दुष्प्रभाव शीघ्र स्वास्थ्य लाभ पहुँचाने का सुखद अनुभव किया है।

यद्यपि मैंने चर्चित विषयों के अलावा रेकी, ध्यान, डाउजिंग, विविध योगासन, पिरामिड रत्न एवं दूरस्थ चिकित्सा का भी प्रशिक्षण एवं अध्ययन किया है, परन्तु उसका मैंने स्वयं पर अथवा मुझमें मार्ग दर्शन पाने वाले रोगियों पर अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया, अतः उन विषयों पर अधिकार पूर्वक अभिव्यक्ति करने हेतु मैं अपने आपको सक्षम नहीं मानता। शुभ भावना संकल्प, मौन, प्रार्थना, सम्मोहन, ध्वनि, मंत्र चिकित्सा, ज्योतिष, वास्तु, स्पर्श, मर्दन, प्राकृतिक, मालिश इत्यादि जैसी अनेक चिकित्सा पद्धतियां भी स्वावलम्बी अहिंसात्मक उपचार की श्रेणी में आती है। इच्छुक पाठक उनसे संबंधित अनुभवी चिकित्सकों से प्रशिक्षण प्राप्त कर लाभ उठा सकते हैं। मेरा उन पर पूर्ण विश्वास है। मैंने उनका कुछ-कुछ अध्ययन एवं अनुभव भी किया, परन्तु विधिवत् प्रशिक्षण न ले सकने के कारण उनका पुस्तक में उल्लेख नहीं किया।

अतः उनके चिकित्सों तथा उनसे लाभ उठाकर स्वास्थ्य लाभ करने और करवाने वालों को पुस्तक में अभाव स प्रतीत हो सकता है, जिसके लिये वे पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

किसी बात को बिना सोचे समझे स्वीकार करना यदि मूर्खता है तो अनुभूत सत्य को बिना सम्यक् चिन्तन एवं तर्क की कसौटी पर कसे बिना, प्रचार-प्रसार के अभाव में पूर्वग्रसित गलत धारणाओं के कारण अस्वीकार करने वालों को कैसे बुद्धिमान कहा जा सकता है। जिस प्रकार रत्न की पहचान डॉक्टर, वकील, नेता अथवा सेनापति नहीं कर सकता, उसके लिये जौहरी की दृष्टि चाहिए। ठीक उसी प्रकार शरीर की अनन्त क्षमतओं को समझने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् आचरण आवश्यक होता है। पुस्तक का अध्ययन करते समय पाठक कृपया उन मापदण्डों का अवश्य ध्यान रखें, ऐसी अपेक्षा है। पुस्तक में जो-जो बातें आपको उपयोगी लगें, उनको स्वविवेक एवं सजगता के साथ आचरण में लाकर दीर्घ काल तक स्वसी जीवन जीने का प्रयास करें और यदि रोगग्रस्त हैं तो रोग मुक्त हो सकें ऐसी मंगल भावना करता हूँ। पुस्तक पाठकों में अहिंसा और स्वावलम्बन के प्रति तनिक भी आस्था पैदा कर सकेगी तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा।

पुस्तक में चर्चित उपयोगी पदार्थों के चयन की विधि, मस्तिष्क शोधन प्रक्रिया, सौर ऊर्जा का मानव कल्याण में योगदान, पातंजलि योग एवं महावीर का स्वास्थ्य दर्शन, शारीरिक संतुलन की कला, यिन-यांग का सिद्धान्त, जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को सम्यक् उपयोग, स्वर और स्वास्थ्य, शिवाम्बु, एक्युप्रेशर, चैतन्य, हास्य एवं मैथी चिकित्सा आदि ऐसे विषय हैं, जो स्वास्थ्य प्रेमियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास है। पंच महाभूत तत्त्व एवं मुद्रा विज्ञान, चीनी पंच तत्त्व एवं सुजोक बियोल मेरेडियन द्वारा अंगों में प्राण ऊर्जा का संतुलन जैसे विशाल विषयों का इस छोटी पुस्तक में पूर्ण विवेचन करना कठिन है। अतः पुस्तक में सामान्य जानकारी ही दी गयी है। विषय के महत्त्व एवं उपचार की प्रभावशीलता के कारण ही संकेत रूप में इनको सम्मिलित किया गया है। इस कमी के लिये पाठक मुझे क्षमा करेंगे। मैं अपने आपको अत्यधिक भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे ऐसे सरल उपचार के तरीकों का परोपकारी गुरुओं की कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ। मैं आभारी हूँ उन गुरुजनों का, जिन्होंने मुझे आत्मीयता से ऐसे ज्ञान का प्रशिक्षण दिया। मेरी शंकाओं का समाधान किया और मुझे तर्क सम्मत सम्यक् परामर्श दिया। विशेष रूप से श्री विपिन भाई शाह, कान्ति भाई शाह, जितेन जी भट्ट, स्वर्गीय डॉ. जी के ठक्कर, श्री देवेन्द्र वोरा, डॉ. ई डब्लू पार्क, सुरेश भाई सर्राफ, श्रीमती मायाबेन पंजाबी, श्री हीरा रतन माणक, डॉ. अजीत मेहता, डॉ. अत्तर सिंह, निरोगी दुनिया के सम्पादक मोहन कुमार जी

कश्यप, श्री धर्मानन्द जी, आचार्य केशवदेवी जी, डॉ. ओमप्रकाश जी आनन्द एवं श्री भोजराज जी द्विवेदी आदि जिनका मेरे पर उपकार है। आज उस ज्ञान को जनहितार्थ प्रकाशित कर रहा हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण बिना किसी पूर्वाग्रह के पुस्तक को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़कर, अपने विचारों एवं समीक्षा से मेरा मार्ग दर्शन करेंगे। जो-जो बातें आपको उपयोगी लगें, उसका न केवल स्वयं लाभ उठायेंगे अपितु अपने सम्पर्क में आने वालों तक भी पहुँचायेंगे, ऐसी अपेक्षा है। मैं आभारी हूँ, मेरी स्वर्गीय माता-पिता एवं स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज तथा अन्य पूज्य संतों एवं गुरुजनों का जिन्होंने मेरे जीवन में सद् संस्कारों का रोपण किया। मैं आभारी हूँ मेरी धर्मपत्नी श्रीमती रतन चोरडिया एवं पुत्र श्री अशोक चोरडिया तथा परिवार के अन्य सदस्यों का जिन्होंने पारिवारिक दायित्वों से आंशिक मुक्त कर अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों का प्रशिक्षण, प्रचार, प्रसार हेतु मुझे सहयोग दिया।

पुस्तक का आमुख लिखने के लिए प्रोफेसर लक्ष्मीकान्त जी जोशी एवं आवश्यक मार्ग दर्शन हेतु श्रद्धेय प्रमोदमुनि जी, श्रद्धेय ललित प्रभ एवं चन्द्र प्रभ सागर जी, श्रद्धेय प्रवीण ऋषि जी, श्रद्धेय प्रेम मुनिजी एवं जितेश मुनिजी, श्रद्धेय कनकनन्दी जी आदि संत-मुनियों का जिन्होंने समय-समय पर अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों पर अध्ययन एवं कार्य करने हेतु न केवल प्रेरणा दी अपितु मेरा मार्ग दर्शन भी किया। मैं आभारी हूँ श्री जितेन्द्र जी जोशी का जिन्होंने कम्प्युटर की सेवाओं में तथा श्री धर्मचन्द जी जैन तथा प्रकाश जी सालेचा का जिन्होंने प्रूफ देखने में मुझे सहयोग दिया। दुनियाँ भर में कार्यरत स्वावलंबी अहिंसात्मक ढंग से चिकित्सा के क्षेत्र में कार्यरत चिकित्सकों, विशेष रूप से मेरे सहयोगी चिकित्सकों, प्रेरकों, वैज्ञानिकों, आचार्य महाप्रज्ञ जैसे साधु संतों आदि का जो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपने अनुभव और विचार व्यक्त कर अथवा स्वास्थ्य संबंधी पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों द्वारा अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने में अहं भूमिका निभा रहे हैं, का भी आभारी हूँ, जिनकों पढ़कर एवं सुनकर मुझे सम्यक् मार्ग दर्शन मिला एवं मेरी स्वावलंबी चिकित्सा के प्रति शंकाओं का समाधान हुआ। पुस्तक में चर्चित, उन्हीं विषयों का संकलन है, जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष चिंतन एवं अनुभव करने का मुझे सुखद संयोग मिला। ''सच्चा और अच्छा जो न केवल मेरा अपितु सभी का।''

सबका मंगल हो, सबका कल्याण हो, सभी शांत, प्रसन्न, स्वस्थ एवं रोग मुक्त हों।

''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिन् दुःखमाप्नुयात्।।''

ऐसी मंगल भावना के साथ

-डॉ. चंचलमल चोरडिया

चोरडिया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर-342003 (राज.)

फोन : 0291-2621454,9414134606(मोबाइल)

E-mail - cmchordia.jodhpur@gmail.com

Website: chordiahealthzone.com

प्रथम अध्याय

स्वस्थ जीवन क्या है?

जीवन क्या है ?

जन्म और मृत्यु के बीच की अवस्था का नाम जीवन है। जीवन को समझने से पूर्व जन्म और मृत्यु के कारणों को समझना आवश्यक होता है। जिसके कारण हमारा जीव विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। जन्म और मृत्यु क्यों ? कब ? कैसे और कहाँ होती है ? उसका संचालन और नियन्त्रण कौन और कैसे करता है ? सभी की जीवन शैली, प्रज्ञा, सोच, विवेक, भावना, संस्कार, प्राथमिकताएँ, उद्देश्य, आवश्यकताएँ आयुष्य और मृत्यु का कारण और ढंग एक-सा क्यों नहीं होता ? मृत्यु के पश्चात् अच्छे से अच्छे चिकित्सक का प्रयास और जीवन दायिनी समझी जाने वाली दवाईयाँ क्यों प्रभावहीन हो जाती हैं ? मृत्यु के पश्चात् शरीर के कलेवर को क्यों जलाया, दफनाया अथवा अन्य किसी विधि द्वारा समाप्त किया जाता है ?

प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं से प्रश्न करना चाहिए कि-''**मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मुझे मानव जन्म क्यों और कैसे मिला ? मानव जीवन में भी सभी को एक-जैसी परिस्थितियाँ और वातावरण क्यों नहीं मिलते ? सभी की आयु एक जैसी क्यों नहीं होती ? किसी की बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीर का पूर्ण विकास होता है तो कुछ जन्म से ही अविकसित, असन्तुलित, विकलांग अथवा अस्वस्थ क्यों होते हैं ? जन्म के साथ परिवार, समाज, धर्म और संस्कृति, परिस्थितियाँ, कार्यक्षेत्र तथा जीवन को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्रसंगों का संयोग अथवा वियोग क्यों मिलता है ?** जीवन चलाना तो प्राय: सभी योनि के जीव जानते हैं। परन्तु जीवन को सार्थक कैसे बनाना, यह केवल मानव जीवन में ही संभव होता है। सृष्टि में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसको पाँचों इन्द्रियों के साथ मन, मस्तिष्क, चेतना और विवेक की सर्वोच्य अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें जीवन का सर्वाधिक विकास सम्भव होता है। मानव इसी कारण सम्यक् चिन्तन कर अपनी क्षमताओं को पहचान, उसके अनुरूप जीवन का लक्ष्य बना जीवन जी सकता है।

मानव जीवन अमूल्य है:-

मानव जीवन अमूल्य है। वस्तु जितनी मूल्यवान होती है, उसका उपयोग उसके अनुरूप करने वाला ही सच्चा ज्ञानी होता है। लाखों रुपये मासिक वेतन पाने वाले कारखाने के किसी मेनेजर को झाड़ू लगाने का कार्य लेने वाले को व्यावहारिक जगत में हम बुद्धिमान नहीं कहते। चाय की जो प्याली पाँच रुपए में मिलती है, उसके लिए हजार रुपए देने वाला ना-समझ होता है। वे सभी व्यक्ति बुद्धिमानों की श्रेणी में नहीं आते जो जानते हैं कि अमुक प्रवृत्ति उनके स्वास्थ्य अथवा जीवन के लिए हानिकारक है, फिर भी उनसे नहीं बचते और जो यह जानते है कि अमुक प्रवृत्तियों से शांति मिलती है, तनाव दूर होता है, निर्भयता आती है, स्वास्थ्य अच्छा रहता है, फिर भी उनकी उपेक्षा करते हैं। हमें चिन्तन करना होगा कि मानव जीवन के रूप में प्राप्त हम अपनी ऐसी अमूल्य क्षमताओं का अप्राथमिक, अनावश्यक कार्यो में दुरुपयोग और अपव्यय तो नहीं कर रहे हैं ? मानव योनि को व्यर्थ में ही बर्बाद तो नहीं कर रहे हैं, ताकि भविष्य में अपनी मूर्खता पर पछताना पड़े ? जब तक अपनी क्षमताओं का सही उपयोग नहीं होगा, दु:ख और रोग के कारणों को नहीं समझा जाएगा तब तक हमारा जीवन अमर्यादित, अनियन्त्रित, लक्ष्य-हीन, स्वच्छन्द, असंयमित होने से स्थायी स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता।

स्वास्थ्य क्या है ?

स्वास्थ्य के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन करने से पूर्व तथा स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न तथ्यों की चर्चा करने से पूर्व स्वास्थ्य क्या होता हैं और रोग किन-किन कारणों से हो सकते हैं ? उनको जानना और समझना आवश्यक है- ताकि स्वास्थ्य के अनुरूप जीवन शैली अपनायी जा सके और रोग के कारणों से यथा-सम्भव बचा जा सके। मृत्यु के लिए सौ सर्पो के काटने की आवश्यकता नहीं होती। एक सर्प का काटा व्यक्ति भी कभी-कभी मर सकता है। ठीक उसी प्रकार कभी-कभी बहुत छोटी लगने वाली हमारी गलती अथवा उपेक्षावृत्ति भी भविष्य में रोग का बहुत बड़ा कारण बन जीवन की प्रसन्नता-आनन्द सदैव के लिए समाप्त कर देती है।

स्वस्थ कौन ?

स्वस्थ का मतलब होता है रोग-मुक्त जीवन। स्वस्थता तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है। जब शरीर, मन, इन्द्रियाँ और आत्मा ताल से ताल मिला कर सन्तुलन से कार्य करते हैं, तब ही अच्छा स्वास्थ्य कहलाता है अर्थात् शरीर की समस्त प्रणालियाँ एवं सभी अवयव स्वतन्त्रतापूर्वक अपना-अपना कार्य करें, किसी के भी कार्य में किसी भी प्रकार का अवरोध, आलस्य अथवा निष्क्रियता न हो तथा उनको चलाने हेतु किसी बाह्य दवा अथवा उपकरणों की आवश्यकता न पड़े। मन और पाँचों इन्द्रियाँ सशक्त हो। स्मरण शक्ति अच्छी हो। क्षमताओं का ज्ञान हो। विवेक जागृत हो। लक्ष्य सही और विकासोन्मुख हो तथा जीवन में स्थायी आनन्द, शांति, प्रसन्नता बढ़ाने वाला हो, न कि तनाव, चिन्ता, निराशा, भय, अनैतिकता, हिंसा,झूठ, चोरी, व्याभिचार, तृष्णा आदि दु:ख के कारणों को बढ़ाने वाला। प्राथमिकताएँ सही हो एवं उसके अनुरूप संयमित, नियमित, नियन्त्रित जीवनचर्या हो। आवश्यकता की क्रियान्विति और अनावश्यक की उपेक्षा का स्वविवेक हो। मन का चिन्तन और आचरण सम्यक् एवं संयमित हो। मन में बेचैनी न हो। इन्द्रियों की विषय-विकारों में आसक्ति न हो। समस्त प्रवृत्तियाँ सहज और स्वाभाविक हो, अस्वाभाविक न हो अर्थात् जिसका पाचन और श्वसन बराबर हो, नियमित हो, सन्तुलित हो। अनुपयोगी अनावश्यक विजातीय तत्त्वों का शरीर से विसर्जन सही हो। भूख प्राकृतिक लगती हो। निद्रा स्वाभाविक आती हो। पसीना गन्ध-हीन हो। त्वचा मुलायम हो, बदन गठीला हो। सीधी कमर, खिला हुआ चेहरा और आँखों में तेज हो। नाड़ी, मज्जा, अस्थि, प्रजनन, लसिका, रक्त परिभ्रमण आदि तंत्र शक्तिशाली हो तथा अपना कार्य पूर्ण क्षमता से करने में सक्षम हो। जो निस्पृही तथा निरंहकारी हो। जो आत्म-विश्वासी, दृढ़ मनोबली, सहनशील, धैर्यवान, निर्भय, साहसी और जीवन के प्रति उत्साही हो। जिसके सभी कार्य समय पर होते हो तथा जीवन नियमबद्ध हो। वास्तव में पूर्ण स्वस्थता के मापदण्ड तो यही हैं। जितने-जितने अंशों में उपरोक्त तथ्यों की प्राप्ति होती है उसी अनुपात में व्यक्ति स्वस्थ होता है। इसके विपरीत स्थिति पैदा होने पर अपने आपको पूर्ण स्वस्थ मानना अथवा स्वस्थ बनाने का दावा करना न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के स्वास्थ्य की स्थिति पर अवश्य चिन्तन करना चाहिए। जो-जो बातें उसके स्वयं के नियन्त्रण में होती हैं, उसके अनुरूप अपनी जीवनशैली बनाने का प्रयास करना चाहिए।

आज स्वास्थ्य का परामर्श देते समय अथवा रोग की अवस्था में निदान करते समय प्राय: कोई भी चिकित्सक अथवा स्वास्थ्य विशेषज्ञ व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विविध कारणों का समग्रता से विश्लेषण नहीं करते।

सत्य की पूर्णत: अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। वह तो व्यक्ति के स्वयं की अनुभूति का विषय होता है। जो भी देखा जाता है, सुना जाता है, कथन किया जाता है, यन्त्रों अथवा परीक्षणों से पता लगाया जाता है वह सत्यांश ही होता है। चिकित्सकों द्वारा किया गया ऐसा निदान और परामर्श सदैव कैसे शत-प्रतिशत सत्य और पूर्ण हो सकता है, अपने आपको स्वस्थ रखने की कामना रखने वालों से सम्यक् चिन्तन की अपेक्षा रखता है। अत: स्वस्थ रहने हेतु व्यक्ति के स्वयं की सजगता, विवेक, बुद्धि स्वावलम्बन जीवन पद्धति तथा स्वयं की स्वयं द्वारा नियमित समीक्षा, पूर्ण स्वस्थता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य होती है। पराधीन अथवा दूसरों पर आश्रित रहने वाला व्यक्ति स्थायी स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। मृत्यु के लिए सौ सर्पो के काटने की आवश्यकता नहीं होती। एक सर्प का काटा व्यक्ति भी कभी-कभी मर सकता है। ठीक उसी प्रकार कभी-कभी बहुत छोटी लगने वाली हमारी गलती अथवा उपेक्षावृत्ति भी भविष्य में रोग का बहुत बड़ा कारण बन जीवन की प्रसन्नता-आनन्द सदैव के लिए समाप्त कर देती है।

स्वस्थ जीवन के लिए स्वयं की सजगता जरूरी-

एक व्यक्ति ने अपने पड़ौसी अथवा स्नेही परिजन को कहा-''कृपया आप मेरे घर की सुरक्षा का ख्याल रखना।'' पड़ौसी अथवा परिजन ने उसके अनुरोध का कारण पूछा-'' आप अपने मकान की सुरक्षा का भार हम पर क्यों डाल रहे हो? क्या आप घर से बाहर कहीं जा रहे हैं?'' व्यक्ति ने कहा-''नहीं,'' और सहज भाव से उत्तर दिया- ''मैं घर में ही निद्रा ले रहा हूँ। मेरी निद्रा में बाधा उत्पन्न नहीं हो, इसी कारण आपके सहयोग की अपेक्षा है।'' क्या ऐसे व्यक्ति की बात पड़ौसी अथवा परिजन हमेशा के लिए स्वीकार करेंगे? क्या ऐसे व्यक्ति को हम असजग, आलसी अथवा निष्क्रिय तो नहीं कहते? अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में आज अधिकांश व्यक्तियों की स्थिति लगभग ऐसी ही है।

आज चिकित्सा करवाते समय उपचार की प्रासंगिकता के बारे में प्राय: रोगी तनिक भी चिन्तन-मनन नहीं करते। चिकित्सक से निदान की सत्यता के संबंध में अपनी शंकाओं और उपचार से पड़ने वाले दुष्प्रभावों के बारे में स्पष्टीकरण नहीं लेते। रोग का मूल कारण जाने बिना उपचार प्रारम्भ करवा देते हैं। आज यह दवा, कल दूसरी, परसों तीसरी दवा। आज यह चिकित्सक, कल दूसरा चिकित्सक, परसों अन्य चिकित्सक। कभी यह अस्पताल, कभी दूसरा अस्पताल तो कभी अन्य अस्पताल। आज एक चिकित्सा पद्धति, चन्द रोज बाद दूसरी पद्धति और अगर रोग मुक्त न हो तो न जाने कितनी-कितनी चिकित्सा पद्धतियाँ बदलते संकोच नहीं करते। स्वयं की असजगता, अविवेक और सही चिन्तन न होने से हमारी सोच लुभावने विज्ञापनों, डॉक्टरों के पास पड़ने वाली भीड़ से प्रभावित होती है। हम असहाय, हताश बन चिकित्सकों की प्रयोगशाला बनते तनिक भी संकोच नहीं करते। आज अधिकांश असाध्य एवं संक्रामक रोगों का एक मुख्य कारण, प्रारम्भिक अवस्था में गलत उपचार से पड़ने वाले दुष्प्रभाव होते हैं, जिसकी तरफ शायद ही किसी का ध्यान जा रहा है। स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा चलाये जा रहे रोग नियन्त्रक कार्यक्रम से पड़ने वाले दुष्प्रभाव की निष्पक्ष समीक्षा आवश्यक है। आज विदेशों में जबरदस्ती दवा पिलाने और इंजेक्शन लगाने के विरोध में आन्दोलन हो रहे हैं। उनसे पड़ने वाले दुष्प्रभावों की क्षति पूर्ति के कारण कारखाने बन्द हो रहे हैं। सरकारी अनदेखी के कारण हमारे यहाँ वे ही राष्ट्रीय कार्यक्रमों के रूप में सरकारी संरक्षण में नागरिकों की दुष्प्रभावों के प्रति असजगता के कारण तीव्र गति से चल रहे हैं।

उपचार हेतु सही दृष्टिकोण आवश्यक

क्या हमारा श्वास अन्य व्यक्ति ले सकता है? क्या हमारा भोजन अन्य कोई पचा सकता है? क्या दूसरों के खाने से और पानी पीने से हमारी भूख अथवा प्यास शान्त हो सकती है? दूसरों की आँखों से हम नहीं देख सकते, दूसरों के कानों से हम नहीं सुन सकते, दूसरों के पैरों से हम नहीं चल सकते। अपने स्वयं की गतिविधियों के संचालन, नियन्त्रण आदि से जितने हम स्वयं परिचित होते हैं, उतना प्रायः दूसरा व्यक्ति परिचित हो नहीं सकता। हम क्यों तनाव-ग्रस्त, चिन्तित, निराश भयभीत हैं? उनका सही विश्लेषण अन्य व्यक्ति अथवा यंत्र नहीं कर सकता। हम स्वयं अपने खान-पान,रहन-सहन, आचार-विचार और गलत जीवन-चर्या के अप्राकृतिक तरीकों से रोगों को आमन्त्रित करते हैं, परन्तु दवा और डॉक्टर से पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति की कामना रखते हैं। कितना भ्रम है? डॉक्टर एवं दवा मात्र सहयोगी की भूमिका निभा सकते हैं, परन्तु जब तक हमारा शरीर उस सहयोग को स्वीकार नहीं करेगा, तब तक अच्छे से अच्छी दवा तथा बड़े से बड़ा चिकित्सक हमें पूर्ण स्वस्थ नहीं बना सकता। मात्र आंशिक राहत पहुँचा सकता है। स्वास्थ्य को बनाए रखने में स्वयं की सजगता, सम्यक् चिन्तन और सम्यक् पुरुषार्थ की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। मानसिक असन्तुलन अथवा रोग का आभास होने की स्थिति में रोगी को पिछले 48 घंटों की अपनी गतिविधियों की समीक्षा करनी चाहिए। हमें स्वयं ही अपनी गलती का पता चल जायेगा, जिसके कारण रोग का प्रारम्भ हुआ है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में हमें जो संकेत मिलते हैं, उनकी समीक्षा करें तथा भोजन, पानी, हवा के ग्रहण करने में होने वाली भूलों को सुधारने हेतु आवश्यक संशोधन करें, कारण मालूम पड़ते ही समाधान ढूँढना अथवा उपचार सरल हो जाएगा। स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को प्रतिदिन अपने स्वास्थ्य की समीक्षा करनी चाहिए।

जीवन में सहजता जरूरी

मानव जीवन की तुलना दुनिया के सर्वश्रेष्ठ स्वचलित यंत्रों से की जा सकती है। स्वचालित यंत्रों के साथ जितनी कम छेड़-छाड़ की जाए उतना अच्छा होता है। मनुष्य के अलावा अधिकांश चेतनाशील प्राणी में सहज जीवन जीने के कारण अपेक्षाकृत कम रोग-ग्रस्त होते हैं। उन्हें अपने शरीर का विशेष ज्ञान भी नहीं होता। रोजाना दाँतुन न करने के बावजूद उनके दाँत मनुष्य की भांति जल्दी खराब नहीं होते। उन्हें देखने के लिए चश्में की आवश्यकता नहीं होती। नवजात बालक भी सहज जीवन जीता है। उसकी अधिकांश शारीरिक बाह्य क्रियाएँ स्वाभाविक और प्राकृतिक होती है। उससे भी हम स्वस्थ रहने की काफी बाते सीख सकते हैं। उसमें किसी के प्रति न राग होता है और न द्वेष, इसी कारण बच्चा सभी को प्यारा लगता है। वह जब श्वास लेता है तो उसका पेट पूरा फूलता है अर्थात् वह गहरा और पूरा श्वास होता है। यदि हम बच्चे की भांति सदैव गहरा और पूर्ण श्वास लेना प्रारम्भ कर दें तो अनेकों स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का स्वतः समाधान हो जायेगा। बच्चा जब सोता है तो सिर्फ सोता ही है। निश्चिन्त होकर सोता है, परन्तु कुछ लोग निद्रा में भी कुछ न कुछ चिन्तन करते रहते हैं। बच्चा कहीं नहीं जा सकता। चल-फिर नहीं सकता। फिर उसका पाचन कैसे होता है? उसका विकास इतना जल्दी क्यों और कैसे होता है? आखिर वह क्या व्यायाम करता है? हम प्रायः देखते है बच्चा पैरों को चलाता है, उसका पाचन और मल-मूत्र विसर्जन तंत्र ठीक से कार्य करता है। यदि हम भी नियमित रूप से ऐसा व्यायाम करना आरम्भ कर दें तो हम पाचन सम्बन्धी काफी रोगों से बच जाऐंगे। पैरों में ऊर्जा का प्रवाह बराबर होने से घुटनों और पैरों सम्बन्धी अन्य रोगों की सम्भावना नहीं रहेगी। बच्चा झूठ नहीं बोलता। यदि हम भी सत्य का आचरण करें तो जीवन में निर्भयता आ सकती है। अनैतिकता, मायावृति, छल-कपट, अहं स्वतः समाप्त हो जाता है, जो मानसिक रोगों का

मुख्य कारण है। इन सभी बातों की शिक्षा बच्चे को कहाँ से मिलती है? यदि हम भी प्रकृति के साथ सहज जीवन जीना प्रारम्भ कर दें और शरीर के साथ, अनावश्यक छेड़छाड़ न करें तो हमारा स्वास्थ्य हमारे अनुकूल होगा तथा किसी कारणवश रोग होने की अवस्था, में भी हम पुनः जल्दी स्वस्थ हो सकेंगे। हम स्वयं अपनी प्राथमिकताओं का चयन करें-''स्वस्थ बने या रोगी''

स्वस्थता हेतु जीवन में हल्कापन अनिवार्य

सरलता, लघुता, हल्कापन स्वास्थ्य का प्रथम लक्षण है। अस्वस्थता से पूर्व हमें शरीर में भारीपन का अनुभव होने लगता है। बैचेनी और अटपटा लगने लगता है। जैसे ही शरीर हल्का अनुभव करने लगता है, हम स्वस्थता का अनुभव करने लगते हैं। जब हमारे संस्कारों और वृत्तियों में निष्कपटता आने लगती हैं, हम अपने आपको निर्भय, तनाव मुक्त और हल्का अनुभव करने लगते हैं। भारीपन क्यों, कब और कैसे आता है? उसके समझे बिना तथा उन कारणों से बचे बिना हल्केपन की प्राप्ति कठिन होती है।

हम जो कार्य करते हैं उसका उतना भार नहीं होता, जितना भार होता है उस कार्य की स्मृति अथवा कल्पना का। वर्तमान का क्षण बहुत पवित्र होता है। अतः यदि भूत की स्मृति और भविष्य की कल्पना न की जाये तो मानसिक असंतुलन के दोषों से सहज ही बचा जा सकता है। कहा भी है-''भूत सपना है, भविष्य कल्पना है, और वर्तमान अपना है।'' दु:ख की स्मृति और कल्पना का अनावश्यक चिंतन भी मानसिक भारीपन का प्रमुख कारण होता है। अतः यदि वर्तमान में सहज जीना सीख लें तो हमारी अनेक समस्याओं का समाधान सहज संभव हो जाता है।

सच्चा वैज्ञानिक कौन?

एक ही मिट्टी, पानी, हवा, धूप और परिश्रम के बावजूद पास-पास विकसित होने वाले गन्ने में इतना मिठास और नीम में इतना कड़वापन क्यों? कारण स्पष्ट है, हम अपनी क्षमताओं से पूर्णतया परिचित नहीं है। जिसने उसको समझा, सदुपयोग किया उसने हमारे सामने सम्यक् चिन्तन करने की प्रेरणा अवश्य प्रस्तुत की। आधुनिक स्वास्थ्य वैज्ञानिक शरीर के सूक्ष्मतम भाग का यंत्रों और रासायनिक परीक्षणों द्वारा निरीक्षण और परीक्षण कर शरीर की गतिविधियों को समझने और समझाने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु आत्मा अरूपी है, निराकारी है, जिसको देखना सम्भव नहीं। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, जो उसकी शुद्धावस्था में प्रकट होती हैं। जब आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाती है तो, उसमें सृष्टि की समस्त प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष घटनाएँ दर्पण की भांति प्रतिबिम्बित होने लगती हैं। आत्मा परमात्मा बन जाती है। ऐसी अवस्था को वीतराग अवस्था अथवा केवल ज्ञान की स्थिति कहते हैं। जहाँ सारा अज्ञान दूर हो जाता है, केवल ज्ञान ही शेष रहता है। सम्पूर्ण आत्मानुभूति की अवस्था में आज की भौतिक जानकारी तो होती ही है, परन्तु उससे भी आगे ब्रह्माण्ड के भूत, भविष्य एवं वर्तमान की सूक्ष्मतम एवं सम्पूर्ण जानकारी भी होती है। वे ही वास्तव में सच्चे एवं बड़े वैज्ञानिक होते हैं, और उनका कथन ही वैज्ञानिक होता है, वे सत्य के प्रेरणा स्रोत होते हैं। उनका उपदेश न केवल भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित होता है, अपितु जीवन के परम लक्ष्य तक का मार्ग दर्शन करता है। उसमें नर से नारायण, आत्मा को परमात्मा बनाने की क्षमता होती है। मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य, शांति और समाधि के लिए ऐसे महापुरुषों के निर्देशानुसार विवेक पूर्ण जीवन चर्या आवश्यक होती है। उसके विपरीत आचरण कर शरीर को स्वस्थ रखने की कल्पना शारीरिक रोगों से

भले ही क्षणिक आंशिक राहत दिला दें, अन्ततोगत्वा हानिकारक होती है, भविष्य के लिए कष्टदायक हो सकती है।

क्या स्वास्थ्य हेतु शरीर विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है?

प्रश्न खड़ा होता है कि बिना शरीर विज्ञान की विशेष अथवा पूर्ण जानकारी के क्या स्वस्थ नहीं रहा जा सकता? क्या मात्र साधारण, सरल परन्तु आवश्यक जानकारी, मूल सैद्धान्तिक नियमों का पालन कर हम स्वस्थ जीवन नहीं जी सकते? क्या अनुभवी चिकित्सक एवं दूसरों के रोगों का उपचार करने वाले स्वास्थ्य विशेषज्ञ शरीर की विशेष जानकारी के बावजूद बीमार नहीं होते? जिस प्रकार बिजली का बटन चालू करते ही बल्ब से हमें प्रकाश मिलने लगता है। पंखा चालू हो जाता है अथवा अन्य बिजली के उपकरणों का हम उपयोग कर सकते हैं। बटन चालू करने की प्रक्रिया बहुत ही सरल और सहज होती है, जिसे जनसाधारण आसानी से सीख सकता है। बटन चालू करने से पूर्व बिजली घर से बिजली के उपयोग करने की स्वीकृति नहीं लेनी पड़ती है। बिजली का उपयोग करने वालों को यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि बिजली का आविष्कार किसने किया? कब किया? कैसे किया? उसको यह जानने की भी आवश्यकता नहीं होती कि बिजली का प्रवाह कैसे होता है? मात्र स्विच चालू करने की सरलतम विधि जानने वाले उपलब्ध विद्युत ऊर्जा का लाभ उठाने लग जाते हैं। बटन चालू करने की विधि के साथ बिजली के उपकरण का प्लग से सम्बन्ध जोड़ना, बिजली के नंगे तारों को न छूना, फ्यूज बदलने जैसी सामान्य जानकारी रखने वाला बिजली का अधिकाधिक उपयोग कर सकता है।

मोटर कार चलाने वाले चालक को प्रायः कार के समस्त पुर्जो की विस्तृत जानकारी नहीं होती। मात्र उसे कुछ मुख्य बातों की जानकारी, प्रशिक्षण और सावधानी रखनी पड़ती है। जैसे वाहन के चक्के में हवा का दबाव बराबर रखना, पेट्रोल अथवा काम में आने वाले अन्य ईंधन का ख्याल रखना, गाड़ी की गति का नियन्त्रण, कहाँ पर कितना रखना तथा ब्रेक का उपयोग कहाँ, कब और कैसे करना आदि की सामान्य जानकारी से मोटर कार का उपयोग कर सकता है ठीक उसी प्रकार शारीरिक अवयवों की सम्पूर्ण जानकारी के अभाव में आवश्यक मूलभूत चन्द सिद्धान्तों और नियमों जैसे- जीवन के लिए आवश्यक भोजन, पानी, हवा, धूप का प्रयोग कब, कहाँ और कैसे करना, प्रकृति के अनुकूल दिनचर्या और रात्रिचर्या, व्यायाम, आराम, स्वाध्याय, ध्यान, मौन की साधना कब और कैसे करना तथा सन्तुलन कैसे बनाये रखना और सन्तुलन बिगाड़ने वाली बातों से कैसे बचना आदि का पालन कर कोई भी स्वस्थ जीवन जी सकता है? सारांश यह है कि जनसाधारण को मात्र इतनी जानकारी हो जाए कि शरीर और मन का असन्तुलन क्यों और कैसे बिगड़ता है? शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति क्यों और कैसे कम होती है? उससे कैसे बचा जा सकता है? शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति को कैसे बढ़ाया जा सकता है? शरीर, मन और आत्मा के विकारों को कैसे दूर किया जा सकता है? मात्र इतनी जानकारी रखने वाला और उसके अनुरूप आचरण करने वाला आसानी से स्वस्थ जीवन जी सकता है।

द्वितीय अध्याय

स्वास्थ्य-प्राप्ति में अवरोधक बातें

रोग क्यों?

स्वस्थता के मानदण्ड जानने के पश्चात्, चाहते हुए भी हम स्वस्थ क्यों नहीं होते? अतः उन सभी कारणों की जानकारी आवश्यक है, जो हमें रोगी बनाने में सहायक बनते हैं। रोग होने के अनेक कारण होते है। जैसे पूर्व जन्म के संचित असाता वेदनीय कर्मो का उदय, पैतृक संस्कार और वंशानुगत रोग, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, आस-पास का बाह्य प्रदूषित वातावरण, मौसम का परिवर्तन एवं उसके प्रतिकूल आचरण, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, सामाजिक कुरीतियों का पालन, स्वास्थ्य विरोधी सरकारी नीतियाँ, कानून, सुविधाएँ, प्रोत्साहन, स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाले रुढिवादी धार्मिक अनुष्ठानें का पालन, जीवन निर्वाह हेतु स्वास्थ्य विरोधी व्यावसायिक वातावरण, आर्थिक कठिनाईयाँ, अपव्यय, बदनामी, प्राकृतिक आपदाओं का प्रकोप, असंयम, दुर्व्यसनों का सेवन, अकरणीय पाश्विक वृत्तियाँ, मिलावट एवं रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाईयों से प्रभावित उपलब्ध आहार सामग्री, असाध्य एवं संक्रामक रोगों के प्रति प्रारम्भ में रखी गई उपेक्षावृत्ति, अनावश्यक दवाओं का सेवन तथा शारीरिक परीक्षण, इलैक्ट्रोनिक किरणों (एक्स रे, टी.वी, सोनोग्राफी, कम्प्यूटर, सी.टी. स्केनिंग, मोबाइल फोन एवं अन्य प्रकार की आणविक तरंगों) का दुष्प्रभाव, प्राण ऊर्जा का दुरुपयोग या अपव्यय, आराम, निद्रा, विश्राम का अभाव, क्षमता के प्रतिकूल श्रम करना, मल-मूत्र को रोकना, अति भोजन, अति निद्रा, शरीर में रोग प्रतीकारात्मक शक्ति का क्षीण होना, गलत अथवा अधूरे उपचार तथा दवाओं का दुष्प्रभाव, वृद्धावस्था के कारण इन्द्रियों का शिथिल हो जाना। प्रमाद, आलस्य, अविवेक, अशुभ चिन्तन, आवेग, अज्ञान, असजगता, हिंसक, मायावी, अनैतिक जीवन शैली, जिससे सदैव तनावग्रस्त एवं भयभीत रहने की परिस्थितियाँ बनना आदि रोगों के मुख्य कारण होते हैं। कुछ कारण तो हमारे नियन्त्रण में होते हैं कुछ कारण नहीं। फिर भी हमारी आत्मा में अनन्त शक्ति होने से यदि सजगता और स्वविवेक पूर्ण जीवन शैली अपनायी जावे तो रोग के जो कारण हमारे नियन्त्रण में नहीं हैं, उनके प्रभाव को कम किया जा सकता है। **जीवन में सभी को सदैव सभी प्रकार की अनुकूलताएँ प्रायः नहीं मिलती। प्रतिकूल परिस्थितियों को स्वस्थ चिन्तन, मनन एवं सम्यक् आचरण द्वारा अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, यही स्वास्थ्य का मूल सिद्धान्त और स्वस्थ जीवन की आधारशिला होती है।** हमारा चिन्तन और आचरण जितना-जितना सम्यक् होगा, उतने-उतने हम स्वस्थ होते जायेंगे।

जीवन की गलत प्राथमिकताएँ :-

मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? खाना-पीना, मौज-शौक करना और सो जाना और दूसरे दिन प्रातः उठकर पुनः उन्हीं कार्यो में लग जाना। यह सभी कार्य तो पशु भी करते हैं। ऐसे जीवन जीने वाले मनुष्य और पशु में क्या अन्तर? मानव में चेतना का सर्वाधिक विकास होने के कारण एक विशेषता होती हैं कि वह जानता भी है औ समझता भी है कि वह क्या कर रहा है? क्यों कर रहा है? क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? मानव में ही चिन्तन, मनन की अपूर्व क्षमता, बुद्धि तथा विवेक होता है। जिससे भूत की भूलों का सुधार और

भविष्य के सुखद जीवन की कल्पना एवं सम्यक् पुरुषार्थ कर सकता है। अतः मानव से ही अपनी क्षमताओं के अनुरूप सही उद्देश्य एवं लक्ष्य के प्रति आगे बढ़ने की अपेक्षा रखी जा सकती है। मानव और पशु जीवन में अन्तर तो होना चाहिए। मानव प्राणी मात्र के लिए उपयोगी होते हुए अपने जीवन का सम्पूर्ण विकास कैसे कर सके? यही मानव जीवन की सफलता का सच्चा मापदण्ड है।

जिन्दगी क्षण-प्रतिक्षण बीत रही है। मनुष्य जीवन में हमें अनन्त शक्तियाँ सहज रूप से प्राप्त होती है, परन्तु अज्ञानवश हम उनका सदुपयोग नहीं कर पाते। अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति हम कितने सजग और सक्रिय हैं जिसका प्रत्येक मानव को सम्यक् चिन्तन करना चाहिए।

आभूषण की डिब्बी का तभी महत्त्व होता है, जब तक उसमें बहुमूल्य आभूषण होते हैं। बटुए (पर्स) का मूल्य उसमें रखें पैसों के आधार पर होता है। ठीक उसी प्रकार मानव शरीर का मूल्य तभी तक होता है, जब तक उसमें आत्मा होती है। जिस प्रकार आभूषण से शून्य डिब्बी और रुपयों के बिना बटुए का विशेष मूल्य नहीं होता और जो व्यक्ति आभूषणों और रुपयों से ज्यादा डिब्बी और बटुए को महत्त्व देता है, उसे बुद्धिमान नहीं समझा जाता। समझदार व्यक्ति पर्स और डिब्बी दोनों का ख्याल रखता है, परन्तु सुरक्षा हेतु ज्यादा आभूषणों और रुपयों को महत्त्व देता है तथा उनकी अनुपस्थिति में डिब्बी और बटुए की उपेक्षा करते हुए भी संकोच नहीं करता। उसकी प्राथमिकता आभूषण और रुपयों की होती है। ठीक उसी प्रकार **समझदार ज्ञानी व्यक्ति की सर्वोच्च प्राथमिकता शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-साथ आत्मा को विकारों से मुक्त करने की होती है। अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आत्मा की उपेक्षा नहीं करता। उसको विकारी नहीं बनाता। उसका प्रथम प्रयास तो आत्मा को विकारों से मुक्त बनाने का ही होता है। कभी-कभी आत्मोत्थान हेतु शरीर की उपेक्षा करते हुए संकोच नहीं करता। आध्यात्मिक जीवन जीने वालों का ऐसा ही दृष्टिकोण होता है।**

सही सोच का अभाव :-

सम्यक् चिन्तन के अभाव में कभी-कभी व्यक्ति का सोच, मायावी विज्ञापनों, भीड़, तत्कालिक लाभ, बाह्य चकाचौंध से प्रभावित हो सकता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने लक्ष्य का सही निर्धारण नहीं कर पाता। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपनी क्षमताओं और प्राथमिकताओं से भी प्रायः परिचित नहीं होता। सही जानकारी के अभाव में या आंशिक जानकारी के कारण व्यक्ति कभी-कभी गलत को सही और सही को गलत मानने की भूल कर सकता है। उसकी प्राथमिकताएँ स्वयं के भविष्य के लिए उपयोगी होने के बजाय हानिकारक हो सकती है। फलतः उसका भविष्य तनावग्रस्त, दुःखी अस्वस्थ अथवा संक्षिप्त में कहें तो अन्धकारमय बन जाता है।

वाणी का प्रभाव :-

वाणी के दुरुपयोग से भी जो अव्यवस्था और असंतुलन होता है। उसका प्रारम्भिक प्रभाव मानसिक रोगों पर होता है। वाणी को सुनकर हंसना, मुस्कराना, डाँटना, चेहरे का रूप बदलना उसका द्योतक होता है। परन्तु अधिकांश चिकित्सक और रोगी तथा उनके परिजन आन्तरिक मानसिक रोगों को तो रोग मानते तक नहीं। तब उनके उपचार एवं निवारण के बारे में सोचने का तो प्रश्न ही नहीं होता। परन्तु **दुर्घटना, पैतृक, जन्म जात रोगों को**

छोड़ अधिकांश रोगों का कारण नकारात्मक भावों से प्रारम्भ होता है और जब तक सम्यक् चिन्तन द्वारा उसे बदला नहीं जाता तब तक दीर्घकालीन स्थायी स्वास्थ्य की प्राप्ति संभव नहीं होती। रोग का कारण जब तक बना रहेगा रोग होने की संभावना बनी रहती है।

असंयमित जीवन शैली :-

प्रत्येक व्यक्ति जीवन पर्यन्त स्वस्थ एवं सुखी रहना चाहता है। स्वस्थ रहना जीव की स्वाभाविक सम्पदा है। आत्मा का स्वभाव भी है। कोई भी रोगी बनना नहीं चाहता। परन्तु चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य, शान्ति और समाधि नहीं मिल सकती। स्वस्थ रहने की कामना रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उन सभी कारणों से बचना चाहिए जो उनका स्वास्थ्य बिगाड़ते हैं। हमें मानव जीवन में पर्याप्तियों के रूप में आहार, शरीर, इन्द्रियाँ, श्वास लेने की शक्ति, वाणी के रूप में भाषा और मन ऊर्जा के जो मूल स्रोत प्राप्त हुए हैं, उनका उपयोग करते समय हमें संयम रखना चाहिए। उनकी क्षमताओं का अधिक से अधिक सम्यक् उपयोग करना चाहिए। परन्तु कभी भी अनावश्यक दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। साथ में वर्तमान में उपस्थित उन कारणों को दूर करने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए, जिसके कारण व्यक्ति रोगी अथवा विकारों से ग्रस्त बना हुआ है। सुखी जीवन के लिए सिर्फ शरीर का होना ही काफी नहीं होता, अपितु शरीर का स्वस्थ, नीरोग और बलवान होना भी आवश्यक है। **अनेक व्यक्ति बाह्य रूप से बलिष्ठ, पहलवान जैसे दिखने के बावजूद कभी-कभी असाध्य रोगों से पीड़ित पाए जाते हैं, जबकि इसके विपरीत कभी-कभी बाह्य दृष्टि से दुबले-पतले दिखने वाले कुछ व्यक्ति मोटे-ताजे दिखने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा ज्यादा मनोबली, आत्मबली और स्वस्थ हो सकते हैं।**

अपनी आदतों की दासता के कारण हम अप्राकृतिक जीवन शैली की बुराईयों को जानते, मानते, स्वीकारते हुए भी छोड़ना नहीं चाहते। हमारी असजगता, अविवेक, उदासीनता, निष्क्रियता, स्वच्छन्दता, अनियमितता, अज्ञानता, सम्यक् आचरण के प्रति उपेक्षावृत्ति, हानिकारक प्रवृत्तियों के प्रति लगाव, अनुमोदन या तटस्थता अर्थात् जैसा चलता है चलने दें, यह मनोवृत्ति अस्वस्थता का मुख्य कारण होती है। अतः **स्वस्थ रहने की कामना करने वालों को अपनी जीवन चर्या का निर्वाह करते समय अपनी क्षमताओं का सजगता, स्वविवेक, संयम और सन्तुलन के साथ सम्यक् पालन करना चाहिए।**

शरीर की स्वाभाविक विसर्जन क्रियाओं में अवरोध :-

शारीरिक रोग होने का एक कारण यह भी है कि सहज रूप से शरीर में उत्पन्न होने वाले वेगों को जबरदस्ती या आलस्यवश रोकना, जैसे-मल, मूत्र, छींक, डकार, गुदा की वायु, निद्रा, प्यास, आंसू, वमन, उबासी इत्यादि को रोकना।

जब तक शरीर में विजातीय तत्त्वों के निष्कासन में सहयोगी अंग सशक्त रहते हैं, सही रूप में कार्य करते हैं, रोग होने की संभावना कम रहती है। परन्तु **जब विजातीय तत्त्वों के विसर्जन की क्रिया शिथिल पड़ जाती है या उसमें अवरोध आ जाता है तो शरीर में विकार संग्रहित होने लगते हैं। शरीर की अस्वस्थता का कारण यह विकार**

बन जाता है। परिणाम स्वरूप रक्त प्रवाह और चेतना का प्रवाह बराबर नहीं होता तथा उसका परिणाम होता है-रोग।

तृतीय अध्याय

स्वास्थ्य हेतु शरीर को प्राथमिकता क्यों?

बिना कारण कार्य नहीं होता-

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य सर्वसम्मत वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि बिना कारण कोई कार्य नहीं होता। प्रत्येक कार्य अथवा घटना के पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ न कुछ कारण अवश्य होते हैं। बिना कारण कुछ भी घटित नहीं हो सकता। हमें जो मनुष्य की योनि के साथ में संयोग-वियोग, सुख-दुःख, अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ मिलती हैं, उसके पीछे हमारे पूर्व संचित कर्मो का प्रभाव होता है। यदि अच्छे का फल अच्छा और बुरे का फल बुरा न मिले तो प्रकृति की सारी व्यवस्थाएँ ही डगमगा जाती है।

पुनर्जन्म को न मानने वाले दर्शन मृत्यु के साथ ही जीवन की समाप्ति मानते हैं। परन्तु जीव की विभिन्न योनियाँ और एक ही योनि में जैसे-मानव योनि में प्रत्येक व्यक्ति के विकास, परिस्थितियों, संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, स्वस्थ-रोग का जितना सूक्ष्म एवं तार्किक विश्लेषण कर्म सिद्धान्त में मिलता है, उतना तर्क संगत अन्यत्र नहीं मिलता। जब तक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकती तथा इस लोक की विभिन्न योनियों में अपने कर्मो के अनुसार जीव परिभ्रमण करता रहता है। इसीलिये प्रत्येक आत्म-दर्शन में विश्वास रखने वालों का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही होता है। अतः पूर्व जन्म पर श्रद्धा एवं कर्मो के परिणाम को जानना, समझना जरूरी है। इस जीवन के भूतकाल अथवा पूर्व जन्म में किए गए शुभ या अशुभ कर्मो का परिणाम मिले बिना नहीं रहता। परिणामों के आधार पर उत्पन्न समस्याओं के मूल कारणों का सही पता लगाया जा सकता है। उन्हें समझा जा सकता है। साथ ही भविष्य में सजगता और सद् विवेक पूर्वक जीवन जीते हुए उन कारणों से सहज बचा जा सकता है। जो रोग का कारण होते हैं उन कारणों को दूर करने का सम्यक् पुरुषार्थ किया जा सकता है। यही स्वास्थ्य का राजमार्ग है। अतः आत्मा को समझे बिना तथा उसकी उपेक्षा करने से हम पूर्ण रूप से रोग मुक्त जीवन नहीं जी सकते।

आत्मा को समझे बिना उसका मूल्य और महत्त्व कैसे पता लग सकता है? जीवन में उसकी उपेक्षा होना सम्भव है। आत्मा के विकार, मन,बुद्धि और वाणी को कैसे प्रभावित करते हैं? हमारे स्वास्थ्य को क्यों और कैसे बिगाड़ते हैं? आसानी से समझ में नहीं आ सकते। रोग के कारण बने रहने से पूर्ण स्वास्थ्य की भावना मात्र कल्पना बन कर रह जाती है। जिस प्रकार की जड़ को सींचे बिना, मात्र फूल पत्ते को पानी पिलाने से वृक्ष सुरक्षित नहीं रह सकता, ठीक उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध पवित्र, विकार-मुक्त किए बिना शरीर, मन और मस्तिष्क स्वस्थ नहीं रह सकते। रोग की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा में कर्मो का विकार ही होते हैं। संचित कर्मो के अनुरूप व्यक्ति को शरीर, मन, बुद्धि, परिवार, समाज, क्षेत्र, पद, प्रतिष्ठा और भौतिक साधनों की उपलब्धि होती

है। रोग की अभिव्यक्ति भी पहले भावों अथवा विचारों में होती है। तत्पश्चात् मन में, उसके बाद शरीर के अन्दर एवं अन्त में बाह्य लक्षणों के रूप में प्रकट होती है। व्यक्ति के हाथ में तो मात्र सम्यक् पुरुषार्थ करना ही होता है। परन्तु सभी पुरुषार्थ करने वालों को एक जैसा परिणाम क्यों नहीं मिलता? उसके पीछे पूर्व संचित कर्मो का ही प्रभाव होता है।

दुःख-रोग का मूल-

जीवन में सुख-दुःख आते जाते रहते हैं। दुख के कारण व्यक्ति में चिन्ता, तनाव, निराशा, भय, अधीरता, नकारात्मक सोच, चिड़चिड़ापन, घबराहट आदि संवेदनाओं के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। परिणाम स्वरूप शरीर को ऊर्जा देने वाले चक्र तथा हारमोन्स बनाने वाली अन्तःश्रावी ग्रन्थियों की कार्य-प्रणाली एवं अन्य अवयव बनाने वाली शारीरिक क्रियाएँ अस्त-व्यस्त होने लगती हैं। श्वसन-तंत्र, पाचन-तंत्र, नाड़ी-तंत्र, अस्थि-तंत्र, रक्त परिभ्रमण-तंत्र, विजातीय तत्त्वों के विसर्जन में सहयोगी अंगों की कार्य प्रणाली आदि प्रभावित होने लगती है। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण होने लगती है। नवीन कोशिकाओं का सर्जन घट जाता है। फलतः शरीर में आवश्यक अवयवों का निर्माण बराबर नहीं हो पाता। प्राण ऊर्जा का प्रवाह असन्तुलित होने लगता है, जिससे कुछ अंग आवश्यकता से ज्यादा सक्रिय हो जाते हैं तो इसके विपरीत कुछ अंगों की सक्रियता घटने लग जाती है अथवा वे निष्क्रिय होने लगते हैं। शरीर में सभी अंगों का आपसी तालमेल बिगड़ने लगता है तथा सभी लयबद्ध ढंग से कार्य नहीं करते, यही तो रोग होता है। परन्तु आज के चिकित्सकों के पास दुःख के इन कारणों को दूर करने की कोई दवा औ उपचार नही है। अतः रोग के मूल कारण की उपेक्षा कर व्यक्ति को स्वस्थ रखने अथवा करने का दावा कितना अव्यावहारिक, अपूर्ण और अविश्वसनीय है, जिस पर प्रत्येक स्वास्थ्य प्रेमी का सम्यक् चिन्तन करना चाहिए। चिकित्सा के क्षेत्र में लम्बे चौड़े दावों के बावजूद दुःख जो रोग का मूल है, तनाव, भय, निराशा, घबराहट आदि जो रोग के कारणों के जनक हैं, उनको मांपने, समझने और दूर करने का सर्वमान्य उपाय तक का पता नहीं। ऐसे उपचार का लक्ष्य रोग में राहत दिलाने तक ही सीमित होता है- पूर्ण स्वस्थता का नहीं हो सकता।

दुःख का मूल- राग और द्वेष-

दुःख का कारण है नाशवान वस्तुएँ जिनका निश्चित वियोग होने वाला है, उनके प्रति बन्धन, आकर्षण अथवा राग-भाव। बन्धन मुख्यतः तीन प्रकार का होता है। प्रथम अपने शरीर के प्रति, दूसरा स्नेही परिजन जिन्हें हम अपना समझ रहे है। तीसरा धन, सम्पदा, पद, प्रतिष्ठा, वस्तुएँ जिन्हें हमने स्थायी रूप से अपना मान लिया है। हमारा समस्त प्रयास इन तीनों की अनुकूलताओं को सदैव बनाएँ रखने का होता है। हमारी सदैव यही भावना और कामना रहती है कि हमारा शरीर सदैव स्वस्थ, सुन्दर, शक्तिशाली और रोगमुक्त रहे। परिजनों का वियोग न हो। वे सदैव स्वस्थ रहें तथा धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि हो। हम सदैव यही भावना रखते हैं कि जैसा मै चाहता हूँ वैसा ही हो। जो मैं नहीं चाहता, जो हमारे प्रतिकूल है, वैसा हमारे जीवन में घटित न हो। परन्तु प्रायः जैसा हम चाहते हैं, वैसा हमेशा होता नहीं। जैसा होता है वह हमेशा अच्छा लगता नहीं। जो हमें अच्छा लगता

है, प्रायः सदैव रहता नहीं। ऐसा प्रकृति का सनातन नियम है। अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में रोग, वियोग, वृद्धावस्था और मृत्यु का दु:ख प्रायः आता ही है।

दु:ख का मूल होता है-राग और द्वेष का होना। प्रियजनों के संयोग में सुख का अनुभव करने वाला, उनके वियोग में दु:खी हुए बिना नहीं रह सकता। अनुकूलताओं में हर्षित होने वालों, खुशियाँ मनाने वालों को प्रतिकूलताओं के दु:ख में व्याकुल होना स्वाभाविक होता है। लाभ, मान, प्रतिष्ठा में झूमने वाला, हानि तथा पद, प्रतिष्ठा के चले जाने पर परेशान हुए बिना नहीं रह सकता। वियोग, प्रतिकूलता और हानि में जो निमित्त बनेंगे, उनके प्रति समभाव रखने वाला, वियोग एवं प्रतिकूलताओं को सहजता से सहन करने के कारण अपेक्षाकृत कम दु:खी होगा। दु:ख के कारण स्वयं में खोजेगा।

राग और द्वेष न करना, समभाव में रहना, व्यक्ति के स्वयं के नियन्त्रण में होता है। अतः जो समभाव में रहता है वह अपेक्षाकृत कम भयभीत, तनावग्रस्त, अधीर, निराश अथवा रोग-ग्रस्त होगा अर्थात् स्वस्थ जीवन जीने वाला होगा। जितनी ज्यादा समता उतनी ज्यादा शान्ति और समाधि का अनुभव करेगा। अतः अस्वस्थता का एक मुख्य कारण हमारा राग, द्वेष के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण का होना है। जिस प्रकार रंगीन चश्मा पहने व्यक्ति को सभी पदार्थ उसी रंग के दिखाई देते हैं, वास्तविक रंग में नहीं दिखाई देते, ठीक उसी प्रकार जब तक राग-द्वेष का भाव रहेगा तब तक व्यक्ति सभी परिस्थितियों, वातावरण रिश्तों, अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का आंकलन सही ढंग से नहीं कर सकता है। जिसका परिणाम होता है- कभी-कभी बिना कारण दु:ख, चिन्ता, तनाव, भय आदि। अतः स्वस्थ जीवन जीने हेतु हमें समता, सन्तुलन का पालन करना होगा तथा विषमता और असन्तुलन पैदा करने वाले कारणों से यथा संभव बचना होगा। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तो प्रायः जन-साधारण के लिये संभव हो सकती है, परन्तु संतोष के अभाव में तृष्णा के कारण सभी कामनाओं की पूर्ति लगभग असम्भव होती है। कामनाओं की पूर्ति न होना भी दु:ख का दूसरा मूल कारण होता है। अतः हम यथासंभव अनावश्यक कामनाओं से बचें। सम्यक् पुरुषार्थ से जो कुछ उपलब्ध है, उसका सदुपयोग कर प्रसन्न रहें।

शक्ति का स्रोत : चेतना का विकास-

चेतना के दो स्तर होते हैं-सुप्त और जागृत। जब अन्तर्मन और ज्ञान केन्द्र सुसुप्त होते हैं तब हम सब कुछ होकर भी कुछ नहीं होते हैं। परन्तु जब अन्तर्मन और ज्ञान केन्द्र जागृत होते हैं तब हमारी प्रतिभा, शक्ति और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है और जीवन की सार्थकता मन की शांति और तनाव मुक्ति फलित होती है। ये ही तो अच्छे स्वास्थ्य के मापदण्ड होते हैं।

चेतना द्वारा मानव मन में निहित विसर्जन शक्ति को नियन्त्रित कर सर्जन शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। जब तक व्यक्ति चेतना द्वारा अपने शरीर की शुद्धि व शक्ति के वास्तविक स्वरूप को पुनर्जीवित नहीं करता, तब तक वह भय, अशान्ति और तनाव जैसे रोग के मूल कारणों से अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सकता। चेतन और

अचेतन के बीच की भेद रेखा का नाम चेतना है। मनुष्य और अन्य प्राणियों में भी भेद रेखा होती है, उसका कारण होता है, चेतना के विकास का स्तर। चेतना के विकास में कर्मों की भूमिका होती है। जितने-जितने कर्मों के बन्धन कम होते हैं उतना-उतना चेतना का विकास भी होता जाता है।

अस्तित्व और जीवन के बोध हेतु विवेक आवश्यक-

हमारे जीवन में दो स्थितियाँ है- प्रथम हमारा अस्तित्व अर्थात् आत्मा की उपस्थिति और दूसरा है जीवन। प्राय: हम आत्मा को भूल सारे जीवन को जानने और समझने का प्रयास करते हैं। जन्म और मृत्यु के कारणों को न तो जानते हैं और न अनेकान्त दृष्टि से उसको समझने और मानने के लिए अपने पूर्वाग्रहों के कारण मानसिक रूप से तैयार भी होते हैं। आहार, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन आदि पर्याप्तियों के रूप में जो ऊर्जा के स्रोत मिले हैं, वे कैसे कार्य करते हैं? क्या आत्मा आहार करती हैं? आत्मा आहार नहीं करती, तो क्या शरीर आहार करता है? शरीर भी आहार नहीं करता, यदि ऐसा होता तो मृत्यु के बाद भी शरीर आहार करता। परन्तु जब आत्मा और शरीर के बीच कोई सम्बन्ध होता है तब ही ऊर्जा के सारे स्रोत-पर्याप्तियाँ कार्य कर सकते हैं।

आत्मा नहीं बोलती। शरीर भी नहीं बोलता। बोलता है दोनों के बीच का सम्बन्ध। सम्बन्ध है तभी तक जीवन की सारी वृत्तियाँ होती है। शरीर ओर अस्तित्व की भिन्नता का बोध ही विवेक होता है। विवेक से हम जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, सुसुप्त शक्ति कोई कार्य नहीं करती, बिल्कुल निष्क्रिय होती है। शक्ति का जागृत होना एक बात है और उसका सही दिशा में प्रवाहित होना दूसरी बात। लक्ष्य और स्वास्थ्य के अनुरूप अथवा उसके विपरीत यह हमारे स्वविवेक पर ही निर्भर करता है परन्तु जिस आलम्बन से मन शांत हो, मन की पवित्रता में वृद्धि हो और सहजता से हम अपने अच्छे स्वास्थ्य के लक्ष्य को शीघ्रता से प्राप्त कर सकें, उसी पद्धति को अपनाया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, ग्रहण करने की क्षमता, भावना, शरीर की संरचना और सामर्थ्य, परिस्थितियाँ आदि अलग-अलग होते हैं, जिनका चयन स्वविवेक से ही किया जा सकता है।

स्वास्थ्य हेतु समग्र दृष्टिकोण आवश्यक-

सृष्टि में दो तत्त्व मुख्य होते हैं। पहला जीव यानी चेतना अथा आत्मा तथा दूसरा अजीव यानी जड़। जो चेतना-युक्त होता है, प्राणवान होता है- उसको चेतन अथवा जीव और जो चेतना अथवा प्राणों से शून्य होता है वह अजीव, अचेतन, जड़ आदि नामों से पहचाना जाता है। जीव कभी अजीव नहीं हो सकता और अजीव कभी जीव नहीं हो सकता। जीव अविनाशी होता है, मात्र उसका स्वरूप बदलता है, जबकि जिसका नाश होता है, वह जड़ अथवा अजीव ही होता है। आत्मा चेतना-युक्त है, अजर-अमर होती है। परन्तु शरीर का एक दिन अन्त होता है। शरीर का चेतन-आत्मा के साथ संयोग ही जीवन है और वियोग मृत्यु है। मृत्यु के पश्चात् शरीर, मन और इन्द्रियों की भांति आत्मा का अन्त नहीं होता। जिस प्रकार पुरान कपड़ा छोड़ कर नया कपड़ा पहना जाता है, ठीक उसी प्रकार भी जब तक उसके साथ उस योनि की आयु की सत्ता रहती है, तब तक आत्म मानव शरीर में रहती है

उसके पश्चात् पुराना शरीर छोड़कर अन्य योनियों में कर्मों की स्थिति के अनुसार नवीन शरीर धारण कर लेती है। जन्म और मृत्यु के द्वारा केवल शरीर बदला जाता है, आत्मा का कभी अन्त नहीं होता।

चन्द दिनों के लिए जब कभी हम बाहर प्रवास पर जाते हैं, तब जाने से पूर्व हम अपनी यात्रा और प्रवास हेतु आवश्यकताओं का पूर्ण सजगता से ख्याल रखते हैं। सभी व्यवस्थाएँ करते हैं ताकि हमारी यात्रा और प्रवास सुखद हो, परन्तु कितना आश्चर्य कि मृत्यु के पश्चात् अपने स्वयं के जीव की विभिन्न योनियों में यात्रा और प्रवास को सुखदायी बनाने की तरफ प्रायः अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान क्यों नहीं जाता?

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध-

जैसा कि बतलाया गया है कि आत्मा और शरीर अलग-अलग है। जब तक दोनों साथ-साथ में होते हैं, तभी तक स्वास्थ्य की समस्या होती है। दोनों के अलग होते ही शरीर की सारी गतिविधियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। शरीर की समस्त गतिविधियों के संचालन करने वाली चेतना (प्राण) और प्राण ऊर्जा भी दोनों से अलग होती है, जिसका निर्माण आत्मा और शरीर के सहयोग से होता है। बिना आत्मा अथवा शरीर प्राण और प्राण ऊर्जा का अस्तित्व नहीं होता। प्राण और प्राण ऊर्जा को भी प्रायः जनसाधारण एक ही समझते हैं, परन्तु दोनों अलग-अलग होते हैं। ऊर्जा जो जड़ है, जबकि प्राण में चेतना होती है। गुब्बारे में हवा भरने से उसमें प्राण नहीं आ जाते और न हवा निकालने से गुब्बारे के प्राण चले जाते हैं। ऊर्जा शरीर में बाहर से भीतर आती है या शरीर में श्वसन की प्रक्रिया से बनती है। जबकि प्राण शरीर में जन्म से विद्यमान होता है। प्राण अपने आप में शाश्वत होता है, जबकि प्राण ऊर्जा को श्वास आलम्बन आवश्यक होता है। अतः प्राण कहें या चेतना , शरीर में आत्मा के ही अंश होते है तथा आत्मा शरीर में जिस शक्ति से निश्चित आयुष्य तक ठहरी हुई रहती है, उस शक्ति को प्राण ऊर्जा कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए जैसे कोई व्यक्ति मोटर कार चला रहा है तो कार की तुलना तो शरीर से की जा सकती है और जो पेट्रोल के रूप में ईंधन रूपी ऊर्जा इंजिन को बराबर मिलती रहती है उसकी तुलना प्राण ऊर्जा से। जो कार चालक है, उसकी तुलना आत्मा से की जा सकती है। अर्थात् बिना चालक और पेट्रोल के कार नहीं चल सकती। ठीक उसी प्रकार बिना प्राण (आत्मा) और प्राण ऊर्जा के जीवन रूपी गाड़ी नहीं चल सकती। जिसमें प्राण होता है, वही प्राणवन्त होता है। जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो, प्रायः हम यही कहते हैं कि व्यक्ति के प्राण निकल गये। यह नहीं कहते कि प्राण ऊर्जा निकल गई। प्राण की उपस्थिति में ही जीव प्राणी कहलाता है। प्राण हमारी आत्मा और स्थूल शरीर के बीच सेतु का कार्य करता है। आत्मा और शरीर का सारा संबंध प्राण के द्वारा ही होता हैं।

मानव जीवन में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोचछ्वास, भाषा और मन में ऊर्जा के स्रोत माँ के गर्भ में आते ही मिल जाते हैं। आयुष्य प्राण के रूप में आत्मा के साथ किसी योनि में सीमित अवधि में रहने की ऊर्जा प्राप्त होती है। श्वसन उस ऊर्जा के प्रवाह को संचालित और नियन्त्रिण करता है। जिस प्रकार पेट्रोल समाप्त होते ही कार रूक जाती है, ठीक उसी प्रकार आयुष्य प्राण के समाप्त होते ही जीवन का अन्त हो जाता है। जब तक आयुष्य प्राण रहता है तब तक आँख, नाक, कान, मुँह, स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियाँ और मन तथा वाणी भी अपनी-अपनी

प्राण ऊर्जाओं के अनुसार शरीर की गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों के संचालन में सहयोग देते हैं। जिस प्रकार बिजली से प्रकाश, गर्मी, वाहन आदि उपकरणों के माध्यम से अलग-अलग ऊर्जाएँ निर्मित होती है, ठीक उसी प्रकार आयुष्य बल प्राण और श्वसन प्राण के सहयोग से आँख में देखने, कान में सुनने, नाक में सुगन्ध लेने, जीभ में बोलने, मुँह में आहार करने, शरीर में स्पर्श ज्ञान की ऊर्जा उत्पन्न होती है। यदि हमारी कोई इन्द्रिय अथवा मन की प्राण ऊर्जा क्षीण हो जाती है तो व्यक्ति की वह इन्द्रिय अथवा मन निष्क्रिय हो जाता है। बाकी सभी इन्द्रियाँ अपना कार्य बराबर करती रहती है, परन्तु आयुष्य प्राण के बिना जीवन एक क्षण भी नहीं चल सकता।

स्वास्थ्य हेतु शरीर, मन और आत्मा का तालमेल जरूरी-

आत्मा अथवा उस चैतन्य के प्रति सजगता यानी आरोग्य के प्रति सजगता और उसका विस्मरण अर्थात् रोगों का निमन्त्रण। चैतन्य का मतलब आन्तरिक सजगता। यह वह चिकित्सक है जो सभी में उपस्थित हैं हमारी सारी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का संचालन कर्त्ता यही तत्त्व है। हम जो आहार करते हैं उसका सप्त धातुओं में परिवर्तन इसी चैतन्य शक्ति द्वारा संपादित होता है। सच्चा चिकित्सक तो चैतन्य ही है। अतः अन्तः प्रेरणा की उपेक्षा न करें। चैतन्य को विकारों से मुक्त करें।

शारीरिक ऊर्जा मिलती है भोजन, पानी, हवा, सूर्य का प्रकाश, व्यायाम, आराम तथा इनसे सम्बन्धित अन्य स्वास्थ्यवर्धक साधनों से। मानसिक ऊर्जा का संग्रह होता है मन कि स्थिरता से, अर्थात् मौन, एकाग्रता एवं ध्यान से। आत्मिक ऊर्जा मिलती है अशुभ कर्मों की निर्जरा से। इन सभी के लिए आवश्यक होता है सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् आचरण और सम्यक् तप। आज बुद्धि, तर्क एवं ज्ञान के क्षेत्र में काफी विकास हुआ है, परन्तु उसका प्रयोग अधिकांश तया भौतिक अथवा जो नाशवान है उसी के लिए हो रहा है। उसमें स्वयं की आत्मा के विकास की शक्ति नहीं। आत्मा की उपेक्षा करने वाला ज्ञान, बुद्धि, विवेक सम्यक् नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी प्रकार हमारी सोच और दृष्टिकोण काफी व्यापक हुई है, परन्तु उसमें आत्म दृष्टि न होने से उस दर्शन को सम्यक् दर्शन नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति आचरण और पुरुषार्थ तो करता ही है परन्तु उसका पुरुषार्थ उसकी क्षमता एवं प्राथमिकतानुसार न होने से सम्यक् पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता। जब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र अथवा आचरण सम्यक् और मानव जीवन के सही लक्ष्य के अनुरूप नहीं होगा, हमारा जीवन स्थायी रूप से स्वस्थ, सुखी और सफल नहीं हो सकता।

स्वस्थ जीवन जीने के लिए शरीर, मन और आत्मा, तीनों की स्वस्थता आवश्यक होती है। तीनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। तीनों के विकारों को दूर कर तथा सन्तुलित रख आपसी तालमेल द्वारा ही स्थायी स्वास्थ्य को जीया जा सकता है। अतः स्वास्थ्य की चर्चा करते समय जहाँ एक-तरफ हमें यह समझना आवश्यक है कि शरीर, मन और आत्म का सम्बन्ध क्या है? किसका कितना महत्त्व है? दूसरी तरफ जीवन की मूलभूत आवश्यक ऊर्जा स्रोतों का सम्यक् उपयोग करना होता है तथा दुरुपयोग अथवा अपव्यय रोकना पड़ता है।

आत्म-शुद्धि जीवन की सर्वोच्च आवश्यकता- परन्तु आज जीवन शैली का निर्धारण करते समय तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में परामर्श देते समय प्रायः अधिकांश चिकित्सा पद्धतियों और चिकित्सकों का सोच मात्र

शरीर तक ही सीमित होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारी गतिविधियों के संचालन में शरीर की प्रमुख भूमिका होती है। सभी कार्य और जीवन, शरीर के अस्तित्व के बिना असम्भव होते हैं। शरीर की अनुपस्थिति में, मन, बुद्धि और वाणी का भी अस्तित्व नहीं होता। फिर भी आत्मा की उपेक्षा कर मात्र शरीर का ख्याल करने का मतलब कार में पेट्रोल डाल, चालक को भूखा रखने के समान बुद्धिहीनता ही समझना चाहिए। ऐसी कार में निर्विध्न यात्रा सम्भव नहीं हो सकती। अतः जीवन-यापन करते समय हम ऐसी प्रवृत्तियों से यथा-सम्भव बचे, जिससे आत्मा अपवित्र और विकारग्रस्त बनती हो। आत्मा को शुद्ध पवित्र एवं विकारों से मुक्त रखना हमारे जीवन की सर्वोच्य प्राथमिकता होनी चाहिए। उसका एक मात्र उपाय है- अशुभ कर्मों के बन्धनों से मुक्त जीवनचर्या जीना। आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, आत्मोत्थान की नियमित समीक्षा करना। अध्यात्म योगी ऐसा ही जीवन जीने से अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ होते हैं। प्रतिकूलताएँ, वियोग, अभाव परीषह, कष्ट, दुःख आदि परिस्थितियों में भी मस्त एवं प्रसन्नचित रहते हैं। यही सुखी एवं स्वस्थ जीवन की सच्ची आधारशीला है तथा ऐसी सोच ही स्वास्थ्य का सच्चा सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् दृष्टिकोण होता है।

आत्मा की उपेक्षा अनुचित-

किसी तालाब को खाली करने के लिए आवश्यक है कि तालाब में पहले आते हुए पानी को रोका जाए। उसके पश्चात् तालाब में जो पानी है, उसको पम्प या अन्य विधि द्वारा खाली करना अथवा पानी को सुखाना। ठीक उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध, पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है कि मानव जीवन में ऐसी प्रवृत्तियों से यथा-सम्भव बचें, जो अशुभ कर्मो के बन्ध का हेतु बन आत्मा को कर्मो से विकारी बनाती है। साथ ही साथ आत्मा पर पहले से जो कर्मो का आवरण है, उसको दूर करने के लिए अनुभवी, निस्पृही, समत्व की साधना में लीन आध्यात्मिक साधकों के मार्गदर्शन में सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए तथा आत्मा को परमात्मा बनाने का लक्ष्य सार्थक करना चाहिए। जब तक कर्जा नहीं उतरता व्यापारी ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार कर्मो को दूर किये बिना, आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं बन सकती। ऐसी साधना मनुष्य योनि में ही सम्भव होती है। महावीर के दर्शन में गुणस्थान स्वरूप के आधार पर आत्मा के विकास की चौदह क्रमिक स्थितियों का विस्तृत विवेचन मिलता है, जिसका सम्यक् आचरण आवश्यक होता है।

मुक्त आत्मा ही परमात्मा स्वरूप होती है। यही स्थायी सम्पूर्ण स्वास्थ्य की अवस्था होती है। आत्म-साधना के लिए शरीर का स्वस्थ होना भी आवश्यक है। अतः पुस्तक में शरीर को स्वस्थ रखने हेतु ऐसे अहिंसक उपायों की ही विस्तृत चर्चा की गई, जिससे आत्मा विकारी न बने।

स्वास्थ्य हेतु शरीर को प्राथमिकता क्यों?

स्वस्थ जीवन जीने के लिए शरीर को महत्त्व देने का प्रथम कारण तो यह है कि रोग से पड़ने वाले प्रभावों का निरीक्षण, परीक्षण, अभिव्यक्ति एवं कष्ट का अनुभव शरीर से ही होता है। अतः जनसाधारण की प्राथमिकता भी पहले शरीर को रोग-मुक्त, कष्ट-मुक्त करने की होती है। दूसरी बात आज उपचार के नाम पर जितने भी साधन उपलब्ध हैं और जो प्रचलन में हैं उनका सम्बन्ध प्रायः भौतिक पदार्थो से ही होता है। भौतिक पदार्थ जड़

शरीर को ही प्रभावित कर सकते हैं, विज्ञान का अत्यधिक विकास हो जाने के बावजूद मानव आज तक भौतिक पदार्थो से शरीर में बनने वाले किसी भी अवयव का निर्माण नहीं कर सका। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में चेतना के अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सका, जिनका तीर्थंकरों एवं केवल ज्ञानियों ने अपने ज्ञान द्वारा विस्तृत विवेचन किया है। जो आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए शोध का विषय है। मानव ने आज अधिकांश विकास, खोज और उपलब्धियाँ भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही अर्जित की है। मानव जड़ पदार्थो का निर्माण ही अपनी इच्छानुसार कर सकता है। चेतन तत्त्वों का निर्माण या नियन्त्रण एकरूपता के आधार पर अपनी इच्छानुसार उससे सम्भव नहीं हो सका। भले ही आज के वैज्ञानिक टेस्ट टयूब बच्चों के जन्म के दावों का बहुत प्रचार करते हों। अतः आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों का लाभ जड़ शरीर को ही मिल सकता है। अतः आधुनिक युग में स्वास्थ्य की समस्त कल्पना और सोच मात्र शरीर तक ही सीमित होती है। कोई भी स्वास्थ्य विशेषज्ञ ज्योतिष एवं हस्त रेखा विशेषज्ञों की भांति मनुष्य जीवन के भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं और आयुष्य की भविष्यवाणी नहीं कर सकता। आत्मा को विकार-मुक्त करने का मार्ग आध्यात्मिक साधना के रूप में पहचाना जाता है। आत्मा अरूपी है तथा उस पर पड़ने वाले प्रभाव अनुभूति का विषय होने है, जो ज्ञान के क्षयोपशम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होता है। उसको आज के वैज्ञानिक मापदण्डों के अनुसार न तो भौतिक यंत्रों से सही मांपा जा सकता है, न दिखाया जा सकता है और न उन अनुभूत परीक्षणों के परिणामों का संकलन ही सम्भव होता है। अनुभूति और परिणामों की विविधता के कारण रोगोपचार के लिए निश्चित प्रक्रिया एवं विधि प्रस्तावित करना भी सम्भव नहीं हो सकता।

मन, वाणी, भावों का अस्तित्व भी प्रत्यक्ष नहीं दिखाया जा सकता। मन और वाणी का योग भी शरीर के अस्तित्व के बिना असम्भव होता है। मन और वाणी के निर्माण हेतु जो पुदगलों की आवश्यकता होती है, उसका आकर्षण भी शरीर के द्वारा ही होता है। हमारे सामने प्रत्यक्ष अस्तित्व तो शरीर का ही होता है। शरीर का हमारी चेतना से इतना गहरा सम्बन्ध होता है कि शरीर के अणु-अणु में चेतना व्याप्त होती है। चेतना के बिना शरीर की प्रवृत्तियाँ असम्भव होती है और शरीर के बिना चेतना की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती। अतः अभिव्यक्ति का सबसे मुख्य साधन शरीर ही होता है। परिणामस्वरूप जो आदेश हम शरीर को देते हैं, वह मात्र शरीर को ही नहीं अपितु वे निर्देश हमारी चेतना उस निर्देश को स्वीकार करती है तथा उसके अनुरूप शरीर को प्रवृत्ति करने हेतु प्रेरित करती है।

इस प्रकार हमारे समस्त क्रियाकलाप, प्रवृत्तियाँ बाह्य रूप से शरीर पर ही आश्रित होते हैं तथा शरीर के अस्तित्व में आने के बाद ही प्रारम्भ होते हैं। शरीर आत्मा के वाहन का कार्य करता है। खराब वाहन से जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। शरीर मोटर कार की भाँति मानव द्वारा निर्मित यंत्र नहीं है, जिसके पुर्जे आसानी से बदले जा सके, क्योंकि भौतिक साधनों द्वारा शरीर को खराब होने के पश्चात् छोड़ना ही पड़ता है। अतः जब तक जीवन है, शरीर की सुरक्षा और स्वस्थता आवश्यक होती है, जिससे जीवन यात्रा को निर्विघ्न चलाते हुये सही लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। अतः उपचार की प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों का आधार शरीर तक ही सीमित होता है और शरीर से ही मन, वाणी, भावों के माध्यम से ही आत्मा को प्रभावित किया जाता है।

यद्यपि स्वास्थ्य प्राप्ति का सही क्रम तो आत्मा से शरीर ही होता है। अतः प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों और आध्यात्मिक साधना के समन्वय से ही हम स्थायी स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। जब तक जीवन है और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती, शरीर और आत्मा में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कुछ प्रमुख सिद्धान्त

प्रकृति से प्रभावित मानव जीवन–

चेतनाशील प्राणी सदैव संतुलन बनाये रखने की चेष्टा करते है। ब्रह्माण्ड में उपस्थित सभी ग्रह नक्षत्र एवं अन्य ऊर्जाओं से चेतनाशील प्राणी का सीधा संबंध होता है। जब व्यक्ति जन्म लेकर प्रथम स्वतंत्र श्वास लेता है, उस समय उस दिन एवं उस स्थान पर सौर मण्डल से कैसी तरंगे बालक तक पहुँचती है, उसका उस बालक के भविष्य से गहरा संबंध होता है अथवा यों कहिये कि व्यक्ति के जैसे कर्म होते हैं, उसी के अनुरूप उन ग्रह नक्षत्रों के तरंगों आदि का प्रभाव बालक के जन्म समय की स्थिति बनाता है।

ब्रह्माण्ड में सभी ग्रह नक्षत्र घूमते हुये अपनी तरंगे निरन्तर फेंकते रहते हैं। जिनका हमारे स्वास्थ्य, वातावरण आकस्मिक घटना से गहरा संबंध होता है। युद्ध, राष्ट्रीय संकट, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से फैलने वाले रोग, छूत की बीमारियाँ आदि समस्याएँ आज भी रहस्यमय बनी हुई हैं।

मनुष्य चाहे अथवा नहीं चाहे, इस विशाल ब्रह्माण्ड में उसे असंख्य जीवों तथा पदार्थों के बीच जीना पड़ता है। व्यक्ति में होने वाले प्रतिक्षण बदलाव तथा उसके द्वारा होने वाली गतिविधियों का सम्बन्ध न केवल स्वयं की आत्म स्थिति पर ही निर्भर करता है, अपितु सृष्टि के सनातन नियमों और कानूनों द्वारा प्रभावित होता है।

प्रकृति का संचालन निश्चित नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर होता हैं। प्रकृति के कानून सनातन होते हैं। किसी की दुआ, इच्छा, कामना अथवा अभिशाप उन्हें बदल नहीं सकते। इसी कारण सूर्योदय का समय प्रत्येक स्थान पर पूर्व निश्चित होता है। वहाँ मानव की मनमानी नहीं चलती। प्रत्येक प्राणी ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप होता है। अतः जो घटनाएँ ब्रह्माण्ड में घटित होती है, उसका प्रभाव प्राणी पर भी पड़ता है। जो निर्माण, विनाश, संचालन और नियन्त्रण के सिद्धान्त ब्रह्माण्ड पर लागू होते हैं, प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से मानव पर भी लागू होते हैं।

व्यक्ति का स्वास्थ्य न केवल उसकी व्यक्तिगत जीवनशैली पर ही निर्भर करता है, अपितु उन सभी ऊर्जाओं से भी प्रभावित होता है, जो उसके चारों तरफ कार्य करती हैं। प्रकृति के साथ अनावश्यक छेड़–छाड़ करने, प्राकृतिक साधनों का अधिकतम दोहन करने से प्रकृति का असन्तुलन बढ़ता है। इसी प्रकार जब मानव की जीवनशैली अप्राकृतिक हो जाती है तो, शारीरिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। रोग प्रतिरोधक शक्ति कम होने लगती है और हम रोगी बनने लगते हैं। अतः उन सनातन सिद्धान्तों को जानना और समझना आवश्यक है, जो प्राणी जगत पर समान रूप से लागू होते हैं। ऐसे कुछ सरल सिद्धान्तों की सामान्य संक्षिप्त जानकारी मात्र ही पुस्तक में दी जा रही है।

चतुर्थ अध्याय

पंच महाभूत का सिद्धान्त

भारतीय प्राचीन चिकित्सा पद्धति के अनुसार संसार के सभी चल-अचल पदार्थों की संरचना में आकाश, वायु, अग्नि, पानी और मिट्टी अर्थात् पृथ्वी आदि पंच महाभूत तत्त्वों की अहं भूमिका होती है। तुलसीदास जी ने भी कहा है-''क्षिति जल पावक गगन समीरा पंच रचित यह उद्यम शरीरा।'' उनकी इस मान्यतानुसार शरीर के निर्माण, संचालन, नियन्त्रण का प्रमुख आधार भी ये पंच महाभूत होते हैं। पंच तत्त्वों के सहयोग से ही अधिकांश गतिविधियाँ होती है। आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, ज्योतिष एवं वास्तु शास्त्र आदि में शारीरिक रोगों का एक प्रमुख कारण इन पांच तत्त्वों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कारणों से असंतुलन माना गया है।

प्रत्येक व्यक्ति में इन पांचों तत्त्वों का अलग-अलग अनुपात होता है। किसी में कोई तत्त्व अधिक होता है तो, किसी अन्य में दूसरा तत्त्व अधिक होता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार समस्त ग्रहों का प्रभाव व्यक्ति में पंच तत्त्वों की भिन्नता के अनुसार अलग-अलग होता है। इसी कारण दो जुड़वा भाई अथवा बहनों का स्वभाव, चरित्र और जीवन एक जैसा नहीं होता।

शरीर में पंच तत्त्व का प्रभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के अनुसार बदलता रहता है। हमेशा एक जैसा नहीं रहता। कभी कोई तत्त्व प्रभावी होता है तो थोड़े समय पश्चात् अन्य तत्त्व। प्रत्येक तत्त्व के तरंगों की गति, उनके स्वाद, सुगन्ध, स्पर्श आदि की संवेदनाएँ और अभिव्यक्ति अलग-अलग होती हैं। वैसे प्रत्येक तत्त्व का संबंध सारे शरीर, मन और मस्तिष्क से होता है। फिर भी वे शरीर की विभिन्न क्रियाओं, अंगों, अवयवों, संवेदनाओं को अलग-अलग ढंग से प्रभावित करते हैं।

मनुष्य शरीर के प्रत्येक भाग में ये पाँचों तत्त्व होते हैं। फिर भी अलग-अलग में इन पाँचों तत्त्वों का अनुपात अलग-अलग होता है। उसी के अनुरूप प्रत्येक अंग अवयव अलग-अलग, अपना-अपना कार्य करते हैं। अपनी-अपनी जिम्मेदारियाँ निभाते हुए कुछ स्वाभाविक तो कुछ व्यक्ति की इच्छानुसार प्रवृत्ति करने में सहयोग करते हैं। शरीर में इन पंच तत्त्वों के अनुरूप अवयव बनते हैं और अन्य गतिविधियाँ होती है। पंच तत्त्वों के आवश्यक अनुपात के असंतुलन से रोग और संतुलन से आरोग्य की प्राप्ति होती है।

पृथ्वी तत्त्व- पृथ्वी ठोस होती है। अतः शरीर में जो ठोस पदार्थ होते हैं, वे पृथ्वी तत्त्व से अधिक प्रभावित होते हैं। जैसे हड्डियाँ, मांस-पेशियाँ, त्वचा, नाखून, बाल इत्यादि। पांचों तत्त्वों में पृथ्वी तत्त्व सबसे भारी होता है। पृथ्वी सभी को आधार देती है। शरीर में पैर उठते-बैठते, चलते-फिरते प्रायः शरीर को आश्रय देते हैं। शरीर का भार वहन करते हैं। पगथली से लेकर गुदा तक पृथ्वी तत्त्व शरीर में अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय होता है। अतः पैर सम्बन्धी रोगों में प्रायः पृथ्वी तत्त्व के असन्तुलन की संभावनाएँ अधिक रहती है। साथ ही पृथ्वी तत्त्व की कमी से शरीर में दुर्बलता, कमजोरी, झुरियाँ पड़ना आदि हो जाते हैं, परन्तु इसके बढ़ने से मोटापा हो जाता है।

पृथ्वी तत्त्व के असंतुलन से शरीर में जड़ता बढ़ती है। किसी कार्य में एकाग्रता नहीं रहती तथा निर्णय लेने की क्षमता कम विकसित होती है। पृथ्वी तत्त्व घ्राणेन्द्रिय के प्रति अधिक संवेदनशील होता है। जिनकी घ्राणेन्द्रिय सक्रिय होती है, उनमें पृथ्वी तत्त्व का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक होता है। मन में दया, कोमलता का भाव, जोखिम उठाने की क्षमता, मस्तिष्क में भारीपन आदि का पृथ्वी तत्त्व से संबंध होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा आहार में सुधार और मिट्टी के उपचार द्वारा पृथ्वी तत्त्व के असंतुलन को दूर किया जाता है।

जल तत्त्व- जल तत्त्व पृथ्वी तत्त्व से हल्का और तरल होता है। अतः धरती पर जल रहता है। पृथ्वी ही उसका आधार होती है। उसका बहाव सदैव नीचे की तरफ होता है। शरीर में गुदा से नाभि तक के भाग में जल तत्त्व की अधिकता होती है। शरीर में जितने तरल पदार्थ होते हैं, जैसे- रक्त, वीर्य, लासिका, मल, मूत्र, कफ, थूक, पसीना, मज्जा आदि का संबंध जल तत्त्व से अधिक होता है।

जैसे तत्त्व की कमी से शरीर में शुष्कता, त्वचा संबंधी रोग, बालों का समय से पूर्व सफेद होना, प्यास अधिक लगना जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जबकि जल तत्त्व की अधिकता से कफ का बढ़ना, पसीना ज्यादा आना, पेशाब अधिक लगना आदि स्थितियाँ बनती है। शरीर में जल तत्त्व की अधिकता वाले अधिक भावुक और आसक्ति रखने वाले होते हैं। आलस्य और निद्रा की अधिकता रहती है एवं कठिन कार्य करने में अपनी मानसिकता देरी से बना पाते हैं।

जल तत्त्व के असंतुलन से व्यक्ति में आलस्य बढ़ने लगता है। कठोर, परिश्रम वाले कार्यो के करने में कठिनाई अनुभव होती है। स्वभाव में रूखापन होने लगता है। गहरी निद्रा नहीं आती। बात-बात में आवेग आने लगता हैं। जल तत्त्व की अधिकता वाले रसनेन्द्रिय के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। खाने-पीने की चीजों के बारे में जल्दी प्रतिक्रिया करते हैं। शुद्ध जल के सेवन, सब्जियों, फलों के रस और अन्य तरल पदार्थो के सेवन से शरीर में जल तत्त्व की पूर्ति होती है।

प्राकृतिक चिकित्सक पानी का अलग-अलग प्रकार से शरीर में उपयोग करवाकर, उषापान, वाष्प-स्नान, टब-बाथ, एनिमा, नेति एवं अन्य जल सम्बन्धी क्रियाओं द्वारा जल तत्त्व को संतुलित करते हैं।

अग्नि तत्त्व- अग्नि एक ऊर्जा है, जिसका गुण है उष्णता। अग्नि जल से भी हल्की होती है और उसका स्वभाव ऊपर की तरफ उठना होता है। शरीर में नाभि से हृदय तक के भाग में इस तत्त्व की अधिकता होती है। नाभि का क्षेत्र जल तत्त्व और अग्नि तत्त्व के प्रभाव में रहता है। शरीर की उष्णता, जोश, उत्तेजना, स्फूर्ति आदि अग्नि तत्त्व से विशेष सम्बन्धित होते हैं।

अग्नि तत्त्व के असंतुलन से भूख और प्यास बराबर नहीं लगती। स्वभाव में चिड़चिड़ापन, शारीरिक ताकत में बदलाव, आंखों का तेज कम होने लगता है। पाचन बराबर नहीं होता। मस्तिष्क, सूर्य केन्द्र एवं प्रजनन संबंधी रोगों की संभावना बढ़ जाती है। चर्म रोग, जोड़ों का दर्द होने लगता है। धूप सेवन से शरीर में अग्नि तत्त्व

की पूर्ति होती है। अग्नि तत्त्व की अधिकता से बुखार आना, शरीर में जलन होना, पित्त बढ़ना, भूख और प्यास ज्यादा लगना, क्रोध अधिक आना, भोग की इच्छा होना आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अग्नि तत्त्व का संबंध हमारी चक्षु इन्द्रिय से अधिक होता है। अग्नि तत्त्व की अधिकता वालों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। व्यायाम, धूप स्नान एवं सूर्य प्राणायाम से अग्नि तत्त्व बढ़ता है। जबकि आराम, निद्रा और चन्द्र प्राणायाम से अग्नि तत्त्व कम होता है।

वायु तत्त्व– वायु अग्नि से भी हल्की होती है। अतः अग्नि से ऊपर वाले शरीर के भागों में इसकी अधिकता होती है। शरीर में हृदय से कंठ तक वायु अपेक्षाकृत अधिक होती है। प्रायः वायु अस्थिर होती है। अतः शरीर में हलन–चलन, संकोचन, फैलने वाली गतिविधियों में इसकी प्रभावी भूमिका होती है। वायु तत्त्व की अधिकता वाले व्यक्ति स्पर्शेन्द्रिय के प्रति विशेष संवेदनशील होते हैं।

वायु तत्त्व के आवश्यक अनुपात में कमी होने से संबंधित अंगों का हलन–चलन, श्वसन, रक्त प्रवाह, लासिका प्रवाह तथा शरीर में गतिशील अंगों में रोग होने की संभावना रहती है। शरीर में कम्पन अथवा खिंचाव भी हो सकता है। चिंता और भय लगने लगता है। फेंफड़े, हृदय, गुर्दे आदि अंग विशेष प्रभावित होते हैं। वायु का अवरोध बढ़ने से गंठिया हो सकता है।

आकाश तत्त्व– आकाश खाली होता है। सभी को स्थान देता है। अतः शरीर में जहाँ–जहाँ रिक्तता होती है, वे भाग आकाश तत्त्व से सम्बन्धित होते हैं। आकाश तत्त्व की अधिकता वालों को श्रोतेन्द्रिय संवेदनशील होती है। वे प्रत्येक बात को अधिक ध्यान से सुनते हैं। आकाश तत्त्व चारों तत्त्वों को स्थान देता है। हमारे शरीर में पाँचों इन्द्रियाँ (आंख, कान, नाक, जीभ, स्पर्श) के माध्यम से जो ग्रहण किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जो कुछ होता है, उसका सम्बन्ध आकाश तत्त्व से होता है। जैसे काम, क्रोध, मोह, लोभ, लज्जा इत्यादि। आकाश को निहारने, खुले आकाश में उठने–बैठने, चलने–फिरने, सोने अथवा उपवास करने से इन तत्त्व की पूर्ति होती है।

पंच तत्त्वों का शारीरिक अवयवों एवं प्रवृत्तियों से संबंध–

शरीर में प्रत्येक अवयव किसी न किसी पंच महाभूत तत्त्व से संबंधित होता है। जिसकी संक्षिप्त जानकारी नीचे दी जा रही है।

पृथ्वी तत्त्व– अस्थि, त्वचा, मांसपेशियाँ, नाखून, शरीर के बाल।

जल तत्त्व– रक्त, वीर्य, मल, मूत्र, मज्जा, पसीना, कफ, लार।

अग्नि तत्त्व– निद्रा, भूख, प्यास, आलस्य, शरीर का तेज, क्रोध, पाचन रस, शरीर का तापक्रम

वायु तत्त्व– धारण करना, फेंकना, सिकोड़ना, फैलाना, चलना, बोलना, चिन्तन, मनन, स्पर्श ज्ञान।

आकाश तत्त्व– काम, क्रोध, मोह, लोभ, लज्जा, खालीपन, दुःख, चिंता, निर्विकल्पता।

दुष्प्रवृत्तियों, शारीरिक आवश्यकताओं और रोग संबंधी अवयवों के असंतुलन को संबंधित महाभूत तत्त्व को संतुलित कर आसानी से दूर किया जा सकता है। जिससे व्यक्ति रोग मुक्त, सजग बन सुखी जीवन जीते हुये अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

पंच तत्त्वों का ज्ञानेन्द्रियों से संबंध–

प्रत्येक तत्त्व का किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय से विशेष संबंध होता है। बिना खाली स्थान ध्वनि की तरंगों का प्रवाह नहीं हो सकता, हमारे कान कार्य नहीं कर सकते। अतः कान यानि श्रवण शक्ति, आकाश तत्त्व से सीधी संबंधित होती है। बिना वायु स्पर्श ज्ञान नहीं हो सकता। स्पर्श ज्ञान हेतु त्वचा का महत्त्व होता है। अतः स्पर्शेन्द्रिय एवं त्वचा का संबंध वायु तत्त्व से होता है। दृष्टि और नेत्र का संबंध अग्नि तत्त्व से होता है। यदि जीभ में शुष्कता आ जाये तो स्वाद की पहचान नहीं होती। अतः जीभ का संबंध जल तत्त्व से होता है। पृथ्वी अलग-अलग गंध वाले पदार्थो का निर्माण करती है। अतः घ्राणेन्द्रिय और नाक उससे संबंधित होते हैं।

ग्रहों एवं राशियों का पंच तत्त्वों से संबंध–

पंच तत्त्व मौलिक तत्त्व होते हैं। अतः वे किसी न किसी रूप में हमारी जीवन शैली को प्रभावित करते हैं। सारा ज्योतिष शास्त्र ग्रह, नक्षत्रों एवं राशियों की स्थिति पर आधारित होता है। उनकी शोध के आधार पर पंच तत्त्वों पर पड़ने वाले ग्रहों और राशियों के संबंधों एवं प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन हुआ। निम्न तालिका में पंच तत्त्वों से विशेष संबंधित ग्रहों और राशियों का विवरण दिया गया है।

तत्त्व	संबंधित राशियाँ	संबंधित ग्रह
पृथ्वी–	वृष, कन्या, मकर	बुद्ध
जल–	कर्क, वृश्चिक, मीन	चंद्र एवं शुक्र
अग्नि–	मेष, सिंह, धनु	सूर्य एवं मंगल
वायु–	मिथुन, तुला, कुम्भ	शनि
आकाश–		गुरु

तत्त्वों का स्वाद और त्रिदोषों से संबंध–

शरीर में अलग-अलग रसों के उत्पोदन में अलग-अलग तत्त्वों की भूमिका होती है। इन रसों का शरीर में उपस्थित दोषों को घटाने अथवा बढ़ाने में भी योगदान होता है। अतः आवश्यकतानुसार यदि इन रसों का सेवन किया जाये तो, पंच तत्त्व और दोषों को संतुलित किया जा सकता है। नीचे तालिका में विभिन्न रसों का पंच तत्त्वों एवं दोषों से संबंध दर्शाया गया हैं।

रस/स्वाद	रसों के उत्पादन सहयोगी महाभूत तत्त्व	रस की अधिकता से होने वाले शरीर के दोष	रस की कमी से बढ़ने वाले दोष
1. मधुर	जल, पृथ्वी	वात, पित्त	कफ

2. अम्ल (खट्टा)	पृथ्वी, अग्नि	वात	पित्त, कफ
3. लवण	जल, अग्नि	वात	पित्त, कफ
4. कड़वा	वायु, अग्नि	कफ	वात, पित्त
5. कषैला	वायु, पृथ्वी	पित्त, कफ	वात
6. तीखा	वायु, जल	पित्त, कफ	वात

पंच तत्त्व से प्रभावित वास्तु और स्वास्थ्य–

धरती पर किये जाने वाले किसी भी निर्माण में पंच महाभूत तत्त्वों का बहुत प्रभाव पड़ता है। इन पंच तत्त्वों से उत्पन्न अलग-अलग प्रकार की ऊर्जाओं का उस क्षेत्र में रहने वाले कार्य करने वालों की गतिविधियों, क्षमताओं एवं स्वास्थ्य पर हितकारी अथवा अहितकारी प्रभाव पड़ता है। आवास के प्रत्येक भाग में अलग-अलग प्रकार की ऊर्जाओं का उनके प्रवाह के अनुरूप अलग-अलग प्रभाव होता है। अग्नि कोण में अग्नि तत्त्व और वायु कोण में वायु का बाहुल्य होता है। इन पंच मूलभूत तत्त्वों के सूक्ष्म और अदृश्य रूप से पड़ने वाले प्रत्यक्ष परोक्ष प्रभावों को आवश्यकतानुसार नियन्त्रित किया जा सकता है।

अतः प्रकृति के पंच तत्त्वों की व्यवस्था को बिना बिगाड़े अर्थात् दोषों से रहित आवास एवं कार्य स्थल हो तो उसमें रहने वालों को आनन्द, सुख, प्रसन्नता, स्वास्थ्य एवं इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति आसानी से होती है। इसके विपरीत यदि उसकी उपेक्षा की गई, उनका सही उपयोग न किया गया, तालमेल और सामन्जस्य बराबर न रखा गया तो उसमें रहने वाले दुःखी, चिन्तित, तनाव ग्रस्त, भयभीत एवं अस्वस्थ होते हैं।

जिस मकान में प्रातःकालीन सूर्य किरणों का प्रवेश नहीं होता, शुद्ध प्राण वायु के आवागमन में अवरोध आता है, वहाँ रोग होने की अधिक संभावना रहती है।

अतः कभी-कभी वास्तुदोष से भी वहाँ रहने वालों के पंच तत्त्व का असंतुलन हो सकता है। जितना-जितना असंतुलन, आवश्यकता से कम ऊर्जाओं की उपलब्धता होती है, उतना अधिक रोग होने की संभावनाएँ बढ़ जाती है। असंतुलन के अलग-अलग कारण मिलने से असंतुलन शरीर की निर्धारित सीमाओं से परे हो सकता है।

वास्तु के अनुसार बने आवास में प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी तरंगों की बाहुल्यता होती है, जिससे स्वाभाविक रूप से रसोइघर में बना खाना अधिक स्वास्थ्य वर्धक होता है। भोजन कक्ष में स्वादिष्ट लगता है, तृप्ती होती है और पाचन अच्छा होता है। शयन कक्ष में गहरी निद्रा आती है। अध्ययन कक्ष में पढ़ने में अच्छा मन लगता है। स्वाध्याय, ध्यान एवं पूजा कक्ष में एकाग्रता जल्दी आती है। कहने का आशय यही है कि वहां रहने वालों को अपने इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। अधिक जानकारी के लिए अनुभवी वास्तु विशेषज्ञ से सम्पर्क किया जा सकता है।

पगथली की आकृति प्रतिबिम्बित करती है-शरीर में पंच तत्त्वों की स्थिति-

हमारे शरीर का सारा भार पगथली पर पड़ता है। अतः शरीर की बनावट का एवं उसमें उपस्थित पंच तत्त्वों का भी उससे अवश्य संबंध होना चाहिये। मां के गर्भ में आने से लगाकर मृत्यु तक हमारे जैसे संस्कार, वृत्तियाँ, सोच, आचरण, जीवनशैली आदि होती है, उसी के अनुरूप हमारे व्यक्त्वि का विकास होता है एवं वे सभी हमारे पगथली पर प्रकट होने वाले लक्षणों के द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं। गर्भावस्था में हम अपनी माता की गतिविधियों से अधिक प्रभावित होते हैं। अज्ञानवश अथवा जिन घटनाओं को हम भूल जाते हैं, परन्तु जो हमें अभी भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हमारी प्राण ऊर्जा को असंतुलित करती है, उसके प्रवाह में अवरोध पैदा करती है, वे सारे लक्षण पगथली में अंकित होते हैं। किसी भी तत्त्व के असंतुलन से पगथली के संबन्धित भाग में परिवर्तन होने लगता है। पगथली में उभरने वाली प्रत्येक रेखा, त्वचा के रंग और तंतुओं की अवस्था में बदलाव, त्वचा की स्निग्धता एवं रूक्षता में परिवर्तन, फैलाव अथवा संकोचन, सूजन अथवा सलवटें पगथली में उससे संबन्धित तत्त्वों के असंतुलन का प्रतीक होती है। शरीर में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का उस पर प्रभाव पड़ता है। प्रमुख घटनाओं के लक्षण स्थायी होते हैं। पगथली की आकृति उसी का दर्पण के समान होती है।

व्यक्ति कैसे चलता है। उस समय उसकी शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्थिति पगथली से मालूम की जा सकती है। आकाश तत्त्व की पगथली में कोई विशेष स्थिति नहीं होती है। जबकि बाकी चारों तत्त्वों की स्थिति चित्रानुसार होती है। अमेरिकन डॉ. ए.वी.आई. ग्रिनवर्ग ने एक्यूप्रेशर की फुट रिफ्लेक्सोलोजी के अनुसार पगथली में शरीर के अंगों, उपांगों एवं अवयवों आदि का बाकी चार तत्त्वों के साथ संबंधों का अध्ययन किया तथा अलग-अलग प्रकार के लक्षणों से पड़ने वाले प्रभावों की शोध की। जिसके आधार पर पगथली को देखने मात्र से व्यक्ति के वर्तमान एवं भूत की शारीरिक स्थिति का स्वतंत्र रूप से निदान किया जा सकता है। प्रभावित अंगों में उपचार कर रोग से मुक्ति मिल सकती है। जिज्ञासु व्यक्ति अनुभवी प्रशिक्षक से प्रशिक्षण प्राप्त कर चन्द दिनों में निदान परीक्षण एवं उपचार करने की विधि में दक्षता प्राप्त कर सकता है।

पंच तत्त्वों को संतुलित करने का प्रभावशाली उपाय : हस्त मुद्राएँ

शरीर में हथेली प्रमुख सक्रिय भाग-

शरीर में सक्रिय अंगों में हाथ भी प्रमुख है। हथैली में एक विशेष प्रकार की प्राण ऊर्जा अथवा शक्ति का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। इसी कारण शरीर के किसी भाग में दुःख, दर्द, पीड़ा होने पर सहज ही हाथ वहाँ चला जाता है। अंगुलियों में अपेक्षाकृत संवेदनशीलता अधिक होती है। इसी कारण अंगुलियों से ही नाड़ी की गति को देखा जाता है। जिससे मस्तिष्क में नब्ज की कार्यविधि का संदेश शीघ्र ही पहुँचता है। रेकी चिकित्सा में हथेली का ही उपयोग होता है। रत्न चिकित्सा में विभिन्न प्रकार के नगीने अंगूठी के माध्यम से हाथ की अंगुलियों में ही पहने जाते हैं। जिनकी तरंगों के प्रभाव से शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है। एक्यूप्रेशर चिकित्सा में हथेली में सारे शरीर के संवेदन बिन्दु होते हैं। सुजोक बियोल मेरेडियन के सिद्धान्तानुसार अंगुलियों से ही शरीर के विभिन्न

अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह को नियन्त्रित और संतुलित किया जा सकता है। अनुभवी हस्त रेखा विशेषज्ञ हथेली देखकर व्यक्ति के वर्तमान, भूत और भविष्य की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को बतला सकते हैं। कहने का आशय यही है कि हाथ, हथेली और अंगुलियों का मनुष्य की जीवन शैली से सीधा सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार हस्त योग मुद्राओं द्वारा पंच तत्त्वों को सरलता से संतुलित किया जा सकता है। ये मुद्राएँ शरीर में चेतना के शक्ति केन्द्रों में रिमोट कण्ट्रोल के समान स्वास्थ्य रक्षा और रोग निवारण करने में प्रभावशाली कार्य करती है। जिससे मानव भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति की तरफ अग्रसर होता है।

मुद्रा विज्ञान– हाथ की पाँचों अंगुलियों का सम्बन्ध पंच महाभूत तत्त्वों से होता है। प्रत्येक अंगुली अलग–अलग तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। जैसे– कनिष्ठिका जल तत्त्व से, मध्यमा अग्नि तत्त्व से, तर्जनी वायु तत्त्व से और अंगूठा आकाश तत्त्व से। परन्तु बहुत से योगी अंगूठे को अग्नि और मध्यमा को आकाश तत्त्व का प्रतीक मानते हैं। परन्तु ऐसा इसलिए उचित नहीं लगता क्योंकि आकाश तत्त्व ही सभी तत्त्वों को आश्रय देता है, उसके सहयोग के बिना किसी भी तत्त्व का अस्तित्व नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार अंगूठे से ही अन्य सभी अंगुलियों का स्पर्श हो सकता है। मध्यमा से नहीं। दूसरी बात मस्तिष्क में आकाश तत्त्व की प्रधानता होती है। अंगूठा मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है। एक्यूप्रेशर में मस्तिष्क के रोगों का उपचार अंगूठे से ही किया जाता है।

मुद्रा विज्ञान के अनुसार हमारी अंगुलियाँ ऊर्जा का नियमित स्रोत होने के साथ–साथ एन्टीना का कार्य करती है। शरीर में पंच तत्त्वों की घटत–बढ़त से व्याधियाँ होती है। अंगुलियों को मिलाने, दबाने, स्पर्श करने, मरोड़ने तथा विशेष आकृति कुछ समय तब बनाए रखने से तत्त्वों में परिवर्तन किया जा सकता है। उसका स्नायु मण्डल और योगिक चक्रों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अंगुलियों को अनावश्यक मरोड़ने एवं चटखने से शक्ति का अपव्यय होता है।

अंगूठे को तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका के मूल में लगाने से उस अंगुलि से सम्बन्धित तत्त्व की वृद्धि होती है। अंगुलियों के प्रथम पौर में स्पर्श करने से तत्त्व सन्तुलित होता है तथा इन अंगुलियों को अंगूठे के मूल पर स्पर्श कर अंगूठे से दबाने से उस तत्त्व की कमी होती है। इस प्रकार विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से पंच तत्त्वों को इच्छानुसार घटाया अथवा बढ़ाकर सन्तुलित किया जा सकता है।

मुद्राओं के सामान्य नियम– मुद्राओं का अभ्यास बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी कर सकते हैं। मुद्राओं को चलते–फिरते, सोते–जागते, उठते–बैठते जब चाहें कर सकते हैं। परन्तु शान्त एकान्त स्थान पर एकाग्रचित से मुद्राएँ करने पर विशेष लाभ होता है। अपनी–अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सही मुद्राओं का अभ्यास करने से चमत्कारिक लाभ होता है।

नियमित और निश्चित् समय पर प्राणायाम के पश्चात् ध्यान के आसन में बैठ एकाग्र चित्त से दोनों हाथों में करने से तुरन्त लाभ होता है। कुछ विशेष मुद्राओं को छोड़ मुद्राएँ किसी भी अवस्था में की जा सकती है। रोग के

समय लेटे-बैठे, चलते-फिरते अथवा बातचीत करते हुए मुद्राएँ की जा सकती है। अधिकांश मुद्राएँ कम-से-कम एक घड़ी अर्थात् 48 मिनट लगातार करनी चाहिए। जिससे उसका उपेक्षित लाभ प्राप्त हो सके।

रोग से सम्बन्धित मुद्राएँ रोग दूर होने के समय तक ही करनी चाहिए। परन्तु अन्य मुद्राएँ स्वेच्छानुसार जितनी अधिक की जाती हैं, उतना अधिक लाभ मिलता है। रोग जितना पुराना होता है, उसके उपचार में उतना ही अधिक समय लग सकता है। फिर भी अंशकालीन मुद्रा प्रयोग स्नायुमण्डल के केन्द्रों और मुख्य ऊर्जा चक्रों में प्रभावशाली कंपन उत्पन्न करने में सहायक होती है।

बांये हाथ से जो मुद्रा की जाती है, उसका प्रभाव दाहिने अंगों पर विशेष पड़ता है और दांये हाथ से जो मुद्राएँ की जाती है, उसका प्रभाव बांये भाग के अंगों पर विशेष पड़ता है। शरीर के आवश्यकतानुसार एक के बाद एक मुद्रा की जा सकती है। मुद्राएँ यथासम्भव दोनों हाथों से करनी चाहिए। मुद्रा करते समय अंगुलियों का स्पर्श हल्का और सहज होना चाहिए तथा जो अंगुलियाँ मुद्रा बनाने में काम आती, उन्हें सीधा ही रखना चाहिए। अन्य उपचारों के साथ भी मुद्राओं का उपयोग किया जा सकता है।

चन्द प्रमुख मुद्राएँ-

हथेली की अंगुलियों और अंगूठे की विविध स्थितियों से अलग-अलग मुद्राएँ बनती है। प्रत्येक मुद्रा का प्रभाव अलग-अलग होता है और इन मुद्राओं से शरीर में उपस्थित पंच महाभूत तत्त्व प्रभावित होते हैं। अतः अलग-अलग मुद्राओं द्वारा उन्हें संतुलित रख स्वस्थ रहा जा सकता है।

वैसे मुद्राएँ कभी भी किसी भी आसन में की जा सकती है, परन्तु स्वस्थ व्यक्ति को वज्रासन अथवा पद्मासन में ही करना चाहिये। परन्तु रोगी सोते-सोते भी कर सकता है। मुद्रा एक हाथ में अथवा दोनों हाथों में की जा सकती है। मुद्राओं के नियमित अभ्यास से शरीर की ऊर्जा बढ़ती है। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

कुछ मुद्राएँ रोग की अवस्था में ही की जाती है, तो पंच तत्त्वों को सम करने वाली ऊर्जाएँ कभी भी की जा सती है। यहाँ पर चन्द विशेष मुद्राओं की सामान्य उपयोगी जानकारी ही दी जा रही है। जिज्ञासु व्यक्ति मुद्रा विशेषज्ञों से सम्पर्क कर मुद्रा को सरलता से अनुभूत कर अपने आपको स्वस्थ रख सकते हैं। कुछ मुद्राएँ तत्काल अपना प्रभाव डालती है। जैसे अपान वायु और शून्य मुद्रा। कुछ मुद्राएँ दीर्घकालिक होती है, जो लम्बे समय के अभ्यास के पश्चात् अपना स्थायी प्रभाव प्रकट करती है।

ज्ञान मुद्रा- अंगुष्ठ व तर्जनी के ऊपरी पौर को स्पर्श करने से जहाँ हल्का सा नाड़ी स्पन्दन अनुभव हो, ज्ञान मुद्रा बनती है। हाथ की अलग-अलग स्थिति रखने से ज्ञान मुद्राओं का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है, जिन्हें अलग-अलग प्रवृत्तियाँ करते समय आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

लाभ- ज्ञान मुद्रा से मस्तिष्क संबंधी रोग, आलस्य,घबराहट, चिड़चिड़ापन, क्रोध, निराशा, तनाव, अनिद्रा, बैचेनी, ज्ञान तन्तु के विकार दूर होते हैं तथा स्मरण शक्ति बढ़ती है। इस मुद्रा से आभा मण्डल आकर्षक बनता है और आत्म विकार दूर होते हैं।

ज्ञान मुद्रा अधिक से अधिक समय तक की जा सकती है। हस्त रेखा विज्ञान की दृष्टि से ज्ञान मुद्रा करने से जीवन रेखा तथा बुद्ध ग्रह संबंधी दोष दूर होते हैं तथा अविकसित शुक्र पर्वत का भी विकास संभव होता है।

जब ज्ञान मुद्रा में दोनों हथेलियाँ कन्धे के बराबर सामने की तरफ होती हैं तो, व्यक्ति में निर्भयता आने से उस मुद्रा को अभय मुद्रा कहते हैं।

जब दायाँ हाथ हृदय के पास और बायाँ घुटने के ऊपर रख जब ज्ञान मुद्रा की जाती है तो उसे योग मुद्रा अथवा वैराग्य मुद्रा कहते है। भगवान गौतम की अधिकांश मूर्तियाँ इस आसन में ही देखने को मिलती है।

वायु मुद्रा- अंगुष्ठ से तर्जनी को दबाने से वायु मुद्रा बनती है जो शरीर में वायु के बढ़ने से होने वाले रोगों का शमन करती है, जैसे शरीर का कम्पन्न, जोड़ों का दर्द, गंठिया रीढ की हड्डी संबंधी दर्द, वात रोग, लकवा आदि के समय करने से रोगों में राहत मिलती है।

मुँह टेढ़ा पड़ जाने, गर्दन की जकड़न होने तथा गर्दन संबंधी अन्य रोगों में वायु मुद्रा का प्रयोग लाभ दायक होता है। वायु मुद्रा करने से हाथ के मध्य में वात नाड़ी में बन्ध लग जाता है। वात जन्य गर्दन के दर्द में वायु मुद्रा लगाने के बाद हाथ की कलाई को दायां-बांया घुमाने से वात नाड़ी में खट-खट की ध्वनि होती है, जो उस कलाई की दूसरे हाथ से पकड़ कर वात नाड़ी पर अंगूठे से हल्का दबाव देते हुए गोलाकार दांये-बांयें थोड़ी देर घुमाने के पश्चात् बंद हो जाती है। उसके साथ ही गर्दन के दर्द में आराम होने लगता है। यदि जकड़न और दर्द गर्दन के बांयी तरफ हो तो बांयी कलाई को घुमाना चाहिये और यदि गर्दन के दाहिनी तरफ दर्द हो तो दाहिनी कलाई को घुमाना चाहिए। परन्तु पूरी गर्दन में दर्द हो तो दोनों कलाईयों को एक के बाद एक घुमाना चाहिये। इसी प्रक्रिया से मुँह का टेढ़ापन भी ठीक हो जाता हैं।

आकाश मुद्रा- अंगुष्ठ के ऊपरी पौर को मध्यमा के ऊपरी पौर से स्पर्श करने से आकाश मुद्रा बनती है। इससे अग्नि तत्त्व सन्तुलित होता है। हड्डियां मजबूत होती है। मुख का तेज और क्रान्ति सुधरती है। विचार क्षमता बढ़ती है, मानसिक संकीर्णता कम होती है। हृदय रोग में भी यह मुद्रा प्रभावकारी होती है। हस्त रेखा विज्ञान की दृष्टि से शनि ग्रह से संबंध रखने वाले रोगों में यह मुद्रा लाभकारी होती है।

शून्य मुद्रा- अंगुष्ठ से मध्यमा को दबा कर बाकी अंगुलियाँ सीध रखने से बनती है। इस मुद्रा से शरीर में मणिपुर चक्र तक के सभी चक्र प्रभावित होते हैं। बहरापन, कान के रोग, हिचकी, गूंगापन, सिर दर्द, विचार शून्यता दूर होती है। काम वासना नियन्त्रित होती है। मूत्रावरोध दूर होता है।

पृथ्वी मुद्रा- अंगुष्ठ को अनामिका के ऊपरी पौर से स्पर्श से यह मुद्रा बनती है। पृथ्वी तत्त्व सन्तुलित होने से शरीर की ताकत और पैरों की शक्ति बढ़ती है।

सूर्य मुद्रा- अनामिका के ऊपरी पौर को अँगूठे के मूल पर रख कर अंगूठे से दबाने पर यह मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से मोटापा व भारीपन घटता है। मानसिक तनाव में कमी आती है।

जल मुद्रा–अंगुष्ठ का कनिष्ठिका के ऊपरी पौर पर स्पर्श करने से यह मुद्रा बनती है। कनिष्ठिका जो शरीर में जल तत्त्व का सन्तुलन करती है। जल तत्त्व की कमी से होने वाले रोगों में जैसे– मांसपेशियों में खिचांव, चर्म रोग, शरीर में रूक्षता आदि ठीक होते हैं। रक्त शुद्धि और त्वचा में स्निग्धता लाने के लिये वरुण लाभदायक होती हैं।

प्राण मुद्रा– कनिष्ठिका और अनामिका के ऊपरी पौर के अंगुठे के ऊपरी पौर से स्पर्श करने से यह मुद्रा बनती है, जो जल और पृथ्वी तत्त्व को शरीर में सन्तुलन करने में सहयोग करती है।

इस मुद्रा से चेतना शक्ति जागृत होती है। शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। रक्त संचार सुधरता है, आँखों के रोगों में राहत मिलती है। हस्त रेखा विज्ञान के अनुसार सूर्य की अंगुलि अनामिका समस्त प्राणशक्ति का केन्द्र मानी जाती है। बुद्ध की अंगुलि कनिष्ठिका युवा शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। अतः इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण शक्ति का संचार तेज होता है। रक्त संचार ठीक होन से रक्त नलिकाओं का अवरोध दूर होता है। साधक को भूख प्यास की तीव्रता नहीं सताती।

अपान मुद्रा– मध्यमा और अनामिका अंगुलि के सिरे को अंगूठे के सिरे से स्पर्श करने से बनती है। इस मुद्रा से शरीर से विभिन्न प्रकार के विजाती तत्त्वों की विसर्जन क्रिया नियमित होती है, ताकि अनावश्यक, अनुपयोगी पदार्थ सरलता पूर्वक शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

इससे पेट में वायु का नियन्त्रण होने से पेट संबंधी वात रोगों में विशेष लाभ होता है। इस मुद्रा से मूत्राशय की कार्य प्रणाली सुधरती है। कब्ज और बवासीर में यह मुद्रा विशेष लाभदायक होती है। यह मुद्रा दांतों को भी स्वस्थ रखती है। इस मुद्रा से पसीना नियमित ढंग से आने लगता है। शरीर में प्राण और अपान वायु संतुलित होती है।

अपान वायु मुद्रा– इस मुद्रा को मृत संजीवनी मुद्रा भी कहते हैं। तर्जनी को अंगुष्ठ के मूल से स्पर्श कर अंगूठे का अग्रभाग मध्यमा और अनामिका के ऊपरी पौर से स्पर्श करने व कनिष्ठिका को सीधी रखने से बनती है। इस मुद्रा से ह्रदयघात, ह्रदय रोग, ह्रदय की कमजोरी, धड़कन, प्राण ऊर्जा की कमी, उच्च रक्त चाप, सिर दर्द, बेचैनी, पेट की गैस, घबराहट दूर होती है। दिल का दौरा पड़ने पर यह मुद्रा इंजेक्शन के समान तुरन्त प्रभाव दिखलाती है। ह्रदय के रोगियों को सीढ़िया चढ़ते समय यदि श्वास फूलता हो तो सीढ़िया चढ़ने से पूर्व 10–15 मिनट इस मुद्रा को करने से श्वास नहीं फूलता।

जलोदर नाशक मुद्रा– कनिष्ठिका को पहले अंगूठे की जड़ में लगाकर फिर अंगूठे से कनिष्ठिका को दबाने से जलोदर नाशक मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से शरीर में जल की वृद्धि से होने वाले रोग ठीक होते हैं। शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर निकलने लगते है, जिससे शरीर निर्मल बनता है, पसीना आने लगता है, मूत्रावरोध ठीक होता है।

शंख मुद्रा– बांये हाथ के अंगूठे को दांये हाथ की मुट्ठी में बंद कर बांये हाथ की तर्जनी को दाहिने हाथ के अँगूठे से मिला, बाकी तीनों अंगुलियों को मुट्ठी के ऊपर रखने से शंख मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा से वाणी संबंधी रोग जैसे तुतलाना, आवाज में भारीपन गले के रोग और थायरायड संबंधी रोगों में विशेष लाभ होता है। भूख अच्छी लगती है। वज्रासन में बैठकर यह मुद्रा करने से अधिक प्रभावकारी हो जाती है। हृदय के पास इस मुद्रा को हथेलियाँ रख कर करने से हृदय रोग में शीघ्र लाभ होता है। रक्त चाप कम होने लगता है।

लिंग मुद्रा– दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में फंसाकर दायें अंगूठे को ऊपर खड़ा रखने से यह मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से शरीर में गर्मी बढ़ती है। मोटापा कम होता है। कफ, नजला, जुकाम, खांसी, सर्दी संबंधी रोगों, फेंफड़ों के रोग, निम्न रक्त चाप आदि में कमी होती है। इस मुद्रा से शरीर में मौसम परिवर्तन से होने वाले सर्दी जन्य रोगों की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

पंचम अध्याय

स्वर विज्ञान एवं स्वास्थ्य

सृष्टि की रचना में सूर्य और चन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान होता है। हमारा जीवन अन्य ग्रहों की अपेक्षा सूर्य और चन्द्र से अधिक प्रभावित होता है। उसी के कारण दिन–रात होते हैं तथा जलवायु बदलती रहती है। समुद्र में ज्वार भी सूर्य एवं चन्द्र के कारण आता है। हमारे शरीर में भी लगभग दो तिहाई भाग पानी होता हैं। सूर्य और चन्द्र के गुणों में बहुत विपरीतता होती है। एक गर्मी का तो दूसरा ठण्डक का स्रोत माना जाता है। सर्दी और गर्मी सभी चेतनाशील प्राणियों को बहुत प्रभावित करते हैं। शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारेनाइट निश्चित होता है और उसमें बदलाव होते ही रोग होने की संभावना होने लगती है।

मनुष्य के शरीर में भी सूर्य और चन्द्र की स्थिति शरीरस्थ नाड़ियों में मानी गई है। मूलधारा चक्र से सहस्रार चक्र तक शरीर में 72000 नाड़ियों का हमारे पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। स्वर विज्ञान–सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों को शरीर में स्थित इन सूक्ष्म नाड़ियों की सहायता से अनुकूल बनाने का विज्ञान है।

स्वर क्या है ?

नासिका द्वारा श्वास के अन्दर जाने और बाहर निकालते समय जो अव्यक्त ध्वनि होती है, उसी को स्वर कहते हैं।

नाड़ियाँ क्या है ?

नाडियाँ चेतनाशील प्राणियों के शरीर में वे मार्ग हैं, जिनमें से होकर प्राण ऊर्जा शरीर के विभिन्न भागों तक प्रवाहित होती है। हमारे शरीर में तीन मुख्य नाडियाँ होती है। ये तीनों नाडियाँ मूलधारा चक्र से सहस्रार चक्र तक मुख्य रूप से चलती है। इनके नाम ईडा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। इन नाड़ियों का सम्बन्ध स्थूल शरीर से नहीं होता। अत: आधुनिक यंत्रों, एक्स रे, सोनोग्राफी आदि यंत्रों से अभी तक उनको प्रत्यक्ष देखना संभव नहीं हो सका। है। जिन स्थानों पर ईडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ आपस में मिलती है, उनके संगम को शरीर में ऊर्जा चक्र अथवा शक्ति केन्द्र कहते हैं।

ईडा और पिंगला नाड़ी तथा दोनों नथूनों से प्रवाहित होने वाली श्वास के बीच सीधा संबंध होता है, सुषुम्ना के बांयी तरफ ईडा और दाहिनी तरफ पिंगला नाड़ी होती है। ये दोनों नाड़ियाँ मूलधारा चक्र से बायें-दायिने होकर अपना क्रम परिवर्तित करती हुई सीधे ऊपर की तरफ चित्र में दर्शाए अनुसार बढ़ती है। प्रत्येक चक्र पर एक दूसरे को काटती हुई आगे नाक के नथुनों तक पहुँचती है। उनके इस परस्पर सम्बन्ध के कारण ही व्यक्ति नासिका के श्वांस प्रवाहों को प्रवाहित करके अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर ईडा और पिंगला नाड़ी में संतुलन स्थापित कर सकता है।

श्वसन में दोनों नथूनों की भूमिका-

जन्म से मृत्यु तक हमारे श्वसन की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। यह क्रिया दोनों नथूनों से एक ही समय समान रूप से प्रायः नहीं होती। श्वास कभी बांये नथुने से, तो कभी दाहिने नथुने से चलता है। कभी-कभी थोड़े समय के लिए दोनों नथुने से समान रूप से चलता है।

बांये नथूने से जब श्वास प्रक्रिया होती है तो चन्द्र स्वर का चलना, दाहिने नथूने में जब श्वास की प्रक्रिया मुख्य होती है तो उसे सूर्य स्वर का चलना तथा जब श्वास दोनों नथूने के समान रूप से चलता है तो उस अवस्था को सुषुम्ना स्वर का चलना कहते है। एक नथूने को दबाकर दूसरे नथूने के द्वारा श्वास बाहर निकालने पर यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि एक नथूने से जितना सरलतापूर्वक श्वास चलता है उतना, उसी समय प्रायः दूसरे नथूने से नहीं चलता। जुकाम आदि न होने पर भी मानों दूसरा नथूना प्रायः बन्द है, ऐसा अनुभव होता है। जिस समय जिस नथूने से श्वास सरलतापूर्वक चलता है, उसी समय उसी नथूने से सम्बन्धित नाड़ी में श्वास का चलना कहा जाता है तथा उस समय अव्यक्त स्वर को उसी नाड़ी के नाम से पहिचाना जाता है। अतः ईडा नाड़ी के चलने पर ईडा स्वर, पिंगला नाड़ी के चलने पर पिंगला स्वर और सुषुम्ना से श्वसन होने पर सुषुम्ना स्वर प्रभावी होता है।

ईडा और पिंगला श्वास प्रवाहों का सम्बन्ध अनुकंपी (सिम्पेथेटिक) और परानुकम्पी (पेरासिम्पेथेटिक) स्नायु संस्थान से होता है, जो शरीर के विभिन्न क्रिया कलापों का नियन्त्रण और संचालन करते हुए उन्हें परस्पर संतुलित बनाए रखती है। ईडा और पिंगला दोनों स्वरों का कार्य क्षेत्र कुछ समानताओं के बावजूद अलग-अलग होता है। ईडा का संबंध ज्ञानवाही धाराओं, मानसिक क्रिया कलापों से होता है। पिंगला का संबंध क्रियाओं से अधिक होता है। अर्थात् इडा शक्ति का आन्तरिक रूप से होती है जबकि पिंगला शक्ति का बाह्य रूप तथा सुषुम्ना केन्द्रीय शक्ति होती है तथा उसका संबंध केन्द्रीय नाड़ी संस्थान (Central Nervous System) से होता है। जब पिंगला स्वर प्रभावी होता है, उस समय शरीर की बाह्य क्रियाएँ सुगमता से होने लगती है। शारीरिक ऊर्जा दिन के समान सजग, सक्रिय और जागृत होने लगती है। अतः पिंगला नाड़ी को सूर्य नाड़ी एवं उसके स्वर को सूर्य स्वर भी कहते हैं। परन्तु जब ईडा स्वर सक्रिय होता है तो, उस समय शारीरिक शक्तियाँ सुषुप्त अवस्था में विश्राम कर रही होती है। अतः आन्तरिक कार्यो हेतु अधिक ऊर्जा उपलब्ध होने से मानसिक सजगता बढ़ जाती है। चन्द्रमा से मन और मस्तिष्क अधिक प्रभावित होता है। क्योंकि चन्द्रमा को मन का मालिक भी कहते हैं। अतः ईडा नाड़ी

को चन्द्र नाड़ी और उसके स्वर को चन्द्र स्वर भी कहते हैं। चन्द्र नाड़ी शीतल प्रधान होती है, जबकि सूर्य नाड़ी उष्ण प्रधान। सुषुम्ना दोनों के बीच संतुलन रखती है।

सूर्य स्वर– मस्तिष्क के बायें भाग एवं शरीर में मस्तिष्क के नीचे के दाहिने भाग को नियन्त्रित करता है, जबकि चन्द्र स्वर मस्तिष्क के दाहिने भाग एवं मस्तिष्क के नीचे शरीर के बायें भाग से संबंधित अंगों, उपांगों में अधिक प्रभावकारी होता है। जो स्वर ज्यादा चलता है, शरीर में उससे संबंधित भाग को अधिक ऊर्जा मिलती है तथा बाकी बचे दूसरे भागों को अपेक्षित ऊर्जा नहीं मिलती। अतः जो अंग कमजोर होता है, उससे संबंधित स्वर को चलाने से रोग में शीघ्र लाभ होता है।

स्वस्थ मनुष्य का स्वर प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार चला करता है। उनका अनियमित प्रकृति के विरूद्ध चलना शारीरिक और मानसिक रोगों के आगमन और भावी अमंगल का सूचक होता है। ऐसी स्थिति में स्वरों को निश्चित और व्यवस्थित ढंग से चलाने के अभ्यास से अनष्टि और रोगों से न केवल रोकथाम होती है, अपितु उनका उपचार भी किया जा सकता है।

शरीर में कुछ भी गड़बड़ होते ही गलत स्वर चलने लग जाता है। नियमित रूप से सही स्वर अपने निर्धारित समयानुसार तब तक नहीं चलने लगता, जब तक शरीर पूर्ण रूप से रोग मुक्त नहीं हो जाता।

स्वर नियन्त्रण स्वास्थ्य का मूलाधार–

स्वर विज्ञान भारत के ऋषि मुनियों की अद्‌भुत खोज है। उन्होंने मानव शरीर की प्रत्येक क्रिया–प्रतिक्रिया का सूक्ष्मता से अध्ययन किया, देखा, परखा तथा श्वास–निःश्वास की गति, शक्ति, सामर्थ्य के सम्बन्ध में आश्चर्य चकित कर देने वाली जो जानकारी हमें दी उसके अनुसार मात्र स्वरों को आवश्यकतानुसार संचालित, नियन्त्रित करके जीवन की सभी समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। जिसका विस्तृत विवेचन ''शिव स्वरोदय शास्त्र'' में किया गया है। जिसमें युग पुरुष–शिवजी ने स्वयं पार्वती को स्वर के प्रभावों से परिचित कराया।

प्रकृति ने हमें अपने आपको स्वस्थ और सुखी रहने के लिए सभी साधन और सुविधाएँ उपलब्ध करा रखी है, परन्तु हम प्रायः प्रकृति की भाषा और संकेतों को समझने का प्रयास नहीं करते। हमारे नाक में दो नथूने क्यों? यदि इनका कार्य मात्र श्वसन ही होता तो एक छिद्र से भी कार्य चल सकता है। दोनों में हमेशा एक साथ बराबर श्वास निःश्वास की प्रक्रिया क्यों नहीं होती? कभी एक नथूने में श्वास का प्रवाह सक्रिय है तो, कभी दूसरे में क्यों? क्या हमारी गतिविधियों और श्वास का आपस में तालमेल होता है। हमारी क्षमता का पूरा उपयोग क्यों नहीं होता? कभी–कभी कार्य करने में मन लग जाता है तो, कभी बहुत प्रयास करने के बावजूद हमारा मन क्यों नहीं लगता? ऐसी समस्त समस्याओं का समाधान स्वर विज्ञान में मिलता है। शरीर की बनावट में प्रत्येक भाग का कुछ न कुछ महत्व अवश्य होता है। कोई भी भाग अनुपयोगी अथवा पूर्णतया व्यर्थ नहीं होता।

स्वरों का प्रभाव– स्वरों और मुख्य नाड़ियों का आपस में एक दूसरे से सीधा सम्बन्ध होता है। ये व्यक्ति के सकारात्मक और नकारात्मक भावों का प्रतिनिधित्व करती है, जो उसके भौतिक अस्तित्व से सम्बन्धित होते हैं।

उनके सम्यक् संतुलन से ही शरीर के ऊर्जा चक्र जागृत और सजग रहते हैं। अन्तःश्रावी ग्रन्थियाँ क्रियाशील होती है।

चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी में प्राण वायु का प्रवाह नियमित रूप से बदलता रहता है। सामान्य परिस्थितियों में यह परिवर्तन प्रायः प्रति घंटे के लगभग अन्तराल में होता है। परन्तु ऐसा ही होना अनिवार्य नहीं होता। यह परिवर्तन हमारी शारीरिक और मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। जब हम अन्तर्मुखी होते हैं, उस समय प्रायः चन्द्र स्वर तथा जब हम बाह्य प्रवृत्तियों में सक्रिय होते हैं तो सूर्य स्वर अधिक प्रभावी होता है। यदि चन्द्र स्वर की सक्रियता के समय हम शारीरिक श्रम के कार्य करें तो उस कार्य में प्रायः मन नहीं लगता। उस समय मन अन्य कुछ सोचने लग जाता है। ऐसी स्थिति में यदि मानसिक कार्य करें तो, बिना किसी कठिनाई के वे कार्य सरलता से हो जाते है। ठीक उसी प्रकार जब सूर्य स्वर चल रहा हों और उस समय यदि हम मानसिक कार्य करते हैं तो उस कार्य में मन नहीं लगता। एकाग्रता नहीं आती। इसके बावजूद भी जबरदस्ती कार्य करते हैं तो, सिर दर्द होने लगता है। कभी-कभी सही स्वर चलने के कारण मानसिक कार्य बिना किसी प्रयास के होते चले जाते हैं तो, कभी-कभी शारीरिक कार्य भी पूर्ण रुचि और उत्साह के साथ होते हैं।

यदि सही स्वर में सही कार्य किया जाए तो हमें प्रत्येक कार्य में अपेक्षित सफलता सरलता से प्राप्त हो सकती है। जैसे अधिकांश शारीरिक श्रम वाले साहसिक कार्य जिसमें अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, सूर्य स्वर में ही करना अधिक लाभदायक होता है। सूर्य स्वर में व्यक्ति की शारीरिक कार्य क्षमता बढ़ती है। ठीक उसी प्रकार जब चन्द्र स्वर चलता है, उस समय व्यक्ति में चिन्तन, मनन और विचार करने की क्षमता बढ़ती है।

स्वर द्वारा ताप संतुलन-

जब चन्द्र स्वर चलता है तो शरीर में गर्मी का प्रभाव घटने लगता है। अतः गर्मी सम्बन्धित रोगों एवं बुखार के समय चन्द स्वर को चलाया जाये तो बुखार शीघ्र ठीक हो सकता है। ठीक उसी प्रकार भूख के समय जठराग्नि, भोग के समय कामग्नि और क्रोध, उत्तेजना के समय प्रायः मानसिक गर्मी अधिक होती है। अतः ऐसे समय चन्द्र स्वर को सक्रिय रखा जावे तो उन पर सहजता से नियन्त्रण पाया जा सकता है।

शरीर में होने वाले जैविक रासायनिक परिवर्तन जो कभी शान्त और स्थिर होते हैं तो कभी तीव्र और उग्र भी होते हैं। जब शरीर में तापीय असंतुलन होता है तो शरीर में रोग होने लगते हैं। अतः यह प्रत्येक व्यक्ति के स्वविवेक पर निर्भर करता है कि उसके शरीर में कितना तापीय असंतुलन है और उसके अनुरूप अपने स्वरों का संचालन कर अपने आपको स्वस्थ रखें। जब दोनों स्वर बराबर चलते हैं, शरीर की आवश्यकता के अनुरूप चलते हैं, तब ही व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

दिन में सूर्य के प्रकाश और गर्मी के कारण प्रायः शरीर में गर्मी अधिक रहती है। अतः सूर्य स्वर से सम्बन्धित कार्य करन के अलावा जितना ज्यादा चन्द्र स्वर सक्रिय होगा उतना स्वास्थ्य अच्छा होता है। इसी प्रकार रात्रि में दिन की अपेक्षा ठण्डक ज्यादा रहती है। चांदनी रात्रि में इसका प्रभाव और अधिक बढ़ जाता है। श्रम की

कमी अथवा निद्रा के कारण भी शरीर में निष्क्रियता रहती है। अतः उसको संतुलित रखने के लिए सूर्य स्वर को अधिक चलाना चाहिए। इसी कारण जिन व्यक्तियों के दिन में चन्द्र स्वर और रात में सूर्य स्वर स्वभाविक रूप से अधिक चलता है वे मानव प्रायः दीर्घायु होते हैं।

चन्द्र और सूर्य स्वर का असन्तुलन ही थकावट, चिंता तथा अन्य रोगों को जन्म देता है। अतः दोनों का संतुलन और सामन्जस्य स्वस्थता हेतु अनिवार्य हैं। चन्द्र नाड़ी का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है, परन्तु उस पर चलने से पूर्व सम्यक् सकारात्मक सोच आवश्यक हैं। इसी कारण पातंजली योग और कर्म निर्जरा के भेदों में ध्यान से पूर्व स्वाध्याय की साधना पर जोर दिया गया है। स्वाध्याय के अभाव में नकारात्मक निवृत्ति का मार्ग हानिकारक और भटकाने वाला हो सकता है। आध्यात्मिक साधकों को चन्द्र नाड़ी की क्रियाशीलता का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

लम्बे समय तक रात्रि में लगातार चन्द्र स्वर चलना और दिन में सूर्य स्वर चलना, रोगी की अशुभ स्थिति का सूचक होता है और उसकी आयुष्य चन्द मास ही शेष रहती है।

सूर्य नाड़ी का कार्य प्रवृत्ति का मार्ग है। यह वह मार्ग है जहां अन्तर्जगत गौण होता है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ तथा महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु कठिन परिश्रम करता है। कामनाओं और वासनाओं की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होता है। इसमें चेतना अत्यधिक बहिर्मुखी होती है। अतः ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक पथ पर सफलता पूर्वक आगे नहीं बढ़ पाते।

चन्द्र और सूर्य नाड़ी के क्रमशः प्रवाहित होते रहने के कारण ही व्यक्ति उच्च सजगता में प्रवेश नहीं कर पाता। जब तक ये क्रियाशील रहती है, योगाभ्यास में अधिक प्रगति नहीं हो सकती। जिस क्षण ये दोनों शांत होकर सुषुम्ना के केन्द्र बिन्दु पर आ जाती है तभी सुषुम्ना की शक्ति जागृत होती है और वहीं से अन्तर्मुखी ध्यान का प्रारम्भ होता है।

सुषुम्ना–

चन्द्र और सूर्य नाड़ी में जब श्वांस का प्रवाह शांत हो जाता है तो सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति की सुप्त शक्तियाँ सुव्यवस्थित रूप से जागृत होने लगती है। अतः वह समय अन्तर्मुखी साधना हेतु सर्वाधिक उपर्युक्त होता है। व्यक्ति में अहं समाप्त होने लगता है। अहं और आत्मज्ञान उसी प्रकार एक साथ नहीं रहते, जैसे दिन के प्रकाश में अन्धेरे का अस्तित्व नहीं रहता। अपने अहंकार को न्यूनतम करने का सबसे उत्तम उपाय सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी के प्रवाह को संतुलित करना है। जिससे हमारे शरीर, मन और भावनायें कार्य के नये एवं परिष्कृत स्तरों में व्यवस्थित होने लगती है। चन्द्र और सूर्य नाड़ी का असंतुलन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है। जीवन में सक्रियता व निष्क्रियता में, इच्छा व अनिच्छा में सुसुप्ति और जागृति में, पसन्द और नापसन्द में, प्रयत्न और प्रयत्नशीलता में, पुरुषार्थ और पुरुषार्थ हीनता में, विजय और पराजय में, चिन्तन और निश्चितता में तथा स्वछन्दता और अनुशासन में दृष्टिगोचर होता है।

ध्यान कब करें?

जब चन्द्र नाड़ी से सूर्य नाड़ी में प्रवाह बदलता है तो इस परिवर्तन के समय एक साम्य अथवा संतुलन की अवस्था आती है। उस समय प्राण ऊर्जा सुषुम्ना नाड़ी से प्रवाहित होती है अर्थात् यों कहना चाहिये कि सुषुम्ना स्वर चलने लगता है। यह साम्य अवस्था मात्र थोड़ी देर के लिए ही होती है। यह समय ध्यान के लिए सर्वोत्तम होता है। ध्यान की सफलता के लिए प्राण ऊर्जा का सुषुम्ना में प्रवाह आवश्यक है। इस परिस्थिति में व्यक्ति न तो शारीरिक रूप से अत्यधिक क्रियाशील होता है और न ही मानिसक रूप से विचारों से अति विक्षिप्त। प्राणायाम एवं अन्य विधियों द्वारा इस अवस्था को अपनी इच्छानुसार प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि योग साधना में प्राणायाम को इतना महत्व दिया जाता है। प्राणायाम ध्यान हेतु ठोस आधार बनाता है। कपाल भाति प्राणायाम करने से सुषुम्ना स्वर शीघ्र चलने लगता है।

स्वरों की पहचान–

नथूने के पास अपनी अंगुलियाँ रख श्वसन क्रिया का अनुभव करें। जिस समय जिस नथूने से श्वास प्रवाह होता है, उस समय उस स्वर की प्रमुखता होती है। बांये नथूने से श्वास चलने पर चन्द्र स्वर, दाहिने नथूने से श्वास चलने पर सूर्य स्वर तथा दोनों नथूने से श्वास चलने की स्थिति को सुषुम्ना स्वर का चलना कहते है।

स्वर को पहचानने का दूसरा तरीका है कि हम बारी–बारी से एक नथूना बंद कर दूसरे नथूने से श्वाल लें और छोड़े। जिस नथूने से श्वसन सरलता से होता है, उस समय उससे सम्बन्धित स्वर प्रभावी होता है।

स्वर बदलने के नियम–

अस्वभाविक अथवा प्रवृत्ति की आवश्यकता के विपरीत स्वर शरीर में अस्वस्थता का सूचक होता है। निम्न विधियों द्वारा स्वर को सरलतापूर्वक कृत्रिम ढंग से बदला जा सकता है, ताकि हमें जैसा कार्य करना हो उसके अनुरूप स्वर का संचालन कर प्रत्येक कार्य को सम्यक् प्रकार से पूर्ण क्षमता के साथ कर सकें।

1. जो स्वर चलता हो, उस नथूने को अंगुलि से या अन्य किसी विधि द्वारा थोड़ी देर तक दबाये रखने से, विपरीत इच्छित स्वर चलने लगता है।
2. चालू स्वर वाले नथूने से पूरा श्वास ग्रहण कर, बन्द नथूने से श्वास छोड़ने की क्रिया बार–बार करने से बन्द स्वर चलने लगता है।
3. जो स्वर चालू करना हो, शरीर में उसके विपरीत भाग की तरफ करवट लेकर सोने तथा सिर को जमीन से थोड़ा ऊपर रखने से इच्छित स्वर चलने लगता है।
4. जिस तरफ का स्वर बंद करना हो उस तरफ की बगल में दबाव देने से चालू स्वर बंद हो जाता है तथा इसके विपरीत दूसरा स्वर चलने लगता है।
5. जो स्वर बंद करना हो, उसी तरफ के पैरों पर दबाव देकर थोड़ा झुककर उसी तरफ खड़ा रहने से उस तरफ का स्वर बन्द हो जाता है।

6. जो स्वर बंद करना हो, उधर गर्दन को घुमाकर ठोडी पर रखने से कुछ मिनटों में वह स्वर बन्द हो जाता है।
7. घी अथवा शहद जो भी बराबर पाचन हो सके, पीने से चालू स्वर तुरन्त बन्द हो जाता है। परन्तु साधारण अवस्था में दूध या अन्य तरल पदार्थ पीने से भी स्वर बदली हो जाता है।
8. चलित स्वर में स्वच्छ रूई डालकर नथूने में अवरोध उत्पन्न करने से स्वर बदल जाता है।
9. कपाल-भांति और नाड़ी शोधन प्राणायाम से सुषुम्ना स्वर चलने लगता है।

स्वर का प्रभाव-

निरन्तर चलते हुए सूर्य या चन्द्र स्वर के बदलने के सारे उपाय करने पर भी यदि स्वर न बदले तो रोग असाध्य होता है तथा उस व्यक्ति की मृत्यु समीप होती है। मृत्यु के उक्त लक्षण होने पर भी स्वर परिवर्तन का निरन्तर अभ्यास किया जाय तो मृत्यु को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है।

वैसे तो शरीर में चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर चलने की अवधि व्यक्ति की जीवनशैली और साधना पद्धति पर निर्भर करती है। परन्तु जनसाधारण में चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर 24 घंटों में बराबर चलना अच्छे स्वास्थ्य का सूचक होता है। दोनों स्वरों में जितना ज्यादा असंतुलन होता है उतना ही व्यक्ति अस्वस्थ अथवा रोगी होता है। संक्रामक और असाध्य रोगों में यह अन्तर काफी बढ़ जाता है। लम्बे समय तक एक ही स्वर चलने पर व्यक्ति की मृत्यु शीघ्र होने की संभावना रहती है। अतः सजगता पूर्वक स्वर चलने की अवधि को समान कर असाध्य एवं संक्रामक रोगों से मुक्ति पाई जा सकती है। सजगता का मतलब जो स्वर कम चलता है उसको कृत्रिम तरिकों से अधिकाधिक चलाने का प्रयास किया जाए तथा जो स्वर ज्यादा चलता है, उसको कम चलाया जाये। कार्यो के अनुरूप स्वर का नियन्त्रण और संचालन किया जावे।

चिकित्सा में स्वरों की प्रयोग विधि-

1. गर्मी सम्बन्धी रोग- गर्मी, प्यास, बुखार, पीत्त सम्बन्धी रोगों में चन्द्र स्वर चलाने से शरीर में शीतलता बढ़ती है, जिससे गर्मी से उत्पन्न असंतुलन दूर हो जाता है।

2. कफ सम्बन्धी रोग- सर्दी, जुकाम, खांसी, दमा आदि कफ सम्बन्धी रोगों में सूर्य स्वर अधिकाधिक चलाने से शरीर में गर्मी बढ़ती है। सर्दी का प्रभाव दूर होता है।

3. आकस्मिक रोग- जब रोग का कारण समझ में न आये और रोग की असहनीय स्थिति हो, ऐसे समय रोग का उपद्रव होते ही जो स्वर चल रहा है उसको बन्द कर विपरीत स्वर चलाने से तुरन्त राहत मिलती है।

प्रत्येक व्यक्ति को स्वर में होने वाले परिवर्तनों का नियमित आंकलन और समीक्षा करनी चाहिए। दिन-रात चन्द्र और सूर्य स्वर का बराबर चलना संतुलित स्वास्थ्य का सूचक होता है।

यदि एक स्वर ज्यादा और दूसरा स्वर कम चले तो शरीर में असंतुलन की स्थिति बनने से रोग होने की संभावना रहती है। हम स्वर के अनुकूल जितनी ज्यादा प्रवृत्तियां करेंगे, उतनी अपनी क्षमताओं का अधिकाधिक लाभ अर्जित कर सकेंगे।

स्वरोदय विज्ञान के अनुसार व्यक्ति प्रातः निद्रा त्यागते समय अपना स्वर देखें। जो स्वर चल रहा है, धरती पर पहले वही पैर रखे। बाहर अथवा यात्रा में जाते समय पहले वह पैर आगे बढ़ावे, जिस तरफ का स्वर चल रहा है। साक्षात्कार के समय इस प्रकार बैठे की साक्षात्कार लेने वाला व्यक्ति बन्द स्वर की तरफ हो, तो सभी कार्यों में इच्छित सफलता अवश्य मिलती है।

पंचमहाभूतों का स्वर पर प्रभाव–

पंच महाभूत तत्त्व (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) तथा ज्योतिष के नवग्रह की स्थिति का भी हमारे स्वर से प्रत्येक–परोक्ष सम्बन्ध होता है। शरीर में प्रत्येक समय अलग–अलग तत्त्वों की सक्रियता होती है। शरीर की रसायनिक संरचना में भी पृथ्वी और जल तत्त्व का अनुपात अन्य तत्त्वों से अधिक होता है। सारी दवाईयां प्रायः इन्हीं दो तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है। अतः जब शरीर में पृथ्वी तत्त्व प्रभावी होता है, उस समय किया गया उपचार सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। उससे कम जल तत्त्व की सक्रियता पर प्रभाव पड़ता है।

शरीर में किस समय कौनसा तत्त्व प्रभावी होता है, उनको निम्न प्रयोगों द्वारा मालूम किया जा सकता है।

विधि नं. 1– दोनों कान, दोनों आँखें, दोनों नथूने और मुंह बंद करने के पश्चात्–

(a) यदि **पीला रंग** दिखाई दे तो उस समय शरीर में **पृथ्वी तत्त्व** प्रभावी होता है।

(b) यदि **सफेद रंग** दिखाई दे तो उस समय शरीर में **जल तत्त्व** प्रभावी होता है।

(c) यदि **लाल रंग** दिखाई दे तो उस समय शरीर में **अग्नि तत्त्व** प्रभावी होता है।

(d) यदि **काला रंग** दिखाई दे तो उस समय शरीर में **वायु तत्त्व** प्रभावी होता है।

(e) यदि **मिश्रीत (अलग–अलग) रंग** दिखाई दे तो उस समय शरीर में **आकाश तत्त्व** प्रभावी होता है।

विधि नं. 2–

(a) मुख का स्वाद **मधुर** हो, उस समय **पृथ्वी तत्त्व** सक्रिय होता है।

(b) मुख का स्वाद **कसैला** हो, उस समय **जल तत्त्व** सक्रिय होता है।

(c) जब मुख का स्वाद **तीखा** हो, उस समय **अग्नि तत्त्व** सक्रिय होता है।

(d) जब मुख का स्वाद **खट्टा** हो, उस समय **वायु तत्त्व** सक्रिय होता है।

(e) जब मुख का स्वाद **कड़वा** हो, उस समय **आकाश तत्त्व** सक्रिय होता है।

विधि नं. 3– स्वच्छ दर्पण पर मुह से श्वांस छोड़ने पर (फूक मारने पर) जो आकृति बनती है, वे उस समय शरीर में प्रभावी तत्त्व को इंगित करती है।

(a) यदि मुंह से निकलने वाली वाष्प से **चौकोर आकार** बनता हो तो, **पृथ्वी तत्त्व** की प्रधानता।

(b) यदि मुंह से निकलने वाली वाष्प से **त्रिकोण आकार** बनता हो तो, **अग्नि तत्त्व** की प्रधानता।

(c) यदि मुंह से निकलने वाली वाष्प से **अर्द्ध चंद्राकार आकार** बनता हो तो, **जल तत्त्व** की प्रधानता।

(d) यदि मुंह से निकलने वाली वाष्प से **वृताकार (गोल) आकार** बनता हो तो, **वायु तत्त्व** की प्रधानता।

(e) यदि मुंह से निकलने वाली वाष्प से **मिश्रीत आकार** बनता हो तो, **आकाश तत्त्व** की प्रधानता।

जिज्ञासु व्यक्ति अनुभवी स्वरशास्त्री से स्वरोदय विज्ञान का अवश्य गहन अध्ययन करें। क्योंकि स्वर विज्ञान से न केवल रोगों से बचा जा सकता है, अपितु प्रकृति के अदृश्य रहस्यों का भी पता लगाया जा सकता है। मानव देह में स्वरोदय ऐ ऐसी आश्चर्यजनक, सरल, स्वावलम्बी, प्रभावशाली, बिना किसी खर्च वाली चमत्कारी प्रणाली होती है, जिसका ज्ञान और सम्यक् पालना होने पर किसी भी सांसारिक कार्यो में असफलता की प्राय: संभावना नहीं रहती। स्वर विज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति करने से साक्षात्कार में सफलता, भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभ्यास, सामने वाले व्यक्ति के अन्तरभावों को सहजता से समझा जा सकता है। जिससे प्रतिदिन उपस्थित होने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों से सहज बचा जा सकता है। अज्ञानवश स्वरोदय की जानकारी के अभाव से ही हम हमारी क्षमताओं से अनभिज्ञ होते हैं। रोगी बनते हैं तथा अपने कार्यो में असफल होते हैं। स्वरोदय विज्ञान प्रत्यक्ष फलदायक है, जिसको ठीक-ठीक लिपीबद्ध करना संभव नहीं। केवल जनसाधारण के उपयोग की कुछ मुख्य सैद्धान्तिक बातों की आंशिक और संक्षिप्त जानकारी ही यहां दी गई है।

छठा अध्याय

पातंजलि योग और स्वास्थ्य

योग क्या है ?

योग शब्द 'युजु' धातु से बना हैं। जिसका शाब्दिक अर्थ है जुड़ना या मिलना। जब व्यक्ति आत्मा से जुड़ जाता है तथा उससे साक्षात्कार कर लेता है तो वह स्वयं को नर से नारायण और आत्मा को परमात्मा बना देता है। योग सुखी जीवन जीने की सरल एवं प्रभावशाली श्रेष्ठ विधि है। जिसके द्वारा मनुष्य का शरीर पूर्ण स्वस्थ, इन्द्रियों में अपार शक्ति, मन में अपूर्व आनन्द, बुद्धि में सम्यक् ज्ञान एवं भावों में कषायों की मंदता और सजगता आती है, वही सच्चा योग होता है। योग साधना से मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। योग द्वारा शरीर में रोग, इन्द्रियों से थकावट और कमजोरी, मन से चिंता, भय, आवेगों से अपने आपको मुक्त रखा जा सकता है। वर्तमान में प्रचलित योग का मुख्य आधार पातंजलि द्वारा निर्धारित अष्टांग योग साधना है। पातंजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान और समाधि के द्वारा योग के आठ अंगों का क्रमानुसार निर्देश दिया है। जिसकी सम्यक् विधि से क्रियान्विति करने पर मनुष्य अपने परम लक्ष्य मोक्ष तक को प्राप्त कर सकता है। योग की सारी साधना व्यक्ति के स्वयं के सम्यक् पुरुषार्थ पर ही निर्भर करती है। जो मानव की सम्यक् जीवन शैली का ही रूप होता है। योग शरीर को विशेष प्रकार से मोड़ना अथवा घुमाना मात्र व्यायाम ही नहीं है, अपितु मन, वचन और काया का सम्यक् संयम, तालमेल और संतुलन ही सच्चा योग होता है। वास्तव में योग सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण की उत्कृष्ट साधना है। जिससे शरीर, मन और आत्मा ताल से ताल मिलाकर कार्य करते हैं। तीनों के विकारों से लड़ने की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है तथा तीनों निर्विकारी बनते हैं। यही मनुष्य जीवन का ध्येय होता है।

यमः- यम का मतलब होता है निग्रह अर्थात् छोड़ना। हम जीवन में क्या छोड़े? क्यों छोड़े? हमारे जीवन को जो विकारी बनाते हैं, पतित बनाते हैं, जीवन के लिए जो अकरणीय हैं, उनको छोड़ें बिना जीवन का विकास हो नहीं सकता। पातंजलि ने ऐसे पांच यमों को योग की आधारशिला माना है। ये पांच यम है हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन या व्यभिचार तथा परिग्रह का त्याग। मनुष्य की सारी प्रवृतियाँ तीन करण द्वारा होती है। जैसे स्वयं किसी कार्य को करना, दूसरों से किसी कार्य को करवाना तथा तीसरा किसी कार्य करने वालों की अनुमोदना या प्रशंसा करना। उसके साथ तीन में से कोई न कोई योग अवश्य होता है। ये तीन योग है, मन का योग, वचन का योग और काया का योग। जैसे किसी कार्य को मन से करना, वाणी से करना, काया से करना। अन्य से करवाना अथवा कार्य करने वालों की मन, वाणी या काया से अनुमोदना करना, सहयोग देना। बिना करण और योग के कार्य नहीं हो सकता। किसी प्रवृत्ति के लिए कम से कम तीन करण और तीन योग में से एक करण और एक योग का होना अनिवार्य होता है। सच्चा साधक इन पाँचों यमों का पूर्ण रूप से तीन करण और तीन योग से जीवन भर पालन करता है। उसके जिल संकल्प बद्ध होता है। अतः उनके व्रतों को महाव्रत कहते है। जैसे-जीवन पर्यन्त मन, वचन और काया से किसी जीव को न तो स्वयं कष्ट पहुँचाना, न किसी अन्य व्यक्ति को कष्ट पहुँचाने में सहयोगी बनना और न प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से किसी भी चेतनाशील प्राणी को कष्ट पहुँचाने वाले को प्रोत्साहित करना, अच्छा न मानना ही हिंसा का पूर्णतः त्याग होता है। हिंसा-अहिंसा को जानने के लिए जीव क्या है? अजीव क्या है, का जानना, समझना आवश्यक है? उसके बिना पूर्ण अहिंसा का पालन कैसे संभव हो सकता है? परन्तु आज के मानव ने हिंसा को मात्र मानव तक सीमित कर दिया है। स्वार्थवश अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाते उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। वनस्पति और पानी में भी आधुनिक विज्ञान ने जीव माना है परन्तु उनका दुरुपयोग करते प्रायः अधिकांश अहिंसक कहलाने वाले मानव तनिक भी नहीं हिचकिचाते। पृथ्वी, वायु और अग्नि में भी जीव होते हैं। अतः उनका कैसे उपयोग किया जाये, जानना और समझना आवश्यक है। आज पर्यावरण की सारी समस्याओं का कारण उनके प्रति हमारा अज्ञान और अविवेक ही हैं। हिंसा का मतलब किसी जीव को कष्ट पहुँचाना, प्रताड़ित करना, मारना आदि। दुःख देने से दुःख मिलता है। यह प्रकृति का सनातन सिद्धान्त हैं। हिंसा दो प्रकार की होती है। प्रथम द्रव्य हिंसा तथा दूसरी भाव हिंसा। वर्तमान में मात्र द्रव्य हिंसा तक ही हमारा सोच प्रायः सीमित होता जा रहा है। परन्तु द्रव्य हिंसा की जड़ भाव हिंसा ही होती है। जिसके मूल कारण होते हैं आसक्ति, अनैतिकता, अनावश्यक कामनाएँ, धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक उन्माद, जातिवाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद की संकीर्ण भावना तथा इन सब के मूल में होता है आध्यात्मिक चेतना का अभाव, स्वछन्द एवं संकीर्ण मनोवृत्तियाँ। ये ही वे कारण हैं, जो दूसरों के साथ निर्दयता, क्रूरता और दुःख देने जैसी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हैं, तथा हिंसा को बढ़ावा देते हैं। रोग भी एक प्रकार का दुःख है। अतः हमें अन्य जीवों को किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से कष्ट नहीं देना चाहिये। यही स्वास्थ्य अथवा योग साधना की प्रारम्भिक भूमिका होती है।

मन में जैसा सम्यक् ज्ञान से सोचा समझा हो, आंखों से जैसा जो कुछ देखा हो और कानों से जैसा जो कुछ सुना हो उसे ठीक वैसा ही अभिव्यक्त न करना झूठ कहलाता है और वैसा ही प्रस्तुतिकरण करना सत्य कहलाता है। किसी भी वस्तु को बिना पूछे लेना चोरी कहलाता है। समस्त इन्द्रियों के विषय विकारों पर संयम न रखना असंयम कहलाता है और उनका संयम ब्रह्मचर्य होता है। जबकि परिग्रह का मतलब धन, परिवार और अन्य भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति भाव या लगाव होना। अतः योगाभ्यास करने से पूर्व प्रत्येक साधक के लिए इन दुर्गुणों को त्याग कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन आवश्यक होता है। जो योग की सफलता की आधारशिला है। बिना नींव के मकान बन नहीं सकता। बिना जड़ के वृक्ष विकसित नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार यम के पालन के बिना योग का सम्पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, मात्र शरीर की कार्य क्षमता बढ़ती है। यमों के पालन की कोई सीमा अथवा अवधि नहीं होती। वे सदैव सभी परिस्थितियों में प्राथमिकता के आधार पर आचरणीय होते हैं। जैन संतों के पांचों यमों के पूर्णतया पालन का संकल्प होता है तथा सच्चे आत्मार्थी साधु आज भी उनका पालन करते देखे जा सकते हैं। जैन साधुओं के आचरणीय पाँच महाव्रत और पातंजलि योग में वर्णित पांच यम पूर्ण रूप से समान हैं।

नियमः-

नियम अथवा सिद्धान्त जीवन की वे प्रवृत्तियाँ हैं, जो योग के लिए अनिवार्य होती है तथा जो यम के पालन में सहयोग करते हैं। मुख्य नियम भी पांच हैं। शौच अथवा शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान। शौच का मतलब मन, वाणी और काया की पवित्रता अर्थात् आत्मा की विकारों से शुद्धि। संयोग-वियोग, अनुकूल-प्रतिकूल, लाभ-हानि के प्रसंगों पर सदैव प्रसन्नचित रहना, विचलित न होना अर्थात् समभाव रखना ही संतोष कहलाता है। सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास जैसे कष्टों को आत्म-शुद्धि के लिए सम्यक् दृष्टिकोण से की जाने वाली मन, वचन और काया भी साधना को तप कहते हैं। तप का मतलब है, जो आत्मा को तुरन्त पवित्र करे। जिस प्रकार अग्नि में सोना तपाने से उसका मेल दूर हो जाता है, सोना शुद्ध हो जाता है। ठीक उसी प्रकार तप की अग्नि से शरीर की इन्द्रियाँ, मन और आत्मा के विकार भी दूर हो जाते हैं। तप मुख्यतया दो प्रकार का होता है। पहला बाह्य तप जिसके द्वारा पांचों इन्द्रियों और मन की बाह्य अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागा जाता है। दूसरा है आन्तरिक तप। जो व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है।

स्वयं के द्वारा स्वयं के स्वरूप का सम्यक् चिन्तन, मनन, निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षा करना स्वाध्याय कहलाता है। जैसे मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है? मैं कहाँ जाऊँगा? मैं अपने लक्ष्य को कैसे प्राप्त करूँगा? जन्म से पूर्व मेरा क्या अस्तित्व था और मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या स्थिति होगी? आत्मा क्या हैं? क्या मैं मात्र शरीर हूँ? मेरे सारे संयोग-वियोग का संचालक कौन है? मेरे जीवन का सही उद्देश्य क्या है? आत्मा और शरीर का क्या संबंध हैं? तन में व्याधि, मन में संकल्प-विकल्प, इच्छा-कामना, स्मृति-विस्मृति आदि का मूल क्या है? सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र आदि का सम्यक् चिन्तन करना स्वाध्याय कहलाता है।

आत्मा की कर्मो से मुक्तावस्था, शुद्धावस्था परमात्मा का स्वरूप होती है। अतःमन, वचन और काया से ऐसी प्रवृत्तियाँ करना जिससे आत्मा परमात्मा बन जाए, ईश्वर प्राणिधान कहलाता है।

यम-नियम के पालन से शरीर के अवयव रसायनयुक्त हो जाते हैं। उनमें रोग प्रतिकारात्मक क्षमता बढ़ जाती है तथा मनोबल मजबूत हो जाता है। विकार दूर हो जाते हैं। समभाव की प्राप्ति होने से तन और मस्तिष्क में सन्तुलन हो जाता है। जो स्वास्थ्य की आधार शिला होती है। बिना यम-नियम के पालन से योग का आंशिक लाभ ही मिलता है।

यम का सदैव एवं पूर्णता के साथ पालन करना आवश्यक होता है। उसमें किसी प्रकार की छूट नहीं होती परन्तु नियम अथवा मर्यादाओं के पालन में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी हो सकता है। नियम से यम पुष्ट होते हैं।

आसनः-

यम-नियम के पालन से व्यक्ति अपनी क्षमताओं से परिचित हो जाता है। जीवन का सही उद्देश्य समझ में आ जाता है। उसकी प्राथमिकताएँ बदल जाती है। वह अपना अवमूल्यन नहीं करता। उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है। रोग प्रतिरोधक क्षमता और सहनशक्ति बढ़ जाती है।

यम नियम का अपनी क्षमतानुसार अधिकाधिक पालन करने के पश्चात् ही पातंजलि ने अष्टांग योग में आसन को रखा। आसन शरीर की वह स्थिति है, जिससे शरीर बिना किसी बैचेनी के स्थिर रह सके और मन को सुख की प्राप्ति हो। आसन करने से मांसपेशियों में खिंचाव होता है। जिससे उनका विकास होता है। सुस्ती दूर होती है। शरीर में हल्कापन आता है। नाड़ियों की शुद्धि, स्वास्थ्य की वृद्धि एवं तन-मन में सक्रियता आती है।

आसन व्यायाम का ही वैज्ञानिक रूप होता है। आसनों से शरीर के ऊर्जा केन्द्र जागृत होते हैं और शरीर में आवश्यक हारमोन्स बनाने वाली अन्तःश्रावी ग्रन्थियाँ बराबर कार्य करने लगती है। आसनों के अलावा प्रायः अन्य कोई ऐसा सरल व्यायाम नहीं होता जिससे शरीर के सभी अंगों की यथोचित कसरत हो सके।

योग साधकों के लिए अन्य व्यायामों की अपेक्षा आसन ही अधिक उपयोगी होते हैं। आसन में अन्य पहलवानी जैसे, कठिन व्यायामों जितनी ऊर्जा खर्च नहीं होती, जिसकी पूर्ति के लिए अधिक मात्रा में पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। राजसिक एवं पौष्टिक आहार से इन्द्रियाँ उत्तेजित होती है, वृत्तियाँ राजसिक और तामसिक बनती है। परन्तु योगी के लिए अल्प सीमित और सात्विक आहार लेने का ही विधान होता है। अतः योगियों के लिए आसन ही श्रेष्ठतम व्यायाम होता है।

स्वर्गीय जैनाचार्य आत्मारामजी महाराज के अनुसार आसन वह शारीरिक साधना है, जिसके द्वारा शरीर की समस्त जीवन प्रक्रिया को नियन्त्रित किया जाता है, श्वास-प्रश्वास को बल दिया जाता है। शरीर के रक्तसंचार को सुव्यवस्थित एवं शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार शरीर को आलस्य से मुक्त कर साधना के योग्य बनाया जाता है।

आसन से दृढ़ता आती है। नाड़ी तंत्र मजबूत होता है। सभी जैन तीर्थंकरों एवं बुद्ध की मूत्तियाँ प्रायः पदमासन में ही मिलती है। भगवान महावीर की सारी साधना अलग-अलग आसनों में हुई। नमाज पढ़ने के लिये तथा जैन धर्म में प्रतिक्रमण की आराधना करते समय विविध आसनों तथा वंदन करते समय विशेष आसन का विधान होता है।

नियमित करणीय आसन

वज्रासनः-

जैसा कि इस आसन का नाम है उसी के अनुरूप इस आसन से शरीर वज्र की तरह बन जाता है। शरीर की रोग प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ती है। शरीर और मन में विकार उत्पन्न नहीं होते। वीर्य विकार सम्बन्धी रोगों, अनियमित महावारी वाली स्त्रियों को इस आसन से विशेष लाभ होता है। इस आसन का नियमित अभ्यास करने वालों को मौसम परिवर्तन से होने वाले रोगों एवं एलर्जी संबंधी रोगों तथा छूत की बीमारियां होने की संभावनाएँ प्रायः नहीं रहती। आजकल युवक और युवतियों में काम विकार पैदा करने वाले दृश्यों को टी.वी., सिनेमा अथवा अन्य माध्यमों द्वारा देखने की प्रवृति अधिक होने से अथवा ऐसा गंदा साहित्य पढ़ने से प्रायः स्वप्न दोष और वीर्य स्खलन आदि रोग होने की संभावनाएँ अधिक होती है। जिसके प्रभाव से हाथ की अंगुलियों के नाखुनों के नीचे सफेद चन्द्राकार निशान बन जाते है। ऐसे वीर्य विकारों के नियन्त्रण के लिए सर्वोत्तम आसन सिद्ध हुआ है। यही एक ऐसा आसन है, जिसे भोजन के बाद भी किया जा सकता है, जिससे पाचन अच्छा होता है। इस आसन को जितना अधिक किया जाता है, उतना ही अधिक लाभ होता है। एडी से लगाकर गर्दन तक के रोगों में इस आसन से विशेष लाभ होता है।

गोदुहासनः-

गोदुहासन में दोनों पंजों के बल बैठा जाता है। इस आसन में जितना अधिक बैठने का अभ्यास किया जाता है, उतना अधिक शरीर एवं मेरुदण्ड का संतुलन बना रहता है। शरीर का संवेदन तंत्र अधिक सक्रिय रहता है। ध्यान में एकाग्रता आती है। भगवान महावीर को इसी आसन में ध्यान करते हुए केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।

ताड़ासन से रोग-ग्रस्त मांसपेशियों का निदानः-

हमारा शरीर मज्जा तंत्र, नाड़ी तंत्र, अस्थि तंत्र आदि अनेक तंत्रों से मिलकर बना होता है। रोग की अवस्था में सभी तंत्रों की कार्य प्रणाली प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से कम ज्यादा अवश्य प्रभावित होती है। अतः किसी भी विधि द्वारा यदि किसी भी तंत्र को पूर्णतः स्वस्थ कर लिया जाता है तो, शरीर में असाध्य एवं संक्रामक रोगों की संभावनाएँ समाप्त हो जाती है। कमजोर मांस-पेशियों का निदान करने में ताड़ासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

इस आसन में दोनों पंजों के बल जितनी देर खड़ा रहा जा सकता है उतनी देर तक खड़े होकर दोनों हाथों को सिर से ऊपर की तरफ जितना सहन हो सके, खिंचाव दिया जाता है। परिणाम स्वरूप पगथली से लगाकर गर्दन तक सारी मांसपेशियों में तनाव यानि खिंचाव होने लगता है। परिणामस्वरूप जो जो मांसपेशियाँ अशक्त

अथवा कमजोर होती है, उनमें उपस्थित विकारों के अनुरूप दर्द एवं पीड़ा होने लगती है। जितना अधिक दर्द की अनुभूति न होने से उनके रोगों का जनसाधारण को प्रायः पता नहीं चलता, परन्तु वे रोग को अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य सहयोग करती है। यदि उन पीड़ा ग्रस्त मांसपेशियों का उपचार पद्धतियों द्वारा उपचार कर ठीक कर लिया जाता है तो, शरीर में किसी भी नाम से उपस्थित प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रोग शीघ्र ठीक होने लगता है।

शवासनः-

शवासन शरीर के शिथिलिकरण का सरलतम उपाय है। उन अवस्था में मांसपेशियों का हलन-चलन बंद हो जाने से, मांसपेशियों की सूचना मस्तिष्क तक पहुँचाने वाली संवेदन नाड़ी तथा मस्तिष्क से मांसपेशियों को निर्देश लाने वाली क्रियाशील नाड़ी (मोटर नर्व) दोनों का कार्य बंद हो जाता है। अतः शवासन में हम जितना अधिक निष्क्रिय होते है, उतना ही अधिक मांसपेशियों को आराम मिलता है।

शारीरिक आवश्यकतानुसार आसनों का विभाजनः-

आसन वैसे तो अनेक होते हैं। फिर भी इनको मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. **विश्रामात्मक आसन**- जो शरीर की थकान दूर करते हैं।
2. **ध्यानात्मक आसन**- जो ध्यान के लिए विशेष उपयोगी होते हैं।
3. **व्यायात्मक आसन**- जो शरीर को स्वस्थ, लचीला और रोग मुक्त करते हैं।

शरीर की स्थिति के अनुसार आसनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. **खड़े-खड़े करने वाले आसन**- इन आसनों में हाथ, पैर और कमर का परिश्रम अधिक होता है।
2. **बैठकर करने वाले आसन**- इन आसनों में पीठ, गर्दन, कंधे अधिक श्रम करते हैं।
3. **लेट कर करने वाले आसन**- इन आसनों में पेट, छाती, गले आदि को अधिक श्रम करना पड़ता है।

दैनिक कार्यक्रमों में हमें चिंतन करना होगा कि किन अंगों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है और शरीर के किन भागों को कम श्रम करना पड़ता है। जिन अंगों को अधिक कार्य करना पड़ता है, उन अंगों के लिए व्यायाम की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि जो अंग कम अथवा बिल्कुल कार्य नहीं करते हैं उनके लिए होती हैं।

सही आसनों का चयन आवश्यकः-

जो अंग कम कार्य करते हैं अथवा अधिक निर्बल होते हैं, उन्हें सतेज एवं पुष्ट करने की विशेष आवश्यकता होती है। अतः आसन का चयन करते समय इस बात का विवेक रखा जाये कि अधिक कार्य करने वाले को आराम दिया जाए अन्यथा अधिक श्रम की गर्मी से शरीर का वह भाग विकृत हो जायेगा। साथ ही जो भाग कम कार्य करते हैं, उनसे श्रम कराया जाये, अन्यथा शरीर का वह भाग निस्तेज, निष्क्रिय, निकम्मा, क्रियाहीन और कमजोर होकर रोगों का घर बन जायेगा।

अनुभवियों का ऐसा निष्कर्ष है कि कमजोर, वृद्ध और बुद्धिजीवी लोगों को लेटकर किये जाने वाले आसन प्रायः अधिक उपयोगी होते हैं। जिनके पेट और छाती में निर्बलता होती है, भूख कम लगती है, मल त्याग बराबर नहीं होता, कफ, जुकाम, खांसी आदि की शिकायत बनी रहती है, उन्हें पेट पर दबाव डालने वाले आसन अधिक उपयोगी होते हैं।

कौनसे व्यक्ति को कौनसा आसन उपयोगी और लाभकारी होता है, उसका निर्णय करने से पूर्व उस व्यक्ति की शारीरिक संरचना, स्वभाव, दिनचर्या, स्वास्थ्य, उम्र आदि का निरीक्षण करना आवश्यक होता है। किसी की नसें इतनी कड़ी होती है कि, वे निश्चित सीमा तक ही मुड़ सकती हैं। जबकि कुछ व्यक्तियों का शरीर इतना लचीला होता है कि उसको काफी मोड़ा जा सकता है। जिन आसनों में शरीर को अधिक मोड़ने की आवश्यकता होती है, वे लचीली शारीरिक संरचना वाले लोगों के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं, परन्तु जिनकी नाड़ियाँ कड़ी एवं कठोर होती हैं, उनके लिए दूसरे आसन ज्यादा हितकर होते हैं।

कौनसा आसन हमारी शरीर संरचना और आवश्यकता के अनुकूल होता है, उसका अनुभव व्यक्ति की स्वयं की सजगता पर निर्भर करता है। आसन का प्रयोग करते समय हमें इस बात का सूक्ष्मता से ध्यान रखना चाहिये कि उस आसन का दबाव शरीर के किन-किन अंगों पर कितना-कितना पड़ता है। दो तीन दिन के प्रयोग के पश्चात् हानि लाभ का अनुभव होने लगता है। उसी के अनुरूप स्वयं के लिए कुछ उपयोगी आसनों का चयन करना चाहिए। अपने बारे में जितनी जानकारी स्वयं को होती हैं उतनी किसी अन्य को हो नहीं सकती।

आसन को प्रभावी बनाने वाले तथ्यः-

कोई भी आसन झटके से नहीं करना चाहिए। किसी भी आसन को करने के पश्चात् उसके विपरीत दिशा में शरीर पर तनाव देने वाले आसन को भी अवश्य करना चाहिए। प्रत्येक आसन के पश्चात् यथा संभव शवासन अवश्य करना चाहिए।

आसनों के लिए प्रातःकाल का समय ही सर्वश्रेष्ठ होता है। आसन करते समय शरीर पर तंग कपड़े नहीं होने चाहिये, जिससे आसन करते समय शरीर से निकलने वाली गन्दी वायु के बाहर जाने में और उसके स्थान पर नवीन स्वच्छ वायु के स्पर्श में बाधा उपस्थित होती है। आसन ऐसे स्थान पर करना चाहिये जहाँ वातावरण में आक्सीजन की मात्रा अधिक हों।

आसन अनेक होते है और सबकी आवश्यकता अलग-अलग होती है। अतः आसन संबंधी सत्साहित्य का आलम्बन लेकर, अपने अनुकूल चंद नियमित आसनों का चयन कर लेना चाहिये। विशेष परिस्थितियों में अनुभवी योगाचार्य के निर्देशन में कठिन आसन भी सीख कर किये जा सकते हैं।

अंग व्यायाम-

जिस प्रकार यदि किसी गतिशील मशीन, वाहन अथवा स्प्रिंग को काम में न लिया जाएं तो उसमें जंग लगने से, भविष्य में उसका हलन-चलन प्रभावित हो सकता है। ठीक उसी प्रकार हमारे शरीर में भी ऐसी अनेकों

मांसपेशियाँ होती हैं जिसका हलन-चलन न होने से उस पर विकार जमा होने की संभावना रहती है। अतः यदि उन मांसपेशियों का नियमित रूप से हलन-चलन किया जाए तो उनमें विकृति आने की कम संभावना रहती है। अंग व्यायाम शरीर के प्रत्येक अंग-उपांग की मांसपेशियों को जितना संभव हो आगे-पीछे, दांयें-बांये, ऊपर-नीचे घुमाने, खींचने, दबाने, सिकोड़ने और फैलाने से सम्बन्धित अंग की मांसपेशियाँ सजग और सक्रिय हो जाने से, उस भाग में रक्त परिभ्रमण नियमित होने लगता है। आंख, कान, नाक, मुँह, गला और शरीर के मुख्य जोड़ों के अंग व्यायाम से वहाँ पर प्राण ऊर्जा का प्रवाह बराबर होने लगता है। अंग व्यायाम को उस अंग की यौगिक क्रियाएँ भी कहते हैं। विभिन्न अंगों के अंग व्यायाम उन्हीं अंगों के स्थानीय कष्टों में विशेष रूप होता है।

विशेष उपलब्धियों हेतु किए जाने वाले आसनों का सिद्धान्तः-

आसनों का सिद्धान्त यह है कि एक साधारण स्थिति में लेटना, बैठना या खड़ा होना चाहिए। फिर जिन निष्क्रिय अंगों को क्रियाशील बनाने हेतु आसन किया जाता है, शरीर के उस भाग को निश्चित सहनीय स्थिति तक धीरे-धीरे तानते हुए ले जाना चाहिए। निश्चित स्थिति में पहुँचकर उस स्थिति में कुछ समय के लिए ठहरना चाहिए। तदुपरान्त धीरे-धीरे पूर्व क्रिया को वापिस लौटाते हुए साधारण स्थिति पर पहुँच जाना चाहिये। साधारण स्थिति में रहकर उसी प्रक्रिया को पुनः-पुनः दोहराना चाहिए।

प्राणायामः-

शरीर को निश्चित अवधि के लिए आत्मा के रहने योग्य बनाये रहने की क्षमता हेतु जिस तत्त्व की प्रधान भूमिका होती है, उसे प्राण कहते है तथा उसकी ऊर्जा को प्राण ऊर्जा कहते हैं। प्राण के आधार पर ही मानव प्राणी कहलाता है। प्राण सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच का संबंध सूत्र होता है, जो स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर से जोड़ता है। प्राण ऊर्जा पंच महाभूत तत्त्वों (पृथ्वी, पानी, हवा, अग्नि, आकाश) के साथ मिलकर उन्हें उपयोगी बनाती है।

प्राणायाम को प्रभावी बनाने वाले त्रिबंधः-

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अतियोग अथवा दुरुपयोग से शारीरिक ऊर्जा का अपव्यय होता है। अतः आसन प्राणायाम के साथ कुछ बंधों के प्रयोग से योगाभ्यास किया जाये तो उसका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता है। बंध का अर्थ होता है- ''बांधना'' रोकना या कसना अथवा बंद करना। इसमें शरीर के निश्चित अंगों को बड़ी सतर्कता से संकुचित किया जाता है।

सामान्यतः योग में मुख्य बंध तीन होते हैं और चौथा इन तीनों का योग होता हैं- (1) जालन्धर बंध, (2) उड्डियान बंध, (3) मूल बंध, (4) महा बंध।

जालन्धर बंधः- ठोडी को कंठ कूप में स्पर्श करने से होने वाली शरीर की अवस्था को जालन्धर बंध कहते हैं। इससे गर्दन से गुजरने वाली नाड़िया नियन्त्रित होती हैं एवं सुषुम्ना स्वर चलने लगता है। कुम्भक कर जालन्धर लगाने से कुम्भक का समय बढ़ाया जा सकता है। जालन्धर बंध के समय रेचक और पूरक नहीं करना चाहिये।

जालन्धर बंध व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से लाभदायक होता है। इससे मानसिक शिथिलिकरण होता है और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। रक्त चाप और श्वसन नियन्त्रित होता है। थायराइड एवं पेराथायराइड ग्रन्थियाँ बराबर कार्य करने लगती।

जालन्धर बंध लगाने के पश्चात् गर्दन को कंधों पर टिका कुछ देर के लिए आँखें आकाश की तरफ रखनी चाहिए।

(2) उड्डियान बंधः- श्वास को बाहर निकालकर पेट को कमर की तरफ जितना सिकोड़ सके, बाह्य कुम्भक करने की स्थिति को उड्डियान बंध कहते हैं। यह बंध खाली पेट ही करना चाहिये। इस क्रिया से आमाशय का सम्पूर्ण भाग स्पंज की भांति निचोड़ा जाता है। जिससे जमा अथवा रूका हुआ रक्त पुनः प्रवाहित होने लगता है। फलतः पेट के सभी अंग सक्रिय होने लगते हैं। पेट की अनावश्यक चर्बी कम होने लगती हैं।

(3) मूल बंधः- मल द्वार को ऊपर से खींचकर संकुचित करने की शारीरिक स्थिति को मूल बंध कहते हैं। इस बंध से आंतों और प्रजनन अंगों संबंधी रोगों में लाभ होता है। मल मूत्र के रोगों में भी लाभ होता है। यह भूख को बढ़ाता है। यह बंध ब्रह्मचर्य पालन में सहायक होता है।

(4) महाबंधः- जब तीनों बंध एक साथ किये जाते हैं, शरीर की उस अवस्था को महाबंध कहते हैं। इस हेतु पहले जालन्धर बंध के साथ उड्डियान बंध लगाना चाहिये, उसके पश्चात् मूल बंध लगाना चाहिये। श्वास को जितना स्वाभाविक गति से रोक सकें, रोकना चाहिये। फिर पहले मूल बंध उसके पश्चात् उड्डियान बंध और अंत में जालन्धर बंध से मुक्त होना चाहिये। उसकी आवृतियाँ की जा सकती है। महाबंध से तीनों बंधों का लाभ एक साथ मिल जाता हैं।

बहुत से स्थानों का जलवायु विशेष स्वास्थ्यप्रद होता है। उसका कारण वहाँ प्राण तत्त्व की अधिक उपलब्धता होती है। इसके विपरीत जहाँ प्राण तत्त्व का अभाव होता है, वहाँ रोग होने की संभावना रहती है। जिस वायु में प्राण ज्यादा घुला होता है, उसे प्राण वायु भी कहते कह दिया जाता है।

प्राण ऊर्जा को व्यक्ति अपने अन्दर प्रचुर मात्रा में भर सकता है तथा जिसके प्रभाव से उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, चैतन्यता, स्फूर्ति, कार्य करने की क्षमता, सहन करने की शक्ति, मानसिक विचक्षणता आदि नाना प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती है और उस विधि का नाम हैं- प्राणायाम।

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ होता हैं- प्राण का आयाम। आयाम का मतलब वृद्धि करना। प्रत्येक योनि में हमें निश्चित श्वासों के खजाने के अनुसार आयुष्य प्राप्त होती है। यदि उन श्वासों को जल्दी-जल्दी अविवेक पूर्ण ढंग से पूर्ण कर दिया जाये तो हम जल्दी ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं और यदि उन्हीं श्वासों का अपव्यय न किया जाये, पूर्ण श्वास-प्रश्वास लिया और निकाला जाये तो उन सीमित श्वासों को लेने में हमें अधिक समय लगेगा अर्थात् हमारी आयु, जीवन अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो प्राणों की वृद्धि हो जायेगी। अतः सम्यक् प्रकार से आवश्यकतानुसार श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वासोयाम न कहकर कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

हमारी श्वास हमारे प्राणों अथवा चेतना को नियन्त्रित करती है। श्वास हमारे आन्तरिक भावों का नियन्त्रण करता है। भाव बदलते ही श्वास की गति बदल जाती है। आवेग के समय श्वास की गति तेज हो जाती है, जबकि शांति का भाव आते ही, श्वास की गति मंद हो जाती है। प्राण अथवा चेतना मन को प्रभावित करते हैं। मन से बुद्धि, बुद्धि से ज्ञान और विवेक तथा ज्ञान और विवेक से आत्मा प्रभावित होती है। प्राणायाम द्वारा मन, बुद्धि, ज्ञान, विवेक विकसित कर आत्मा को परमात्मा बनाया जा सकता है। शरीर का भारीपन, मन और मस्तिष्क के तनाव से श्वसन क्रिया भी प्रभावित हो जाती है। अतः प्राणायाम का उद्देश्य शरीर में प्राण ऊर्जा को उत्प्रेरित, संचालित, नियन्त्रित और संतुलित करना है। जिस प्रकार बाह्य शरीर की शुद्धि के लिए स्नान की जाती है, उसी प्रकार शरीर की आन्तरिक अवयवों की शुद्धि के लिए प्राणायाम का बहुत महत्त्व होता है। जब तक श्वसन क्रिया चालू है, तभी तक हमारा जीवन की प्रक्रिया को जानना, समझना और उसका ढंग से प्रयोग करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य हैं।

अधूरी श्वास लेने वालों के फेंफड़े का अधिकांश भाग निष्क्रिय पड़ा रहता है। जिन मकानों की सफाई नहीं होती, उनमें गन्दगी, मकड़ी, मच्छर आदि का प्रकोप होने लगता है। ठीक इसी प्रकार फेंफड़े के जिस भाग में श्वसन द्वारा शरीर में जाने वाली वायु नहीं पहुँचती, उनमें क्षय, खांसी, जुकाम कफ, दमा आदि रोग होने की संभावना बढ़ जाती है। अतः हमें ऐसी आदत डालनी चाहिये कि सदैव इस प्रकार श्वास ली जाए कि वायु से पूरे फेंफड़े भर जायें। यह कार्य तेजी अथवा झटके से न हों, अपितु सहज होना चाहिये। धीरे-धीरे इस प्रकार श्वास लें, ताकि सीना भरपूर चौड़ा हो जाये। फिर उसी क्रम से धीरे-धीरे इस प्रकार श्वास लें, ताकि सीना भरपूर चौड़ा हो जाये। फिर उसी क्रम से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल देना चाहिये। छाती का कमजोर और कम चौड़ा होना स्वास्थ्य के लिये एक अभिशाप होता है, जिसकी तरफ प्रत्येक व्यक्ति की सजगता आवश्यक है।

योग शास्त्रों में प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। उसमें से चन्द विधियाँ जो हमारे प्रतिदिन के लिए उपयोगी है उनकी सैद्धान्तिक जानकारी ही यहां दी जा रही है। जिज्ञासु व्यक्ति अनुभवी योग प्रशिक्षक के सानिध्य में प्राणायाम की विविध पद्धतियों का अवश्य विस्तृत अध्ययन एवं अभ्यास करें, क्योंकि प्राणायाम से सरल स्वास्थ्य सुरक्षा की दूसरी स्वावलम्बी विधि प्रायः संभव नहीं होती तथा प्राणायाम के अभाव में सम्पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्राणायाम की चार अवस्थाएँः-

प्राणायाम में श्वास अन्दर खींचने की प्रक्रिया को पूरक, श्वास बाहर निकालने की क्रिया को रेचक तथा श्वास को अन्दर बाहर रोकने की अवस्था को कुम्भक कहते हैं। प्राणायाम का मूल सिद्धान्त है श्वास धीरे-धीरे परन्तु जितना गहरा लम्बा लिया जा सके लें। श्वास लेते समय पेट पूरा फूल जाना चाहिये। श्वास को जितना ज्यादा देर रोक सकें, अन्दर रोकने का प्रयास करें, ताकि श्वसन द्वारा शरीर में प्रविष्ट प्राण वायु अपना कार्य वापस बाहर निकलने के पूर्व पूर्ण कर सके अर्थात् ऑक्सीजन का पूरा उपयोग हो सके। श्वास को धीरे-धीरे

निष्कासित करें। रेचक का समय पूरक से जितना ज्यादा होगा उतना प्राणायाम प्रभावकारी होता है। कुछ योगियों की ऐसी मान्यता है कि जितना ज्यादा श्वास को अंदर रोककर रखा जाता है उतनी अधिक शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है, परन्तु यदि दिमाग को शांत करना हो तो श्वास को बाहर अधिक रोकने का अभ्यास करना चाहिए।

नाड़ी शुद्धि प्राणायामः- नाड़ी शुद्धि होने के बाद ही प्राणायाम श्रेष्ठ ढंग से किया जा सकता है। नाड़ी शुद्धि के लिये जो प्राणायाम किया जाता है, उसे अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहा जाता है। जन साधारण को अनुलोम विलोम प्राणायाम से ही प्राणायाम का प्रारम्भ करना चाहिये। इसमें नासाग्र के किसी एक भाग से श्वास अन्दर लेकर दूसरे छिद्र से बाहर निकाला जाता है। फिर जिस छिद्र से श्वास बाहर निकाला जाता है, उसे नासाग्र से पूरक करके दूसरे छिद्र से रेचक किया जाता है। यह एक चक्र होता है। जितना कुम्भक कर सकें उतना अभ्यास करें। पूरक जितना गहरा और दीर्घ होता है, उतना प्राणायाम अच्छा होता है। जितना कुम्भक कर सकें उतना अभ्यास करें। पूरक से रेचक का समय जितना ज्यादा रख सकें उतना अच्छा और कुम्भक का समय भी कम से कम पूरक का दुगना होना चाहिये, तभी नाड़ी शुद्धि सही ढंग से होती है।

कपाल भांति प्राणायामः- कपाल का मतलब खोपड़ी और भांति अर्थात् प्रकाशित करना। इसमें शीघ्रता से पूरक और रेचक किया जाता है। कुम्भक नहीं। यह व्यायाम अत्यन्त परिश्रम पूर्वक करना चाहिये। इससे शरीर की सभी कोशिकाएँ, ज्ञान तन्तु और स्नायु जो से कम्पित होते हैं।

कपाल भांति प्राणा से खोपड़ी, श्वसन तंत्र और नासिका मार्ग स्वच्छ होता है। दमा दूर होता है। बड़ी मात्रा में कार्बनडाई आक्साइड के निष्कासन से रक्त शुद्ध होता है। हृदय की कार्य क्षमता सुधरती है, श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र और रक्त परिभ्रमण तंत्र बराबर कार्य करने लगते है।

सूर्य भेदी प्राणायामः- इसमें दाहिने नथूने से श्वास ली जाती है और बांये नथूने से श्वास निकाली जाती है। इससे शरीर में गर्मी बढ़ती है, सक्रियता आती है। सर्दी सम्बन्धी रोगों और सर्दी की मौसम में यह प्राणायाम विशेष प्रभावकारी होता है।

चन्द्र भेदी प्राणायामः- इसमें बांये नथूने से पूरक और दाहिने नथूने से रेचक किया जाता है। गर्मी और पित्त सम्बन्धी रोगों तथा गर्मी की मौसम में यह प्राणायाम बहुत लाभकारी होता है। इससे शरीर की थकान दूर होती है। निद्रा अच्छी आती है। शरीर शीतलता बढ़ती है, बुखार में शीघ्र आराम मिलता है।

भ्रामरी प्राणायामः- ध्यानवस्था में बैठ दोनों नेत्र बन्द कर दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों कानों के छिद्र बन्द कर दें। होटों को आपस में मिला दें। फिर मन की मन ओम् का गुंजार करें। दोनों नथूनों से पूरक और रेचक करने वाले ऐसे प्राणायाम को भ्रामरी प्राणायाम कहते हैं।

इस प्राणायाम से मानसिक तनाव, चिंता, क्रोध, निराशा में कमी आती है। स्वर में मधुरता बढ़ती है तथा श्वसन और गले के रोग में लाभ होता है, स्मरण शक्ति ठीक होती है।

प्राणायाम से लाभः-

1. फेंफड़े महबूत होते हैं।

2. रक्त के विकार दूर होते हैं।

3. शरीर का संतुलित और सुड़ोल विकास होता है।

4. मन में उत्साह एवं मानसिक बल भी बढ़ता है।

5. ध्यान में चित्त लगता है।

6. प्राणायाम से दीर्घ आयु प्राप्त होती है, स्मरण शक्ति बढ़ती है।

7. स्फूर्ति आती है, आलस्य नहीं आता।

शरीर के विभिन्न भागों में उपलब्ध प्राण/वायुः-

शरीर में प्राण ऊर्जा का प्रवाह मुख्य पांच धाराओं में होता हैं। प्रत्येक प्राण शरीर के अलग-अलग भागों में अधिक सक्रिय होते हैं तथा उस भाग के स्वास्थ्य का नियन्त्रण करते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार प्राण के उसके कार्यो के अनुसार पांच भेद किये गये है। जो प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नाम से पहचाने जाते हैं। आजकल ये पांचों प्राण शरीर में अलग-अलग प्रकार की वायु के नाम से भी पहचाने जाते हैं।

प्राण वायुः- उदर पटल (Diaphragm) से कंठ तक का क्षेत्र प्राण वायु का है। वास्तव में यह प्राण वह शक्ति है, जिसके द्वारा श्वास नीचे की तरफ खींची जाती है। इसके असंतुलन से श्वसन नली, वाणी संबंधी अंग, फेंफड़ों, हृदय, भोजन नली तथा इनको क्रियाशील बनाने वाली मांसपेशियों में रोग होने की स्थिति बनने लगती है। मंद गति से गहरा श्वास लेने से प्राण वायु की पूर्ति होती है।

अपान वायुः- अपान वायु का स्थान नाभि के नीचे होता है। इससे आंतों, प्रजनन अंगों, गुर्दे, मूत्राशय आदि को ऊर्जा मिलती है। जिससे मल मूत्र का विसर्जन बराबर होता रहे। अपान वायु प्राण ऊर्जा को गुदा द्वार तक खींचने एवं खराब वायु को नाक के द्वारा बाहर फैंकने में भी सहयोग करती है। महिलाओं में मासिक नियन्त्रण और प्रसव के समय शिशु का बाहर आना अपान वायु के द्वारा ही होता है। अपान मुद्रा से यह वायु संतुलित रहती है।

समान वायुः- उदर पटल (Diaphragm) और नाभि का क्षेत्र समान वायु का होता है। यह पाचन संस्थान के सभी अंगों लीवर, तिल्ली, पेन्क्रियाज, आमाशय और छोटी आंत आदि को नियंत्रित करता है। यह अपान और प्राण वायु का संतुलन बनाये रखती है। आमाशय तथा उसके रस श्रावों का नियन्त्रण, रक्त संचार संस्थान को क्रियाशील बनाना, भोज्य पदार्थो को शरीर के अनुकूल बनाने में सहयोग करती है। समान वायु-प्राण वायु और अपान वायु को संतुलित रखती है। अपान वायु मुद्रा से यह संतुलित रहती है।

उदान वायुः- उदान वायु गले के ऊपर के अंगों का नियन्त्रण करती है। आँख, नाक, कान, मुँह और मस्तिष्क इस वायु से नियन्त्रित होते हैं। इसके असंतुलन से पाँचों इन्द्रियाँ और मन एवं मस्तिष्क बराबर कार्य नहीं करते।

चिन्तन, मनन और विचार शक्ति क्षीण हो जाती है तथा व्यक्ति, मूर्खता अथवा पागलपन की प्रवृत्तियाँ करने लगता है। ज्ञान मुद्रा से यह वायु सक्रिय रहती है।

व्यान वायुः- व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में रहती है, जिसका कार्य अन्य वायु के कार्य में सहयोग करना होता है। समस्त शरीर की गतिविधियों को नियमित और नियन्त्रित करती है। सभी शारीरिक अंगों तथा उनसे संबंधित मांसपेशियाँ नाड़ी संस्थान और जोड़ों में संतुलन रखती है। शरीर को सीधा लम्बवत् खड़ा रखने में इसी वायु की ऊर्जा विशेष जिम्मेदार होती है।

उपर्युक्त चर्चित प्रत्येक प्रकार के प्राण अथवा वायु के कार्य क्षेत्र के संचालन का शरीर मे केन्द्र होता है जिसका ऊर्जा चक्रों से विशेष संबंध होता है। क्योंकि ऊर्जा चक्र स्वयं अलग-अलग पंच महाभूत तत्त्वों, रंगों एवं संवेदनाओं से प्रभावित होते हैं। अतः पांचों प्रकार के प्राण भी उनसे प्रभावित होते हैं। संबंधित रंगों का ध्यान करने एवं पंच तत्त्वों को संतुलित रख पांचों प्रकार की प्राण वायु को भी संतुलित रखा जा सकता है।

विविध प्राणों का ऊर्जा चक्रों, पंच तत्त्वों, रंगों, संवेदनाओं एवं कार्यो का तुलनात्मक विवरण

क्रमांक	प्राण वायु का नाम	शरीर में स्थान	विशेष संबंधित चक्र	विशेष प्रभावित संवेदना	संबंधित तत्त्व	संबंधित रंग	संबंधित कार्य
1	प्राण	हृदय और नासाग्र	हृदय चक्र/ अनाहत चक्र	स्पर्श	वायु	हरा	श्वसन
2	अपान	गुदा	मूलधारा	गंध	पृथ्वी	लाल	निष्कासन
3	समान	नाभि	सूर्य केन्द्र	ज्योति	अग्नि	पीला	पाचन
4	उदान	गला और होठ	विशुद्धि चक्र	श्रवण	आकाश	नीला	निगलना, बोलना चेहरे के भावों की अभिव्यक्ति
5	व्यान	सारा शरीर	आज्ञा चक्र	मानसिक	जल	लाल, नारंगी, गुलाबी	रक्त परिभ्रमण, नाड़ी तंत्र

पाँचों प्रकार की वायु अथवा प्राण का संतुलन ही स्वास्थ्य का आधार होता है। जितना अधिक उनमे संतुलन होता है, उसी अनुपात में हम स्वस्थ होते हैं तथा जितना असंतुलन होता है, उतने ही हम रोगी होते हैं।

पाँचों प्रकार की वायु के अनुपात में जब असंतुलन और आपसी तालमेल समाप्त हो जाता है तो शरीर के उस संबंधित भाग की कार्य प्रणाली प्रभावित होने लगती है और यदि उसको संतुलित नहीं किया जाये तो रोग ग्रस्त बनने की संभावना रहती है। वायु के कारण ही निद्रा में खर्राटे, छींक, हिचकी, उबासी, खुजलाना, आंखों की

पलके वायु को संतुलित रखना आवश्यक है। जिसको प्राणायाम की विभिन्न विधियों द्वारा सरलता पूर्वक संतुलित रखा जा सकता है। फलतः प्राणायाम वायु संतुलन का आधार होता है। जिसका अभ्यास व्यक्ति को स्वयं ही करना पड़ता है। अन्य व्यक्ति उपकरण नहीं कर सकता।

प्रत्याहार– शरीर की वह अवस्था जब पाँचों इन्द्रियाँ शान्त हो अपने बाह्य विषयों से मुक्त होकर अन्तर्मुखी हो जाती है, प्रत्याहार कहलाती है। इस अवस्था में मन की स्वछन्दता समाप्त हो जाती है। चित्त शान्त रहने लगता है। साधक को अपनी आत्मिक शक्तियों का आभास होने लगता है।

शब्द आया, चला गया, उसके अर्थ पर ध्यान न देना। देखा, अनदेखा कर देना उस पर चिन्तन नहीं करना। जिस प्रकार पानी बर्फ बनने के पश्चात् ही छलनी में टिक सकता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्याहार में पांचों इन्द्रियों के विषय से ध्यान हटा लिया जाता है। प्रत्याहार को जैनागमों में प्रतिसंलीनता कहते हैं।

धारणा– शांत चित्त को शरीर के किसी स्थान पर एकाग्र करने को धारणा कहते हैं। धारणा ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था होती है।

ध्यान– धारणा से चित्त वृति को जिस विषय में लगाया गया हो, उसी विषय में उसे निरन्तर लगाए रखने को ध्यान कहते हैं। मन, वचन और काया की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं। चित्त विक्षेप का त्याग करना ध्यान है, एकाग्र चिन्तन ध्यान होता है।

प्रत्येक इन्द्रिय पर ध्यान का अभ्यास करने से अतीन्द्रिय ज्ञान होने लगता है। तथा साधक बाह्य वस्तुओं के आलंबन से उनके विषयों का आनन्द ले सकता है। अलग-अलग वर्ण, गन्ध रस, शब्द, स्पर्श पर ध्यान करने से शरीर में उनके अभावों की पूर्ति होने लगती है तथा शरीर शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक रूप से संतुलित होने लगता है अर्थात् पूर्ण स्वस्थ एवं रोग मुक्त बन सकता है। रंग चिकित्सा में शरीर में रंगों की कमी को पूरा करने की एक विधि संबंधित रंग का ध्यान कर रोगोपचार की भी होती है। इसी प्रकार शरीर में कमी वाले शब्द, गंध, रस, स्पर्श का ध्यान करने से उसकी पूर्ति की जा सकती है। ध्वनि चिकित्सा, स्वाद चिकित्सा, गंध चिकित्सा, स्पर्श चिकित्साएँ आदि इसी सिद्धान्त पर कार्य करती है। नासाग्र पर ध्यान करने से साधक का शक्ति केन्द्र (मूलधारा चक्र), जागृत होने लगता है एवं वृत्तियाँ का परिष्कार होने लगता है। जैनागमों में भगवान महावीर द्वारा नासाग्र पर ध्यान करने का अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है।

ध्यान से मन के विकारों का नाश हो जाता है और सात्विक गुणों का विकास होता है। जैन आगमों में चार प्रकार के ध्यान का उल्लेख मिलता है। आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। प्रथम दो ध्यान अशुभ एवं त्याज्य होते हैं। जिस ध्यान में अभावों के चिन्तन से चिन्ता होती है, उस ध्यान को आर्त्तध्यान तथा क्रूर चित्त द्वारा किया गया ध्यान रौद्र ध्यान की श्रेणी में आता है। अंतिम दो ध्यान धर्म ध्यान और शुक्ल शुभ होते हैं। धर्म ध्यान से ध्यानी आत्म स्वभाव में रमण करने लगता है तथा शुक्ल ध्यान से राग एवं द्वेष को जीतने की क्षमता प्राप्त होती है। यह ध्यान आत्मा के शुद्ध स्वरूप की सहज अनुभूति कराता है। अतः इन दो ध्यानों को ही सम्यक् ध्यान

कहा जा सकता है। बिना धर्म एवं शुक्ल ध्यान किया जाने वाले ध्यान का आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं होता। परन्तु आज अधिकांश प्रचलित ध्यान पद्धतियों का उद्देश्य व्यक्ति में तनाव से मुक्ति दिलाने, एवं उसके फलस्वरूप होने वाले स्वास्थ्य लाभ तक ही सीमित हो रहा है, जो मात्र ध्यान की प्रारम्भिक अवस्थाएँ ही होती है। प्रत्येक व्यक्ति वैसे तो सजगता और एकाग्रता से प्रवृत्ति करते समय किसी न किसी ध्यानावस्था में होता ही है। परन्तु योग में ध्यान का मतलब सम्यक ध्यान। अन्तर्मुखी बनने, आत्मा से साक्षात्कार को ही ध्यान समझा जाता है। ध्यान शरीर, मन एवं मस्तिष्क को स्वस्थ रखने का अच्छा माध्यम है। ध्यान से आभा मण्डल शुद्ध होता है, हानिकारक तरंगे दूर होती है। ध्यान की साधना शांत, एकान्त, स्वच्छ एवं निश्चित स्थान पर निश्चित समय करने से ज्यादा लाभ होता है। ध्यान के लिए मौन आवश्यक होता है। पहले शरीर की स्थिरता, फिर दृढ़ता और धैर्य बिना, ध्यान संभव नहीं हो सकता।

समाधिः- जब केवल ध्येय स्वरूप का ही भान रहे, ध्यान की उस अवस्था को समाधि कहते हैं। समाधि ध्यान की चरम सीमा होती है, जिसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं। जिसमें शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती है और साधक मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

समाधि अथवा कायोत्सर्ग में शिथिलिकरण के साथ-साथ सजगता, ममत्व का विसर्जन और भेद विज्ञान का चिन्तन आवश्यक होता है। जबकि शवासन में केवल शिथिलिकरण होता है।

अष्टांग योग के प्रथम पांच अंगों अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को बहिंरग योग तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान और समाधि को संयम कहा जाता हैं यदि बहिरंग योग को विवेक पूर्वक जीवन में उतारा जाये तो मनुष्य में मानवीय गुणों के विकसित होने के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास भी होता है, जो स्वस्थ जीवन का मूलाधार होता है।

पतंजलि योग में यम-नियमों द्वारा अन्तः चेतना की सफाई के बाद आसन, प्राणायाम से शरीर बलवान होता है। वहीं प्रत्याहार, धारणा,ध्यान और समाधि से मनोबल ओर आत्मबल बढ़ता है। जिस प्रकार फूटे हुये घड़े को छिद्र बन्द करने के पश्चात् ही पानी से भरा जा सकता है। अच्छी फसल के लिए खेती की जीव जन्तुओं से रक्षा और खादे देने के साथ-साथ, पानी से नियमित सींचन और धूप की भी आवश्यकता होती है। योग साधना ऐसी ही खेती है, जिसे यम-नियम द्वारा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, लोभ, मलिनता, तृष्णा, आलस्य, अज्ञान अहं जैसे दस प्रकार के दुर्गुणों रूपी हानिकारक आत्मिक विकारों से रक्षा करनी होती है। शरीर आकर्षक और पुष्ट बनता है। शरीर में हल्कापन, कार्य करने का उत्साह बढ़ता है। शरीर की बेटरी चार्ज हो जाती है। चिन्ता, भय, निराशा, अनिद्रा, दुर्बलता, आलस्य आदि दूर होकर व्यक्ति सजग एवं अप्रमादी बनने लगता है। अपने आपको पहचानने लगता है। आमावलोकन करने लगता है। यही तो आत्मा से परमात्मा बनने की कला होती है।

योग का वर्तमान स्वरूपः- परन्तु आजकल विश्व भर में प्रचलित एवं प्रसारित योगाभ्यास प्रायः आसन और प्राणायाम तक सीमित होता जा रहा है। यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के अभाव में नर से

नारायण और आत्मा को परमात्मा बनाने वाली योग साधना मात्र शरीर का व्यायाम बन कर रह गया है। यह योग का अवमूल्यन है, अष्टांग योग की क्रमिक साधना ही सच्चा योग होता है।

ठीक इसी प्रकार आज ध्यान भी एक फैशन का रूप लेता जा रहा है। शारीरिक रोगों के उपचार तक सीमित होता जा रहा है। बिना यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के ध्यान साधना स्थायी रूप से फलीभूत नहीं हो सकती। आज ध्यान कराया जाता है, ध्यान किया जाता है, परन्तु वास्तव में बहुत कम व्यक्तियों के ही ध्यान होता है। ध्यान में सच्चे आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती है। आज ध्यान के नाम से जितनी भी पद्धतियाँ प्रचलित हैं, चाहे वे किसी नाम से हों, ध्यान द्वारा एक बार आत्मा की अनन्त शक्तियों का अनुभव करने वाला, शरीर ओर आत्मा का भेदज्ञान करने वाला ध्यान, ध्यानी को सांसारिक भौतिक उपलब्धियों में कैसे उलझा सकता है? जिसका ध्यान की उपलब्धियों के लम्बे-चौड़े अनुभव करने वालों को स्पष्टीकरण करना चाहिये। आज ध्यानियों के जीवन में समभाव की प्राप्ति और कषायों की मंदता प्रायः क्यों नहीं बढ़ रही हैं? उनकी सहनशीलता क्यों घट रही है? साधारण से वियोग और प्रतिकूलताओं में वे अपना संतुलन क्यों गंवा कर विचलित हो जाते हैं? उन्हे प्रसिद्धि की भूख क्यों परेशान कर रही है? उनके जीवन में मायावृत्ति क्यों और कैसे पनप रही है?

ध्यान कोई पोशाक नहीं है कि जब चाहे पहन लें और जब चाहें उतार कर फैक दें। ध्यान का मापदण्ड होता है:- कषायों की मंदता, कामनाओं एवं आत्म-विकारों की कमी, आत्म-विकास में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि। जिस प्रकार खेती गेहूँ के लिये की जाती है, घास के लिये नहीं। घास तो गेहूँ के साथ स्वतः उपलब्ध हो जाती है। जिस ध्यान से व्यक्ति अन्तर्मुखी न बने वह ध्यान अधूरा ही होता है। रोगों में राहत को ही ध्यान की परिपूर्णता मानना बुद्धिमत्ता पूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रयास मात्र घास के लिए खेती करने के समान अपने समय, श्रम और क्षमताओं के अवमूल्यन का ही प्रतीक होता है। ध्यानी अप्रमादी अर्थात् अपने जीवन मूल्यों के प्रति शत-प्रतिशत सजग और जागृत होता है। जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश साथ रह नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार प्रमाद (असजगता) दूर हुये बिना सच्चा ध्यानी नहीं बना जा सकता।

सातवां अध्याय

शरीर की मूलभूत आवश्यकताएँ

शरीर को पोषण करने वाले तत्त्वों का सम्यक् उपयोग आवश्यक-

जिस प्रकार अच्छे से अच्छा बीज होते हुये भी अच्छी फसल प्राप्त करने के लिये उसे उचित समय पर बोने के साथ-साथ उपजाऊ मिट्टी, हवा, पानी, धूप की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार स्वस्थ रहने के लिये शरीर को पोषण करने वाले हवा, पानी, भोजन, धूप के उचित सेवन की आवश्यकता होती है। उनकी उपेक्षा करने

से हम स्वस्थ रहना चाहते हुये तथा उसके लिये निरन्तर प्रयास करने के बावजूद भी अपने आपको पूर्ण स्वस्थ नहीं रख सकते।

स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को स्वास्थ्य के साधारण नियमों का ईमानदारी पूर्वक पालन करना चाहिए? उन्हें चिन्तन करना चाहिए कि भोजन, पानी, हवा, धूप, व्यायाम और आराम कब करें? क्यों करे? कहाँ करें? कितना करें? कैसे करें? जीवन के लिए अति आवश्यक इन क्रियाओं को निरन्तर करने के बावजूद इनका पूरा लाभ क्यों नहीं मिलता?

वायु और स्वास्थ्य-

यदि किसी भिखारी को लाखों रुपये देने के बदले दस से पन्द्रह मिनट तक श्वास रोकने के लिये कहते है तो वह उसके लिय तैयार नहीं होता। ऐसी अमूल्य श्वसन क्रिया हमारे स्वयं के द्वारा जन्म से अनवरत संचालित होती है। परन्तु हम उसका महत्त्व नहीं समझते। क्या हम उस अमूल्य श्वास का उपयोग बराबर कर रहे हैं?

श्वसन क्रिया-

श्वसन इतनी स्वाभाविक और सहज क्रिया है कि हमारी असजगता में भी स्वत: चालू रहती है। चाहे हम निद्रा में हो अथवा जागृत अवस्था में हमारी श्वसन क्रिया अविराम गति से निरन्तर चलती रहती है।

दो श्वासों के बीच का समय ही जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति के श्वासों की संख्या निश्चित होती हैं। जो व्यक्ति आधा श्वास लेता है वह आधा जीवन ही जीता है। जो सही ढंग से गहरा ओर पूरा श्वास लेता है, वही पूर्ण जीवन जीता है। अत: जो व्यक्ति जितनी धीमी और दीर्घ श्वास लेता है, उसकी आयु उतनी ही ज्यादा होती है। जितनी तेज, अधूरी और जल्दी-जल्दी श्वास लेते हैं, उतनी ही आयुष्य कम होती है। अधूरी श्वास लेने वालों के फेंफड़े का बहुत सा भाग निष्क्रिय पड़ा रहता है। जिन मकानों की सफाई नहीं होती, उनमें गन्दगी जमा होने लगती हैं ठीक उसी प्रकार फेंफड़ों के जिन वायु कोषों में श्वास नहीं पहुँचती वहां फेंफड़ों को क्षति पहुँचाने वाले विजातीय तत्त्व जमा होने लगते है और धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते वे इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि, उनको वहाँ से दूर हटाना आसान नहीं होता। परिणाम स्वरूप श्वसन संबंधी रोगों से शरीर पीड़ित हो जाता है। अत: श्वसन क्रिया में फेंफड़ों का जितना ज्यादा प्रसारण और संकुचन होता है, श्वसन उतना ही उपयोगी एवं प्रभावशाली होता है। अधिक जीवन शक्ति और शांति का अनुभव होता है। चिन्तन का ढंग बदल जाता है।

प्राणायाम-

सम्यक् प्रकार से श्वसन क्रिया को संचालित, नियन्त्रित करने की विधि को प्राणायाम कहते हैं। शरीर का भारीपन एवं मन और मस्तिष्क के तनाव से श्वसन क्रिया भी प्रभावित हो जाती है। प्राणायाम से शरीर में प्राण ऊर्जा उत्प्रेरित, संचारित, नियमित और संतुलित होती है। जिस प्रकार बाह्य शरीर की शुद्धि के लिये स्नान की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शरीर के आन्तरिक अवयवों के लिये प्राणायाम का बहुत महत्त्व होता है।

श्वसन हेतु ऑक्सीजन युक्त प्राण वायु लाभप्रद-

प्रत्येक संसारी जीव में श्वासोश्वास नामक ऊर्जा का मूल स्रोत होता है जिसके कारण वह ब्रह्माण्ड से श्वसन योग्य पुद्‌गलों को आकर्षित करता है। लोक भाषा में हम उन पुद्‌गलों के प्रवाह एवं निष्कासन को श्वसन क्रिया अथवा प्राण ऊर्जा का प्रवाह कहते हैं। यह प्राण ऊर्जा पंच तत्त्वों के साथ मिलकर उन्हें उपयोगी बनाती है।

वायु मण्डल में हवा के अन्दर जो ऑक्सीजन का तत्त्व है, वही प्राण ऊर्जा की क्षमता बढ़ाने में विशेष प्रभावी होता है। इसी कारण लोक भाषा में ऑक्सीजन को प्राण वायु भी कहते हैं। यह ऑक्सीजन जिस वातावरण में ज्यादा होता है, वही वातावरण शरीर के लिए स्वास्थ्यवर्धक होता है। जब शरीर में ऑक्सीजन की मात्रा बहुत कम हो जाती है तो, प्राण ऊर्जा का उत्पादन आवश्यकतानुसार नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप शारीरिक क्रियाएँ अपना कार्य बराबर नहीं कर पाती और अंत में एक स्थिति ऐसी आती है, जब श्वासोच्छवास र्प्याप्ति (ऊर्जा का स्रोत) समाप्त हो जाती है, तो ऑक्सीजन के रूप में आवागमन (आकर्षण) बंद हो जाता है और प्राण ऊर्जा का उत्पादन समाप्त हो जाता है, जिसे मृत्यु कहते हैं।

जब तक शरीर श्वसन द्वारा अधिकाधिक प्राण वायु प्रकृति से ग्रहण करता रहता है, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। शुद्ध वायु में एक चौथाई भाग लगभग ऑक्सीजन का होता है। यदि उसमें कमी हो जाये तो, उसका प्रभाव पाचन क्रिया पर अनिवार्य रूप से पड़ता है तथा जठराग्नि मंद होने लगती है।

आयुर्वेद में वायु का महत्त्व–

आयुर्वेद के अनुसार कफ, पित्त और वायु का असंतुलन रोग का कारण होता है। शरीर में कफ और पित्त की स्थिति तो अपंग जैसी ही होती है। सारा हलन-चलन, संचालन, वायु के माध्यम से ही होता है। जब हम पूरा, गहरा, धीरे-धीरे श्वास लेते हैं तो शरीर के ज्यादा से ज्यादा अवयवों को प्राण ऊर्जा पहुँचती है। जिससे जो कोशिकाएँ मृत प्रायः हो जाती है पुनर्जीवित होने लगती है। तीव्र श्वास का सम्बन्ध भय, चिन्ता, तनाव आदि आवेगों से होता है, जबकि मंद गति से गहरी श्वास लेने वाला व्यक्ति अपेक्षाकृत शांत, तनाव मुक्त और प्रसन्न रहता है। गहरी श्वास से डायाफ्राम सहित पेट के समस्त अंगों की अच्छी मसाज हो जाती है। गहरी श्वास लेने से मृत कोशिकाओं को पुनर्जीवित करने हेतु ज्यादा प्राण वायु मिलती है। जल्दी-जल्दी श्वास क्रिया करने से शुद्ध वायु ऑक्सीजन अपना पूरा कार्य किए बिना ही पुनः बाहर निकल जाती हैं, जिससे शरीर में उसका पूर्ण उपयोग आवश्यकतानुसार नहीं हो पाता।

ठण्डी जलवायु गहरे श्वास के लिए अनुकूल होती है। तंग कपड़े पहनने और कसी हुई बेल्ट अथवा नाड़ा बांधने से पूर्ण श्वास में बाधा पहुँचती है।

दूसरी बात श्वास कहाँ लें? जीवन के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। जिसका हम श्वास के रूप में वायु के साथ सेवन करते हैं। अतः श्वसन योग्य वायु जितनी स्वच्छ, शुद्ध, ऑक्सीजन युक्त होती है, उतनी ही हमें ऊर्जा अधिक मिलती है। इसके विपरीत अशुद्ध, प्रदुषित वातावरण में श्वास लेने से हमारे स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। प्रातःकाल प्रदूषण की कमी होने के कारण वायुमण्डल में ऑक्सीजन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। फेंफड़े ब्रह्माण्ड से प्राण ऊर्जा ग्रहण करने हेतु अधिकाधिक सजग और सक्रिय होते हैं। अतः प्रातःकाल घूमने, दौड़ने, जोगिंग एवं अन्य फेंफड़ों के व्यायाम से अधिक लाभ मिलता है। जो व्यक्ति प्रायः देर से निद्रा त्यागते हैं, वे फेंफड़ों की सक्रियता का पूर्ण लाभ नहीं ले पाने के कारण अपेक्षाकृत कम फूर्तीले होते हैं।

जिस स्थान पर ऑक्सीजन का अभाव होता है, उस वातावरण में रोग होने की संभावना अधिक रहती है। जितना कम प्रदूषण उतनी वायु मंडल में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक रहती है। पेड़ पौधे ऑक्सीजन के अच्छे स्रोत होते हैं। अतः प्रातःकाल स्वच्छ वातावरण में भ्रमण करने वालों को सहज रूप से प्राण वायु मिल जाती है।

योग शास्त्र में प्राणायाम के विविध प्रकारों का वर्णन मिलता है। अतः जिज्ञासु स्वास्थ्य प्रेमियों को अनुभवी योग प्रशिक्षकों के सान्निध्य में प्राणायाम की विविध पद्धतियों का अवश्य अध्ययन एवं अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम के समान स्वास्थ्य सुरक्षा की सहज, सरल, स्वाललम्बी, अन्य विधि प्रायः संभव नहीं होती।

श्वास के प्रति सजगता का विकास-

मैं श्वास ले रहा हूँ और छोड़ रहा हूँ, इसका स्पष्ट बोध होना ही श्वास के प्रति सजगता है। श्वास के प्रति सजग होने से हम अपनी चेतना के प्रति सजग होते हैं अर्थात् हम स्वयं के प्रति सजग होते हैं। सजगता जीवन की सफलता की प्राथमिक आवश्यकता है। व्यक्ति अपना भला-बुरा समझने लगता है। पुरुषार्थ सम्यक् और प्राथमिकताओं के अनुरूप होने से व्यक्ति की कार्य क्षमता बढ़ जाती है। प्रमाद कम होने लगता है। शरीर और मन का भारीपन कम होने लगता है।

श्वास लेते समय पेट फूलना चाहिए और श्वास बाहर निकालते समय पेट जितना अन्दर जा सके जाना चाहिए, तभी सम्पूर्ण स्नायु संस्थान में प्राण वायु का प्रवाह संभव होता है अन्यथा नहीं। यदि श्वास उल्टी चलती है तो, शवासन में लेटकर मानसिक चिन्तन के द्वारा श्वास को लेते समय पेट को बाहर करें और निकालते समय सिकोड़ें। जब भी ध्यान में आये सही श्वास-प्रश्वास की आदत डालनी चाहिए। स्वच्छ एवं खुली हवा में अधिकाधिक रहना, घूमना और सोना चाहिए। प्रदूषित वातावरण से अपने आपको यथा संभव बचना चाहिए। यही श्वास के प्रति हमारी सजगता होती है।

श्वास नाक से ही क्यों लें ?

नासिका शरीर का वह अंग है जिसका कार्य श्वास द्वारा ली जाने वाली वायु का फेंफड़े में पहुँचने के पूर्व पर्याप्त शुद्धि, परिमार्जन व शरीर के तापक्रम के अनुरूप बनाना है। ताकि बाह्य वातावरण की गर्म अथवा सर्द हवा फैंफड़ों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सके। सामान्यतः जो वायु हम श्वास के रूप में लेते हैं, वह ठण्डी या गर्म, गंदी और रोगाणुओं से परिपूर्ण हो सकती है ? उसमें सूक्ष्म धूलकण हो सकते हैं। नथूनों में उपस्थित रोम (बाल) जो एक प्रकार की छलनी का कार्य करते हैं। श्वास नली उन धूल कणों और रोगाणुओं को अन्दर जाने से रोक देती हैं। ये रोम अन्दर की तरफ प्रवाहित वायु की दिशा के विपरीत कंपन करते हैं। अतः वायु के साथ होने वाले दुषित पदार्थ अन्दर नहीं जा पाते।

दूसरी बात नाक में स्थित श्लेषमा झिल्लियाँ (म्यूकस मेम्ब्रेन) होती है। जिससे एक प्रकार का वायु में उपस्थित तरल पदार्थ निकलता है, जो वायु में उपस्थित उन असंख्य रोगाणुओं को भी हटा देता है, जो फेंफड़ों के लिए अति घातक सिद्ध हो सकते हैं। साथ ही उन धूल कणों से भी बचाव करती है, जिनका किसी कारणवश नासिका के रोम में रुकावट नहीं हो पाती। ये झिल्लियाँ श्वास की वायु को आवश्यक शुष्कता-आद्रता भी प्रदान करती है।

तीसरी बात नाक से ही गंध और सुगन्ध की अनुभूति होती है। गंध की अनुभूति हानिकारक वायु को अन्दर जाने से रोकती है। जैसे ही हमें किसी दुर्गन्ध की अनुभूति होती है। हम तुरन्त श्वास लेना बन्द कर देते हैं और जल्दी से जल्दी वहाँ से दूर होकर ताजी हवा वाले स्थानों में पहुँचने का प्रयास करते हैं।

इसके विपरीत मुँह में न तो बाल होते है और न श्लेषमा झिल्लियाँ। जो वायु का परिमार्जन अथवा शुद्धि कर सके। दूसरा मुँह का छिद्र नाक की अपेक्षा इतना बड़ा होता है कि उसमें वायु बिना रूकावट फेंफड़े तक पहुँच सकती है। तीसरी नाक के माध्यम से फेंफड़ों तक पहुंचते हुये वायु का तापमान शरीर के अनुकूल हो जाता है। परन्तु मुँह से श्वास लेने पर ऐसा कम संभव होता है। अतः जो व्यक्ति मुँह से श्वास लेते हैं, विशेष कर रात में, सवेरे उनका मुँह सूखा हुआ और बदबूदार होता है, जिससे विभिन्न रोगों के होने की संभावना बनी रहती है।

यदि नासिका अवरुद्ध हो जायें या श्लेष्मा झिल्लियों में बहुत सारी अशुद्धियाँ एकत्रित हो जायें जिसके कारण मुंह से श्वास लेना पड़े तो नथूनों की सफाई कर लेनी चाहिए। नियमित रूप से ऐसी सफाई करने से नथूनों में रुकावट उत्पन्न होने की संभावना कम हो जाती है।

नेति क्रिया-

श्वास संबंधी रोगों के उपचार हेतु नेति क्रिया विश्वसनीय सहज पद्धति है। नासिका के छिद्रों की तरल पदार्थों से सफाई करने की विधि को नेति क्रिया कहते हैं। नेति करने से विभिन्न अंगों से आकर नासिका में समाप्त होने वाले स्नायुओं के छोर सक्रिय होते हैं। जिससे मस्तिष्क एवं उन स्नायुओं से जुड़े तंत्रों को लाभ पहुँचता है, जिनकी असक्रियता एलर्जी का प्रमुख कारण होती है। अतः जिन व्यक्तियों को किसी प्रकार की एलर्जी होती है, उनके लिए नेति क्रिया अत्यन्त लाभकारी होती है। नेति क्रिया से आज्ञा चक्र भी सक्रिय होता है।

नेति के लिए जल शुद्ध और गुनगुना होना चाहिए। उसमें थोड़ा सा नमक मिला देना चाहिये। नमकीन जल साधारण जल की अपेक्षा नाक की नाजुक रक्त नलिकाओं और श्लेषमा झिल्लियों द्वारा सरलतापूर्वक शोषित नहीं किया जा सकता। जबकि साधारण जल सरलता से शोषित किया जा सकता है। यद्यपि साधारण जल से किसी प्रकार की हानि नहीं होती, फिर भी नाक में पीड़ा और बैचेनी का अनुभव हो सकता है। नेति क्रिया के लिये विशेष प्रकार का नेति का बर्तन मिलता है। नेति लोटे को नमकीन पानी से भर कर किसी एक नथूने से पानी डालें और दूसरे छिद्र को मस्तिष्क को घूमाकर ऐसा रखें कि वह पानी दूसरे छिद्र से बाहर निकल जाये। फिर यही क्रिया दूसरे नथूने से भी करें। उसके पश्चात् बारी-बारी से एक-एक नथूने को बन्द कर दूसरे नथूने से जल्दी-जल्दी और दबाव के साथ श्वास निकाले। जिससे नासिका मार्ग की सफाई हो जाती है। पानी की अपेक्षा स्वमूत्र से नेति करना बहुत अधिक प्रभावशाली होता है।

प्रातःकाल और सोने से पूर्व नेति क्रिया करने से न केवल नथूनों की सफाई होती है, परन्तु उसके साथ साथ निद्रा अच्छी आती है। आंखों की ज्योति सुधरती है। सिर की गर्मी शान्त होती है। स्मरण शक्ति बढ़ने लगती है। बाल झड़ने बन्द हो जाते हैं और लम्बे समय तक बाल काले बने रहते हैं, ऐसे प्रत्यक्ष परोक्ष अनेक लाभ होते हैं। जल नेति करते समय हमेशा मुँह खोलकर ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया करनी चाहिए अन्यथा नासिका में जल ऊपर चढ़ सकता है, जिससे चक्कर आने की संभावना रहती है। जल नेति के पश्चात् कपाल भांति व भस्रिका प्राणायाम अवश्य करना चाहिये। जिससे नाक पूर्ण रूप से साफ हो जाये और उसमें एक बूँद भी पानी न रहें।

अप्राकृतिक जीवन शैली का श्वसन पर प्रभाव–

प्राचीन समय में मानव आज की अपेक्षा अधिक प्राकृतिक जीवन जीता था। जिससे उसका श्वसन स्वतः सही होता था। उसकी सहज तनाव मुक्त जीवन शैली भी सही श्वसन के अनुकूल थी। उसे आज के मानव की भांति अनावश्यक श्वसन प्रणाली पर बोझ और अवरोध नहीं थोपने पड़ते थे। आधुनिक मानव भय, असंतोष, तनाव, प्रतिद्विन्द्वता, घृणा, प्रदूषण, पर्यावरण और भीड़ भरे अप्राकृतिक वातावरण में जीवन यापन करने के कारण उसे प्रर्याप्त मात्रा में स्वच्छ शुद्ध, स्वास्थ्य वर्धक ऑक्सीजन युक्त वातावरण नहीं मिलता है। सारे दिन तो वे व्यवसाय के लिए अप्राकृतिक वातावरण अथवा बंद कमरे में रहते हैं और रात्रि में बंद कमरे में सोते हैं। जिसके कारण श्वसन तंत्र बराबर कार्य नहीं करता। परिणाम स्वरूप अधिकांश व्यक्ति धीमे व गहरे श्वास प्रायः नहीं ले पाते। अतः स्वस्थ रहने वालों को वातावरण के अनुकूल रहकर मुक्त प्रसन्नचित मुस्कराते हुये जीवन जीना चाहिए। जब कभी थकान अथवा आवेश आने की संभावना हो सजग होकर सही ढंग से धीमे-धीमे श्वास लेने लग जायें तो, तुरन्त लाभ होने लग जाता है।

सही निःश्वास का महत्त्व–

पूर्ण श्वास लेना जितना आवश्यक है उतना ही पूरा श्वास निकालना भी आवश्यक है। श्वास के माध्यम से जो ऑक्सीजन के रूप में प्राण वायु हम ग्रहण करते हैं, वह रक्त शुद्ध करने में कार्बन डाई ऑक्साईड में बदल जाती है। यदि इस दूषित वायु का शरीर से समय पर पूर्ण निष्कासन न हुआ तो शरीर में अनुपयोगी विजातीय तत्त्वों में वृद्धि होने लगती है। जिससे प्राण ऊर्जा के प्रवाह में अवरोध आने के कारण रोग होने की संभावना रहती है। जन साधारण जो प्राणायाम नहीं करते, उन्हें भी प्रातः काल स्वच्छ एवं शुद्ध वातावरण में कम से कम कुछ समय तो गहरी धीमी पूर्ण सजगता पूर्वक अवश्य श्वसन क्रिया करनी चाहिये। साथ ही प्रातः भूखे पेट ही बिना कुछ खाये कुछ बार गहरी श्वास प्रक्रिया करने के बाद कम से कम एक बार मुँह बंद करके पूरे वेग से नाक से जितनी ज्यादा वायु बाहर फेंक सकें, फेंकने का अपनी सामर्थ्य और विवेक अनुसार प्रयास करना चाहिये। ऐसा करने से सारे शरीर में वायु का प्रवाह एक दम तेज हो जाता है और जो विजातीय तत्त्व साधारण रेचक प्रक्रिया से निष्कासित नहीं होते हैं, वे भी बाहर निकल जाते हैं। साथ ही स्वतः पूर्ण वेग से श्वास की पूरक क्रिया होती है, जिससे सारे शरीर में प्राण ऊर्जा का प्रवाह पहुँचने लगता हैं। इस प्रक्रिया द्वारा शरीर में लम्बे समय से जमा अवरोध तथा विजातीय तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं। जो यह प्रक्रिया न कर सके उन्हें कपाल भांति क्रिया नियमित करनी चाहिये।

जल और स्वास्थ्य

शरीर में जल के कार्य–

हवा के पश्चात् शरीर में दूसरी सबसे बड़ी आवश्यकता पानी की होती है। पानी के बिना जीवन लम्बे समय तक नहीं चल सकता। शरीर में लगभग दो तिहाई भाग पानी का होता है। शरीर के अलग-अलग भागों में पानी की आवश्यकता अलग-अलग होती है। जब पानी के आवश्यक अनुपात में असंतुलन हो जाता है तो, शारीरिक क्रियाएँ प्रभावित होने लगती है, अतः हमें यह जानना और समझना आवश्यक है कि पानी का उपयोग

हम कब और कैस करें ? पानी कितना, कैसा और कब पिये ? उसका तापमान कितना हो ? स्वच्छ, शुद्ध, हल्का, छना हुआ शरीर के तापक्रम के अनुकूल पानी जन साधारण के लिए उपयोगी होता है। पानी को जितना धीरे-धीरे घूंट-घूंट पीये उतना अधिक लाभप्रद होता है। इसी कारण हमारे यहाँ लोकोक्ति प्रसिद्ध है- ''खाना पीओ और पानी खाओ'' अर्थात् धीरे-धीरे पानी पीओ।

हमारे शरीर में जल का प्रमुख कार्य भोजन पचाने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं में शामिल होना तथा शरीर की संरचना का निर्माण करना होता है। जल शरीर के भीतर विद्यमान गंदगी को पसीने एवं मलमूत्र के माध्यम से बाहर निकालने, शरीर के तापक्रम को नियंत्रित करने तथा शारीरिक शुद्धि के लिए बहुत उपयोगी तथा लाभकारी होता है। शरीर में जल की कमी से कब्ज, थकान, ग्रीष्म ऋतु में लू आदि की संभावना रहती है। जल के कारण ही हमें, छः प्रकार के रसों-मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, तीखा और कषैला आदि का अलग-अलग स्वाद अनुभव होता है।

भोजन के तुरन्त बाद पानी पीना हानिकारक-

भोजन के तुरन्त पहले पानी पीने से भूख शान्त हो जाती है। बिना भूख भोजन का पाचन बराबर नहीं होता। खाना खाने के पश्चात् आमाशय में लीवर, पित्ताशय, पेन्क्रियाज आदि के श्राव और अम्ल के मिलने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अतः प्रायः जनसाधारण को पानी पीने की इच्छा होती है। परन्तु पानी पीने से पाचक रस पतले हो जाते हैं, जिसके कारण आमाशय में भोजन का पूर्ण पाचन नहीं हो पाता। फलतः भोजन से जो ऊर्जा मिलनी चाहिए, प्रायः नहीं मिलती। आहर के रूप में ग्रहण किये गये। जिन पौष्टिक तत्त्वों से रक्त, वीर्य आदि अवयवों का निर्माण होना चाहिये, नहीं हो पाता। अपाच्य भोजन आमाशय और आंतों में ही पड़ा रहता है, जिससे मंदाग्नि, कब्जी, गैस आदि विभिन्न पाचन संबंधी रोगों के होने की संभावना रहती है। दूसरी तरफ अपाच्य भोजन को मल द्वारा निष्काषित करने के लिये शरीर को व्यर्थ में अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः भोजन के पश्चात् जितनी ज्यादा देर से पानी पीयेंगे उतना पाचन अच्छा होता है। प्रायः भोजन के दो घंटें पश्चात जितनी आवश्यकता हो खूब पानी पीना चाहिए। जिससे शरीर में पानी की कमी न हो।

प्रारम्भ में जब तक अभ्यास न हो, ठोस भोजन के साथ तरल पदार्थों का भी उपयोग अवश्य करना चाहिये। भोजन की बीच में थोड़ा सा पानी पी सकते हैं, परन्तु वह पानी गुनगुना हो न कि बहुत ठण्डा। खाने के पश्चात् भी आवश्यक हो तो जितना ज्यादा गरम पीने योग्य पानी थोड़ा पी सकते है। भोजन पाचन के पश्चात् पानी पीना पथ्य होता है। भोजन पाचन से पूर्व एक साथ ज्यादा पानी पीने से आंव की वृद्धि होती है। अपच, गैस और कब्ज होता है। जैन साधु और बहुत से श्रावक रात्रि में पानी नहीं पीते। परिणाम स्वरूप सायंकालीन भोजन के तुरन्त पश्चात् उनको पर्याप्त पानी पीना पड़ता है, जिससे उनके पाचन संबंधी रोग होने की संभावना अधिक रहती है। अतः स्वास्थ्य प्रेमी साधकों को सायंकालीन भोजन यथा संभव त्यागना ही उपयुक्त होता हैं परन्तु यदि ऐसा संभव न हो और भोजन के पश्चात् पानी पीना आवश्यक हों तो, जितना गर्म पानी पी सकते हैं, उतना गर्म पानी धीरे-धीरे घूंट-घूंट पीना चाहिए, जिससे आमाशय की गर्मी कम न हो। साथ ही धीरे-धीरे पानी पीने से, पानी के साथ थूक मिल जाने से वह पानी पाचक बन जाता है।

उषापान-

प्रात:काल निद्रा से उठने के पश्चात् बिना मुंह धोये अथवा दांतुन या कुल्ला किये रात भर ताम्र पात्र में रखा हुआ अपनी क्षमतानुसार सवा से डेढ लीटर पानी पीना चाहिये। इस क्रिया को उषा पान कहते हैं। रात भर में नि:श्वास के साथ जीभ पर विजातीय तत्व जमा हो जाते हैं। इसी कारण दिन भर कार्य करने के बावजूद मुंह में जितनी बदबू नहीं आती, उतनी निद्रा में बिना कुछ खाये ही आती है। ये विजातीय तत्व जब पानी के साथ खाली पेट में पुन: जाते हैं तब औषधि का कार्य करते हैं। अत: उषापान का पूर्ण लाभ बिना दांतुन पानी पीने से ही मिलता है। उसके पश्चात् टहलने अथवा पेट का हलन-चलन वाला व्यायाम (संकुचन और फैलाना) करने से पेट में आंतें एक दम साफ हो जाती है। जिससे पाचन संबंधी सभी प्रकार के रोगों में शीघ्र राहत मिलती हैं। पानी पीने का श्रेष्ठतम समय प्रात:काल भूखे पेट होता है। रात्रि के विश्राम काल में चयापचय क्रिया द्वारा जो विजातीय अनावश्यक तत्त्व शरीर में रात भर में जमा हो जाते हैं, उनका निष्कासन गुर्दे, आंते, त्वचा अथवा फेंफड़ों द्वारा होता है। अत: उषापान से ये अंग, सक्रिय होकर समस्त विजातीय पदार्थों को बाहर निकालने में सक्रिय हो जाते हैं। जब तक रात भर मं एकत्रित विष भली भांति निष्कासित नहीं होता और ऊपर से आहार किया जाये तो विभिन्न प्रकार के रोग होने की संभावना रहती है। उषापान से बवासीर, सूजन, संग्रहणी, ज्वर, उदर रोग, कब्ज, आंत्ररोग, मोटापा, गुर्दे संबंधी रोग, यकृत रोग, नासिका आदि से रक्त स्राव, कमर दर्द, आंख, कान आदि विभिन्न अंगों के रोगों से मुक्ति मिलती है। नेत्र ज्योति में वृद्धि, बुद्धि निर्मल तथा सिर के बाल जल्दी सफेद नहीं होते आदि अनेक लाभ होते हैं।

जापान के सिकनेश एसोसियेशन द्वारा प्रकाशित एक लेख में इस बात की पुष्टि की गई है। ऐसे प्रयोग का पूर्ण लाभ तब ही मिलता है जब उपरोक्त विधि से पानी पीने के साथ भोजन के लगभग दो घंटें बाद अथवा आमाशय में भोजन के पाचन के पश्चात् ही पानी पीते हैं।

उषापान स्वस्थ एवं रोगी दोनों के लिए समान उपयोगी होता है। प्रारम्भ में यदि एक साथ इतना पानी न पी सकें तो, प्रारम्भ में दो गिलास जल से शुरू करें। धीरे-धीरे सवा से डेढ़ लीटर तक मात्रा बढ़ावें। इतना ज्यादा पानी एक साथ पीने पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। सिर्फ प्रथम कुछ दिनों में अधिक पेशाब आ सकता है। यह प्रयोग सस्ता, सुन्दर, स्वावलम्बी और काफी प्रभावशाली होता है।

गर्म पानी औषधि है-

ठण्डे पेय तथा फ्रीज में रखा अथवा बर्फ वाला पानी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। स्वस्थ अवस्था में हमारे शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारहनाइट यानि 37 डिग्री सेन्टीग्रेड के लगभग होता है। जिस प्रकार बिजली के उपकरण एयर कंडीशनर, कूलर आदि चलाने से बिजली खर्च होती है। उसी प्रकार ठण्डे पेय पीने अथवा खाने से शरीर को अपना तापक्रम नियन्त्रित रखने के लिये अपनी संचित ऊर्जा व्यर्थ में खर्च करनी पड़ती है। अत: पानी यथा संभव शरीर के तापक्रम के आसपास तापक्रम जैसा पीना चाहिये। आजकल सामूहिक भोजों में भोजन के पश्चात् आइसक्रीम और ठण्डे पेय पीने का जो प्रचलन है, वह स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होता है।

गर्मी स्वयं एक प्रकार की ऊर्जा है और शारीरिक गतिविधियों में उसका व्यय होता है। अत: जब कभी हम थकान अथवा कमजोरी का अनुभव करते हैं तब गर्म पीने योग्य पानी पीने से शरीर में स्फूर्ति आती है। जिन

व्यक्तियों को लगातार अधिक बोलने का अर्थात् भाषण अथवा प्रवचन देने का कार्य पड़ता है, जब वे थकान अनुभव करें, तब ऐसा पानी पीने से पुनः ऊर्जा का प्रवाह सक्रिय होता है। लम्बी तपस्या करने वालों के लिये ऐसा पानी विशेष उपयोगी होता है, जिससे शक्ति का संचार होता है। गर्म पानी सर्दी संबंधी रोगों में क्षीण ऊर्जा को पुनः प्राप्त करने का सरलतम उपाय होता हैं।

साधारणतया रोजाना पानी को उबालकर पीने से उसमें रोगाणुओं और संक्रामक तत्त्वों की संभावना नहीं रहती। अतः ऐसा पानी स्वास्थ्य के लिये अधिक उपयोगी होता है।

खाली पेट गर्म पानी से अम्लपित्त जनित हृदय की जलन और खट्टी डकारें आना दूर हो जाता है। गर्म जल सुखी खांसी की प्रभावशाली औषधि है। सहनीय एक गिलास गर्म जल में थोड़ा सा सेंधा नमक डालकर पीने से कफ पतला हो जाता है और अंत में खांसी का वेग बहुत कम हो जाता है। खाली पेट दो गिलास गर्म पानी पीने से मूत्र का अवरोध दूर होता है। जिनके मूत्र पीला अथवा लाल हो, मूत्र नली में जलन हो उनको गर्म जलपान करना चाहिए।

पानी कब न पीना चाहिए?

चिकनाई वाले पदार्थ अथवा मीठा खाने के तुरन्त बाद पानी पीने से खांसी और गले के रोग होने की संभावना रहती है। धूप में चलकर आने पर अथवा व्यायाम के पश्चात् जब तक पसीना पूरा सूख न जायें पानी नहीं पीना चाहिये, अन्यथा तुरन्त जुकाम होने की संभावना रहती है। चिकित्सकों की दृष्टि से शौच के तुरन्त पश्चात् भी पानी नहीं पीना चाहिये। सोने के लगभग दो घंटे पूर्व तक पानी नहीं पीना चाहिये। विशेषकर ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें रात्रि में पेशाब के लिए बार-बार उठना पड़ता है। सोते समय पानी पीने से निद्रा में पेशाब की शंका बनी रहने के कारण गहरी निद्रा आने में बाधा पहुँचती है। एक बार निद्रा भंग होने के पश्चात् पुनः निद्रा सरलता से नहीं आती। अतः ऐसे व्यक्तियों को अधिक समय तक सोये रहना पड़ता है। परिणाम स्वरूप प्रातः जल्दी नहीं उठ पाते।

पानी का उपयोग कैसे करे?

पानी को छानकर ही प्रयोग करना चाहिए। अगर पानी गंदा हो तो, पीने से पहिले उसको किसी भी विधि द्वारा फिल्टर करना चाहिए। कठोर पानी पीने योग्य नहीं होता। उबला हुआ पानी स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद होता है।

पानी को घूंट-घूंट, धीरे-धीरे चन्द्र स्वर में पीना स्वर में पीना चाहिये और शरीर के तापक्रम पर हो जाने के पश्चात् पानी को निगलना चाहिए।

प्रत्येक भोजन के डेढ़ से दो घंटें पहले पर्याप्त मात्रा में जलपान करना उत्तम रहता है। ऐसा करने से पेट के अन्दर अपचित आहार जो सड़ता रहता है, पानी में पूर्णतया घुल जाता हैं। पाचन संस्थान एवं पाचक रस ग्रन्थियाँ सबल एवं स्वस्थ बनती है। इसी प्रकार भोजन के दो घंटें पश्चात् मात्रा में जितनी आवश्यकता हो पानी पीना चाहिये, जिससे शरीर में जल की कमी न हों। पर्याप्त मात्रा में जल पीने से पित्ताशय व गुर्दे की पथरी तथा जोड़ों की सूजन व दर्द ठीक होते हैं। रक्त में मिश्रित विकार धुलकर बाहर निकल जाते हैं।

1. जल से शरीर के अन्दर की गर्मी एवं गंदगी दूर होती है।

2. खड़े-खड़े पानी पीने से गैस, वात, विकार, घुटने तथा अन्य जोड़ों का दर्द, दृष्टि दोष, श्रवण विकार होते हैं।
3. थकावट होने अथवा प्यास लगने पर पानी धीरे-धीरे घूंट-घूंट पीना लाभप्रद होता है।
4. भय, क्रोध, मूर्च्छा, शोक व चोट लग जाने के समय अन्तःश्रावी ग्रन्थियों द्वारा छोड़े गये हानिकारक श्रावों के प्रभाव को कम करने के लिये पानी पीना लाभप्रद होता है।
5. लू तथा गर्मी लग जाने पर ठंडा पानी व सर्दी लग जाने पर गर्म पानी पीना चाहिये, उससे शरीर को राहत मिलती है। पानी पीकर गर्मी में बाहर निकलने पर लू लगने की संभावना नहीं रहती।
6. उच्च अम्लता में भी अधिक पानी पीना चाहिए, क्योंकि यह पेट तथा पाचन नली के अन्दर की कोमल सतह को जलन से बचाता है।
7. दिन में दो घंटें के अन्तर पर पानी अवश्य पीना चाहिए, क्योंकि इससे अन्तःश्रावी ग्रन्थियों का स्राव पर्याप्त मात्रा में निकलता रहता है।
8. उपवास के समय पाचन अंगों को भोजन पचाने का कार्य नहीं करना पड़ता। अतः वे शरीर में जमे विजातीय तत्त्वों को आसानी से निकालना प्रारम्भ कर देते हैं। अधिक पानी पीने से उन तत्वों के निष्कासन में मदद मिलती है।
9. पेट में भारीपन, खट्टी डकारें आना, पेट में जलन तथा अपच आदि का कारण पाचन तंत्र में खराबी होता है। अतः ऐसे समय गर्म पानी पीने से पाचन सुधरता है और उपरोक्त रोगों में राहत मिलती है।
10. डायरिया, हैजा व उल्टी, दस्त के समय उबाल कर ठंडा किया हुआ पानी पीना चाहिये, क्योंकि यह पानी कीटाणु रहित हो जाता है तथा दस्त के कारण शरीर में होने वाली पानी की कमी को रोकता है।
11. गले और नाक में गर्म जल की वाष्प के बफारे लेने से जुकाम और गले संबंधी रोगों में आराम मिलता है।
12. पीने वाली अधिकांश दवाईयां में पानी का उपयोग किया जाता है।
13. अधिकांश ठोस दवाईयां भी चाहें वे एलोपेथिक की टेबलेट हों अथवा आयुर्वेद या अन्य चिकित्सा पद्धति से संबंधित मुंह में लेने वाली दवाईयों को पानी के माध्यम से सरलता पूर्वक निगला जा सकता है।
14. त्रिफला के पानी से आंखें धोने पर रोशनी सुधरती है। रात भर दाणा मैथी में भिगोया पानी पीने से पाचन संबंधी रोग ठीक होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में शारीरिक शुद्धि के लिये पानी का अलग-अलग ढंग से उपयोग किया जाता है।
15. विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त स्नान ताजा पानी से ही करना चाहिये। ताजा पानी रक्त संचार को बढ़ाता है। जिससे शरीर में स्फूर्ति और शक्ति बढ़ती है। जबकि गर्म पानी से स्नान करने पर आलस्य एवं शिथिलता बढ़ती है।

जल चिकित्सा के अनुभूत प्रयोग-

पानी विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं को सरलता से अपने अन्दर समाहित कर लेता है। अतः आजकल विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में पानी में आवश्यक ऊर्जा संचित कर रोगी को देने से उपचार को प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

1. सूर्य किरण और रंग चिकित्सा के अन्तर्गत शरीर में जिस रंग की आवश्यकता होती है, उस रंग की कांच की बोतल या बर्तन में पानी को निश्चित विधि तथा धूप में रखने से पानी में उस रंग के गुण आ जाते हैं। ऐसा पानी पीने से रोगों में राहत मिलती है तथा यदि स्वस्थ व्यक्ति पीये तो रोग होने की संभावना नहीं रहती।
2. पानी को आवश्यकतानुसार चुम्बक पर रखने से उसमें चुम्बकीय ऊर्जा संचित होने लगती है। उस पानी का उपयोग चुम्बकीय चिकित्सक विभिन्न रोगों के उपचार में करते हैं।
3. सूर्य किरण एवं चुम्बक की भांति पिरामिड के अन्दर अथवा पिरामिड के अन्दर अथवा पिरामिड समूह के ऊपर पानी रखने में उसमें स्वास्थ्यवर्धक गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका सेवन करने से रोगों में राहत मिलती है और स्वस्थ व्यक्ति रोग मुक्त रहता है।
4. पानी को रेकी, रत्नों, मंत्रों अथवा आवश्यकतानुसार स्वर तथा विभिन्न रंगों के बिजली के प्रकाश की तरंगों से भी अर्जित किया जा सकता है। जिसके सेवन से असाध्य एवं संक्रामक रोगों का उपचार किया जा सकता है।
5. पानी को जैसे बर्तन अथवा धातु के सम्पर्क में रखा जाता है, उसमें उस धातु के गुण उत्पन्न होने लगते हैं। प्रत्येक धातु का स्वास्थ्य की दृष्टि से अपना अलग-अलग प्रभाव होता है।
6. सोने से ऊर्जित जल पीने से श्वसन प्रणाली के रोग, जैसे-दमा, श्वास फूलना, फेंफड़े संबंधी रोगों,हृदय और मस्तिष्क संबंधी रोगों में लाभ होता हैं।
7. चांदी से पाचन क्रिया के अवयवों जैसे-आमाशय, लीवर, पित्ताशय, आंतों के अनेक रोगों एवं मूत्र प्रणाली के रोगों में आराम मिलता है।
8. तांबें में ऊर्जित जल के सेवन से जोड़ों के रोग, पोलियों, कुष्ठरोग, रक्त चाप, घुटनों का दर्द, मानसिक तनाव आदि में काफी लाभ होता हैं।

उपरोक्त तीनों धातुओं से ऊर्जित निश्चित विधि द्वारा तैयार पेय स्त्री-पुरुष, बच्चों-जवान-वृद्धों सबके लिये शक्तिवर्धक होने से लाभदायक होता है।

भोजन और स्वास्थ्य

भोजन हेतु समग्र दृष्टिकोण आवश्यक-

हवा और पानी के पश्चात् शरीर को चलाने के लिये तीसरी मुख्य आवश्यकता भोजन की होती है। भोजन की शरीर के सभी अवयवों के निर्माण में अहं भूमिका होती है। शरीर को ताकत मिलती है। अतः भोजन के बारे में काफी शोध हो रही है। परन्तु अधिकांश आहार विशेषज्ञों ने शरीर को ताकतवर, शक्तिशाली बनाने हेतु आवश्यक रासायनिक तत्त्व और ऊर्जा को जैसे-प्रोटीन, विटामिन, कार्बोज, लवण, जल, वसा और केलोरीज की मात्रा को तो अत्यधिक महत्त्व दिया। किसी खाद्य पदार्थ में क्या-क्या तत्त्व कितनी-कितनी मात्रा में होते हैं, उनकी जानकारी से जन साधारण को अवगत कराया। परन्तु भोजन के अवयव कितने सात्त्विक, अहिंसक, शुद्ध और पवित्र होने चाहिये, उस संबंध में अपेक्षित प्राथमिकता नहीं दी। परिणाम स्वरूप पौष्टिकता के नाम पर आज

भक्ष्य-अभक्ष्य, खाद्य-अखाद्य, करणीय-अकरणीय, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय, वर्जित-अवर्जित आदि का विवेक मानव खोता जा रहा है।

अधिकांश आहार गोष्ठियों में भोजन के पोष्टिक तत्त्वों एवं केलोरिज के बारे में चर्चा और चिन्तन प्रायः सीमित होता है। भोजन से जीवन क्यों, कितना और कैसे प्रभावित होता है? प्रायः गौण रहता है। यदि आपको कोई अपने घर भोजन के लिये आमंत्रित करें, अच्छे से अच्छा भोजन बनावे, परन्तु भोजन खिलाते समय आप पर व्यंग करें, जैसे- क्या आपको जिन्दगी में ऐसा अच्छा भोजन किसी ने कराय? मुझे आवश्यक कार्य से बाहर जाना है, कृपया आप भोजनालय से भोजन लेकर अपनी क्षुधा पूर्ति कर लेना। यदि ऐसा व्यवहार करें तो भोजन में उपलब्ध पोष्टिक तत्त्व क्यों प्रभावहीन हो जाते हैं? चिन्तन की आवश्यकता है।

भोजन कब, क्यों, कितना, कैसा और कहाँ करना चाहिए और कब, क्यों, कैसा और कहाँ नहीं करना चाहिये? भोजन कहाँ और कैसे वातावरण और बर्तनों में बनाना चाहिये और खिलाना चाहिए? दो भोजन के बीच में कितने समय का कम से कम अन्तराल होना चाहिये? थोड़ा-थोड़ा अथवा बार-बार क्यों नहीं खाना चाहिए? प्रकृति के अनुरूप भोजन का सर्वश्रेष्ठ अनुकूल समय कौन सा होता है? रात्रि भोजन क्यों नहीं करना चाहिए? भोजन करते समय आसपास का वातावरण, हमारी भूख, आसन, विचार, भावना, मानसिकता, चिन्तन कैसा है? भोजन मौसम और शारीरिक अवस्था के अनुकूल है अथवा नहीं? उसमें क्या-क्या कितने-कितने उपयोगी अथवा अनुपयोगी पदार्थ हैं? जिस उद्देश्य से भोजन किया जा रहा है, उसका कितना प्रतिशत लाभ मिल रहा है? अगर नहीं मिल रहा है, तो क्यों नहीं मिल रहा हैं?

भोजन को प्रभावित करने वाले ऐसे अनेकों परमावश्यक तथ्य आहार विशेषज्ञों की चर्चा, चिन्तन और अभिव्यक्ति में प्रायः गौण रहते हैं। रोगी को भोजन संबंधी परामर्श देते समय प्रायः उपेक्षित रहते हैं। जिनका महत्त्व पोष्टिकता से भी अधिक होता है। जिस प्रकार विष की चंद बूंदें टनों दूध को अपेय बना देती है। एक चिनगारी सारे घास के ढ़ेर को जलाने की क्षमता रखती है। एक सांप के काटने से व्यक्ति मर सकता है। मृत्यु के लिये सौ सांपों के काटनें की आवश्यकता नहीं होती। ठीक उसी प्रकार भोजन में उपरोक्त तथ्यों में से किसी भी तथ्य की उपेक्षा भोजन से होने वाले लाभ से वंचित रख सकती है।

भारत के नागरिकों का खान-पान, मौसम की विविधता, विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियाँ, पारिवारिक और सामाजिक संरचना में अनेकता तथा रीति-रिवाजों, त्यौहारों, अलग-अलग उपासना पद्धतियों का समन्वय होने से एक जैसा भोजन संभव नहीं होता। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति में प्रायः इतना बदलाव नहीं होता। हमारी दिनचर्या और जीवन शैली विदेशियों से मेल नहीं खाती। अतः भोजन में उनका अन्धाःनुकरण स्वास्थ्य के सदैव अनुकूल हो आवश्यक नहीं।

जिस वातावरण और स्थान पर हम रहते हैं, हमारे लिये आवश्यक सभी खाद्य पदार्थों का उत्पादन प्रकृति उस क्षेत्र में करती है। सभी जीव जन्तु वही खाते हैं, जो उनके आसपास उपलब्ध होता है। वे कोई खाद्य पदार्थों का अन्य स्थानों से आयात नहीं करते। अतः जिस मौसम में जो फल, सब्जियाँ और अन्य खाद्य पदार्थ सहज और सरलता से भरपूर मात्रा में उपलब्ध हों, वे सारे पदार्थ प्रायः स्वास्थ्य के अनुकूल होते हैं। प्रकृति के नियम और

कानून गरीब और अमीर सबके लिये समान होते हैं। अतः मंहगे, बेमौसमी, आयातित खाद्यान्न का सेवन स्वास्थ्य के लिये सदैव उपयोगी हो, पूर्णत मिथ्याधारणा है।

जो भोजन सहज रूप से उपलब्ध होता है, उसे शांत भाव से ग्रहण करना चाहिये। भोजन में पौष्टिक तत्त्वों एवं केलोरीज की आवश्यक मात्रा, जितनी ऊर्जा नहीं देती, उससे ज्यादा मानसिक तनाव, भय और चिन्ता के कारण ऊर्जा का अपव्यय हो जाता है, जो घाटे का सौदा होता है। अधिकांश व्यक्तियों को सावधानी रखते हुए भी वही भोजन लेना पड़ता है जो घर में बनता है। घर में प्रत्येक परिजन के आवश्यकतानुसार प्रायः भोजन नहीं बनता। अतः भोजन करते समय भोजन के अवयवों के बारे में व्यर्थ चिन्तन नहीं करना चाहिये। जिससे तनाव व्यर्थ तनाव और चिन्ता होती है। जो भोजन में उपलब्ध पौष्टिक तत्त्वों की कमी से ज्यादा हानिकारक होती है। अतः उपलब्ध भोजन को शांत भाव से ग्रहण करना अधिक लाभप्रद होता है।

भोजन में प्राथमिकता क्या हो?

भोजन के संबंध में हमारी प्राथमिकताएँ क्या हो? क्या कभी हमने मनोबल और आत्मबल की क्षमताओं को जानने, समझने तथा अनुभव करने का प्रयास किया? भोजन न केवल शरीर को ताकत देता है, अपितु हमारे विचारों, भावनाओं, चिन्तन तथा जीवन शैली को भी प्रभावित करता है। जिस प्रकार बिना कपड़े आभूषण से शरीर को सजाने वालों पर दुनिया हँसती हैं। यद्यपि आभूषणों का मूल्य तो कपड़ों (पोशाक) से ज्यादा ही होता है। ठीक उसी प्रकार पौष्टिकता और स्वाद के नाम पर मन और आत्मा को विकारी और कमजोर बनाने वाला भोजन करना अदूरदर्शिता पूर्ण आचरण ही होता है।

भोजन का पूर्ण चयापचय (Metobolism) आवश्यक

भोजन जितना महत्वपूर्ण नहीं, उतना उसका सही पाचन जरूरी है। भोजन के पाचन से सर्व प्रथम उसका रस बनता है। उसके पश्चात् रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी और अंत में वीर्य बनता है। वीर्य का निर्माण चयापचय की सम्पूर्ण क्रिया होने पर ही संभव है। जिस भोजन से मात्र रक्त, चर्बी अथवा हड्डियों आदि के अवयव बनते हों, वीर्य नहीं बनता हो, उस भोजन की पाचन क्रिया को पूर्ण एवं संतुलित नहीं कहा जा सकता। साथ ही हमें असंयम पूर्ण जीवन जीते हुए अपने वीर्य का यथा संभव अपव्यय और दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। वीर्य का नाश कमजोरी और रोगों का आमन्त्रण है तथा वीर्य की रक्षा स्वस्थ जीवन का राजमार्ग। आप स्वयं चिन्तन करें कि आपकी प्राथमिकता क्या है?

आजकल अधिकांश व्यक्ति प्रायः भोजन शरीर की आवश्यकतानुसार नहीं करते, अपितु मजबूरी और स्वाद की प्राथमिकता के अनुसार करते हैं। भोजन से न केवल स्वाद, अपितु शक्ति भी मिलनी चाहिए। हमें जीने के लिये भोजन करना चाहिये। परन्तु आजकल प्रायः हम भोजन के लिये जीते हैं, ऐसा समझा जावे तो आश्चर्य नहीं। गंदी से गंदी वस्तुओं को खाते समय छान बीन नहीं करते। मात्र उस पर डाली गई सुगन्ध, आकर्षक पेकिंग, मन लुभावने भ्रामक विज्ञापनों से भ्रमित हो स्वाद की लोलुपता के कारण स्वविवेक न होने से ग्रहण करते तनिक भी संकोच नहीं करते। पाचन हो या न हो खाना एक रिवाज बन गया हैं।

इसी कारण आज दुनिया में 80 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति खाने का विवेक न होने अथवा ज्यादा खाने से बीमार होते हैं। इसीलिये तो कहा गया हैकि ष डवतम क्यौमे डवतम क्येमेंमेष अर्थात् ''जितना ज्यादा खाना उतने

ज्यादा रोग।'' हमारे यहां लोकोक्ति प्रसिद्ध है- ''एक समय खाने वाला महा रोगी।'' हम स्वयं आत्म निरीक्षण करें कि हम कौनसी श्रेणी में हैं। इसी कारण बाह्य रूप से भले ही हम अपने आपको स्वस्थ समझें, हमारे शरीर में परोक्ष रूप से सैकड़ों रोग होते हैं।

हम भलीभांति जानते हैं कि जिस फुटबाल अथवा हाकी की टीम में यदि गोल रक्षक कमजोर हो, वह टीम मैच तभी जीत सकती हैं, जबकि आगे के खिलाड़ी अधिक मजबूत, सजग, सक्रिय हों, ताकि गोलरक्षक तक फुटबाल कम से कम पहुँचे। ठीक उसी प्रकार यदि हम दांतों का कार्य आमाशय से करवाते हैं, तो आमाशय को भोजन पचाने के लिए अधिक श्रम करना पड़ता है, अधिक पाचक रसों की आवश्यकता होती है। परन्तु शरीर सीमित मात्रा में ही पाचक रस भेजता है। परिणामस्वरूप पाचन बिगड़ने लगता है। अतः स्वास्थ्य प्रेमियों को दांतों का कार्य दांतों से ही करना चाहिए न कि आमाशय से। अर्थात् भोजन को पूर्ण चबा-चबा कर ही खाना चाहिए।

बार-बार भोजन करना हानिकारक-

हमारे ऋषि मुनियों ने एकासन करने की जो बात कहीं, उसके पीछे यही उद्देश्य था कि मुँह में जब चाहे कुछ न डाला जाये। जो कुछ खाना हो एक या दो बार ही खाया जाये। ताकि हमारे आमाशय को बाकी समय पूर्ण आराम मिल जाये। जब हम कोई भी पदार्थ मुंह में डालते हैं, चाहें उसकी मात्रा बहुत कम ही क्यों न हो, सारी पाचन व्यवस्था को सजग और सक्रिय हो कार्य करना पड़ता है। जिस प्रकार किसी रेलवे फाटक पर कार्यरत चौकीदार को चाहे अकेला इंजिन उधर से निकले अथवा राजधानी एक्सप्रेस, फाटक बंद करने की प्रक्रिया में उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। किसी बस में चाहे एक यात्री हो अथवा पूरी बस भरी हो, बस चालक को कोई अन्तर नहीं पड़ता। पेट्रोल की खपत में भी बहुत ज्यादा अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार जितनी अधिक बार मुंह में कुछ भी डाला जायेगा उतना पाचन अंगों को अधिक कार्य करना पड़ेगा। परिणामस्वरूप जब हमारा मुख्य भोजन होगा तब वे अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पाते। समय पर अच्छी स्वाभाविक भूख नहीं लगती। भोजन समय की नियमितता नहीं रहती। इसी कारण आज अधिकांश व्यक्तियों का पाचन प्रायः ठीक नहीं होता। जितनी कम बार खाया जायेगा, उतनी भूख अच्छी लगेगी और पाचन अच्छा होगा। अतः जो मधुमेह अथवा पाचन संबंधी रोगों से पीड़ित हैं, उन्हें तो बार-बार कभी नहीं खाना चाहिए। परन्तु आज के आहार विशेषज्ञों का सोच इसके विपरीत पाया गया हैं। रोगी को थोड़ा-थोड़ा बार-बार खाने के लिये प्रेरित किया जाता है। जिस पर बिना किसी पूर्वाग्रह शोध एवं चिन्तन आवश्यक है, ताकि मधुमेह तथा पाचन रोग जैसी असाध्य बीमारी से रोगी को राहत दिलाई जा सके।

जो व्यक्ति अपनी प्रकृति और मौसम के अनुकूल भोजन करता है, भूख से थोड़ा कम और नियमित समय पर भोजन करता है, वह दीर्घजीवी होता है। आधुनिक खान-पान के समय की एक और विशेषता है कि जब शरीर श्रम करता है, तब उसे कम आहार दिया जाता है, और जब वह विश्राम की अवस्था में होता है तो उसे अधिक मात्रा में कैलोरीयुक्त आहार दिया जाता है। जैसे दिन का समय जो मेहनत परिश्रम का होता है तब तो हल्का भोजन, नाश्ता, चाय, काफी, ठंडे पेय आदि कम केलोरी वाले आहार करता है और रात्रि में जो विश्राम का समय होता है, प्रायः गरिष्ठ भोजन किया जाता है, जो स्वास्थ्य के मूल सिद्धान्तों के विपरीत होता है।

भोजन कैसा हो ?

आजकल अप्राकृतिक रासायनिक खाद के उपयोग एवं कीटाणुनाशक औषधियों के अधिक प्रयोग के कारण बाजार में उपलब्ध अधिक खाद्यान्न, फल और सब्जियाँ दूषित हो जाती है। वे शरीर का सम्पूर्ण पोषण नहीं कर सकती बल्कि सेवन से शरीर में विभिन्न प्रकार के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। हमारे शरीर में अम्ल क्षार का अनुपात 20:80 है। अतः भोजन में भी यथा संभव 80 प्रतिशत क्षार तत्त्व 20 प्रतिशत अम्ल तत्त्व होने चाहिए, जिससे शारीरिक अवयवों का सही निर्माण हो सकें।

अतः जिन खाद्य पदार्थों के उत्पादन में रासायनिक खाद, विषैली कीटनाशक दवाओं का उपयोग न किया गया हों, जिसको प्राप्त करने के लिए किसी भी चेतनाशील प्राणी की हत्या न की गई हों अथवा उन पर क्रूरता, अत्याचार और कष्ट नहीं दिये गये हों, जो भोजन अपनी प्राकृतिक अवस्था और स्वरूप में हों उसकी अवस्था एवं स्वरूप में कम से कम परिवर्तन हुआ हों, ऐसे अपनी आवश्यकता के अनुरूप पौष्टिक पदार्थों से ओतप्रोत सात्त्विक भोजन को ही सर्व श्रेष्ठ भोजन कहा जा सकता है।

''पशु खाता है केवल पेट भरने के लिए, मूर्ख खाता है केवल स्वाद के लिए।
बुद्धिमान खाता है आरोग्य और शक्ति के लिए, सन्त खाता है केवल साधना के लिए।।''

हम स्वयं निर्णय करें कि हम कैसा भोजन कर रहे हैं। यदि हम अपने आपको बुद्धिमान समझते हैं, तो भोजन को ग्रहण करने से पूर्व एक क्षण चिन्तन करें क्या भोजन हमारे अनुकूल है? किसी प्राणी के अपवित्र रक्त, मांस और चर्बी की गंदगी तो उसमें नहीं है? किसी बेगुनाह जीव की हत्या से निर्मित उस जीव की बददुआएँ की तरंगें भोजन के माध्यम से पेट में जाकर हमारे में हिंसा, क्रूरता, निर्दयता और प्रति हिंसा की ज्वाला तो पैदा नहीं करेगी? अतः भ्रामक विज्ञापनों से प्रभावित हों अखाद्य वस्तु पेट में डालकर अपने पेट को कूड़ा दान न बनायें।

जो भोजन उपर्युक्त तथ्यों के जितना समीप होता है, उसी अनुपात में उसका लाभ अधिक मिल सकता है। क्योंकि भोजन में न केवल पदार्थ का ही महत्त्व होता है, अपितु उसके बनाने के ढंग और बनाने वालों के भावों, शारीरिक स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है।

भोजन बनाने हेतु सावधानियाँ-

जो महिलाएँ मासिक धर्म से होती है, उनका आभामंडल विकृत हो जाता है। उनके सम्पर्क में आने वाले पदार्थ भी विकृत हो जाते हें। इसी कारण हमारे यहाँ उस अवस्था में महिलाओं को भोजन बनाने और पीने के पानी के संग्रह वाले स्थानों के स्पर्श पर पहले पूर्ण प्रतिबंध था। परन्तु आजकल पाश्चात्त्य संस्कृति के अन्धाःनुकरण के परिणाम स्वरूप अज्ञान और विवेक की कमी के कारण पढ़ी लिखी अधिकांश महिलाएँ उस नियम का प्रायः पालन नहीं करती। जिससे उनके द्वारा बनाया गया भोजन विकृत हो जाता है। जिस पर वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा किये गये निष्कर्षों के आधार पर सम्यक् चिन्तन और आचरण अनिवार्य है, किन्तु उपेक्षा अनुचित हैं।

दूसरी बात उबालने, मिक्सी में रस निकालने, फ्रीज अथवा स्टोरेज में रखने से खाद्य पदार्थों का प्राकृतिक स्वरूप बदल जाता है और पौष्टिक तत्त्वों में कमी आ जाती है। भोजन बनाते समय भी आजकल स्टील, एलुमिनियम और प्लास्टिक के बर्तनों का प्रयोग अधिक होता है। जिससे भोजन में हानिकारक, रासायनिक पदार्थों के मिश्रित होने की संभावना बढ़ जाती है। ऐसा भोजन शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता घटाता है।

एलुमीनियम थोड़ी सी गर्मी पाकर गलने लगता हैं और खाद्य पदार्थो के साथ पेट में जब पहुँच जाता है तो, अपाच्य विकार पैदा करता है, जिससे गुर्दे में पथरी और आंतों में खराबी होने की संभावनाएँ बढ़ सकती हैं। अतः यथा संभव एलुमीनियम के बर्तनों का उपभोग खाना बनाने में नहीं करना चाहिए। परन्तु आजकल प्रायः घरों में कूकर, ओवन आदि एलुमीनियम के ही भोजन बनाने में उपयोग में लिए जाते हैं, जो उचित नहीं है।

इसी कारण हमारे पूर्वज भोजन बनाने में मिट्टी के बर्तनों तथा अपनी क्षमतानुसार चाँदी के बर्तनों का उपयोग खाना खाने में करते थे। इस संबंध में विस्तृत जानकारी धातु चिकित्सा ;द्ध करने वो अनुभवी विशेषज्ञों से परामर्श कर प्राप्त की जा सकती हैं।

भोजन बनाने वालों के भावों का महत्व-

भोजन बनाने वालों के भावों की तरंगें भी हमारे भोजन को प्रभावित करती है। माता और पत्नी जिस प्रेम से अपने पुत्र एवं पति को खिलाने हेतु भोजन बनाती है, उसमें बाजार में उपलब्ध पौष्टिक पदार्थों से अधिक ऊर्जा और तृप्ति मिलती है। भोजन जिन भावों से बनाया जायेगा, खाने वाले का मन उसी के अनुरूप बन जायेगा। इसीलिये हमारे यहाँ लोकोक्ति प्रसिद्ध है- **''जैसा अन्न वैसा मन, जैसा मन वैसा चिन्तन। जैसा चिन्तन वैसा विचार। जैसा विचार वैसा स्वभाव। जैसा स्वभाव वैसी वृत्तियाँ और जैसी वृत्तियाँ वैसे संस्कार।''**

खाया हुआ भोजन तीन भागों में विभक्त हो जाता है। स्थूल भाग मल बनता है, मध्यम अंश से शरीर के अवयवों का निर्माण होता है। सूक्ष्म अंश से मन की पुष्टि होती है। जिस प्रकार दही के मन्थन से उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर मक्खन बन जाता है, जिसको और तपाया जाये तो घी बन जाता है। ठीक उसी प्रकार अन्न के भावांश से मन बनता है। इसी कारण होटल के खाने से पेट तो भर सकता है, परन्तु मन नहीं। पेट भोजन से भर सकता है, परन्तु मन तो भोजन में होने वाले भावों से ही भरता है। जैन आगमों में निर्दोष आहार प्राप्ति के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन मिलता हैं। आध्यात्मिक संतों का आहार कैसा हो? उसे कैसे प्राप्त किया जाए? उसको ग्रहण कैसे किया जाए तथा ग्रहण करते समय कैसा चिन्तन हों? साधुओं को आहार लेते समय जिन 42 दोषों की चर्चा की गई है तथा आहार ग्रहण करते समय जिन 47 दोषों से सावधान रहने का जो निर्देष दिया गया है, निश्चय ही पठनीय, मननीय, चिन्तनीय एवं आचरणीय है। ऐसा आहार ही साधक को शरीर के पोषण के साथ-साथ मन को संयमित, नियन्त्रित एवं पोषण करने वाला होता है। जिज्ञासु पाठक उनका अध्ययन कर अपने आहार को अधिकाधिक सात्विक बनाएं, ऐसा अपेक्षित है। इसी कारण तामसिक भोजन करने वाला तामसिक वृत्तियों वाला होता है। तामसिक व्यक्ति शरीर के लिए जीता है। उसके लिये बाकी सब बातें गौण होती है। उसके भोजन का उद्देश्य होता है स्वाद और पेट भरना। परिणाम स्वरूप वह अधिक प्रमादी होता है। राजसिक भोजन से मन और बुद्धि चंचल होती है। राजसिक प्रवृत्ति वाले अत्यधिक महत्वाकांक्षी होते हैं। अतः उन्हें उत्तेजना पैदा करने वाला भोजन अच्छा लगता है। सात्त्विक भोजन ही संतुलित होने से सर्वश्रेष्ठ होता है। क्योंकि ऐसा भोजन करने से न तो उत्तेजना आती है, न मादकता, न आलस्य और न कमजोरी। परन्तु स्फूर्ति और ताकत प्राप्त होती हैं।

बाजार में उपलब्ध भोजन तथा कारखानों में निर्मित पदार्थो में घर में बने भोजन जैसी पवित्रता, स्वच्छता, विवेक और उच्च भावों का अभाव होने से, उस भोजन से मात्र पेट भरा जा सकता है, परन्तु शरीर में आवश्यक अवयवों का पूर्ण निर्माण प्रायः नहीं होता। अपितु अपाच्य पदार्थों के विसर्जन हेतु शरीर को अधिक ऊर्जा खर्च

करनी पड़ती हैं। परन्तु आजकल घर में भोजन बनाने को मजबूरी समझा जाता है और बाहर बने बनाये पदार्थों को खाने का प्रचलन काफी बढ़ गया है, जिससे न केवल स्वास्थ्य बिगड़ता है, अपितु पारिवारिक प्रेम, अपनापन और घनिष्ठता समाप्त हो रही है, जो भारतीय संस्कृति की पवित्र परम्पराओं के लिए घातक है।

भोजन भी दवा है-

भोजन के मुख्यरूप से छः स्वाद होते हैं- 1. मीठा, 2. खट्टा, 3. नमकीन, 4. तीखा, 5. कड़वा, 6. कषैला।

अधिकांश व्यक्तियों के भोजन में प्रायः अंतिम दो स्वादों का अभाव होता है। यदि भोजन में इनका समुचित समावेश किया जाये तो मधुर स्वाद का दुष्प्रभाव दूर हो जाता है और पाचन सुधरता है।

प्राकृतिक चिकित्सकों और आहार विशेषज्ञों के दृष्टिकोण से भोजन ही औषधि है। अतः उनकी मान्यता के अनुसार रोगी का उपचार चिकित्सालय की अपेक्षा भोजनालय में होना चाहिए। बड़े-बड़े अनुभवी हृदय रोगों के चिकित्सक दवाओं के दुष्प्रभावों के कारण मात्र संतुलित भोजन से हजारों हृदय रोगियों का सफल उपचार करने में सफल हुए हैं। स्वस्थ होने पर भोजन पोषण के लिये और रोग होने पर रोग को दूर करने के लिए भोजन औषधि का कार्य करता है।

शरीर के लिए जो आवश्यक, अपाच्य, अभक्ष्य, अखाद्य पदार्थों का खाना, पेट को कचरा पेटी बनाना है। गलत आहार जितनी सरलता से गले के नीचे उतर जाता है, उतनी सहजता से उसके अपाच्य तत्त्व, पेट से बाहर नहीं निकल पाते। इस प्रकार व्यक्ति अज्ञान और अविवेक के कारण स्वयं गलती करता है और रोग को गले लगाता है। साथ ही अपनी लापरवाही के कारण बढ़ते रोगों की उपेक्षा करता है, जब तक वे अपना विकराल रूप न धारण कर लें। ऐसे मानव क्या स्वयं के प्रति ईमानदार कहें जा सकते हैं?

भोजन कितना, कैसे और कहाँ खाया जाये-

भोजन उतना ही करें, जिसका पूर्ण पाचन हो सकें। हम प्रायः जितना खाते हैं, उसके दो तिहाही भाग से हम जीवित रहते हैं। तथा एक तिहाही भाग से चिकित्सक। पाचन संस्थान शरीर का वह तंत्र है जो आहार को ग्रहण करने, उसका पाचन करने, पाच्य आहार से शरीर के लिए आवश्यक समस्त पोषक तत्त्वों का अवशोषण करने तथा पाचन एवं अवशोषण के उपरान्त जो अनुपयोगी पदार्थ बचते हैं, उन व्यर्थ पदार्थों का मल के रूप में शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है। उपर्युक्त कार्यो में यदि कहीं भी अपूर्णता रहती है अथवा अवरोध होता है तो जो भोजन शक्ति वर्धक होना चाहिये, वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो जाता है।

पाचन क्रिया का प्रारम्भ मुँह से होता है। भोजन को खूब चबाकर धीरे-धीरे खाना चाहिए, ताकि उसमें अधिक से अधिक लार और थूक का मिश्रण हो सकें। ऐसा करने से भोजन का अधिकांश पाचन मुंह में ही हो जाता है। अधिक स्वाद मिलता है, और भोजन से तृप्ति होती है। परन्तु आज तेजी का युग है, प्रत्येक व्यक्ति कम समय और कम श्रम में जीवन की समय समस्या का सरलतम समाधान चाहता है। परिणाम स्वरूप भोजन के लिये अधिकांश व्यक्तियों को समय ही नहीं होता है। वे मात्र मजबूरी से खाना खाते हैं। शान्त, प्रसन्नचित, एकाग्रता से मौन पूर्वक खाना नहीं खा सकते। भोजन करते समय सारा ध्यान भोजन में होना चाहिए न कि कुछ देखने, सुनने, पढ़ने अथवा बातचीत करने में बोलते रहने से मुँह में लार कम बनती है। फलतः मुँह सूखने लग सकता है। जिससे भोजन के बीच में पानी पीना पड़ता है। भोजन के बीच में पानी पीने से पेट की जठराग्नि शान्त हो जाती हैं और

आमाशय में भोजन को पेन्क्रियाज, लीवर, गाल ब्लेडर आदि से मिलने वाले पाचक रस पतले हो जाते हैं। जिससे आमाशय में भोजन का पूर्ण क्षमता से पाचन नहीं हो सकता।

दूसरी बात भोजन को चबा-चबा करने से, भोजन में जो शर्करा का अंश होता है, वह प्रचुर मात्रा में थूक में मिलने से मुँह में ही पाचन हो जाता है और पेन्क्रियाज को उस शर्करा को पचाने के लिये ज्यादा इंसुलिन की आवश्यकता नहीं होती। अतः मधुमेह और पाचन संबंधी अन्य रोगियों के लिये धीरे-धीरे पूरा चबाकर भोजन करना सर्वोत्तम औषधि का कार्य करता है।

तीसरी बात भोजन खड़े-खड़े नहीं करना चाहिए। क्योंकि उससे आमाशय को भोजन पचाने हेतु अधिक श्रम करना पड़ता है। भोजन पालकी आसन में बैठकर करना चाहिए। भोजन करने से पूर्व अपने आराध्य का स्मरण, भोजन को नमस्कार तथा सुपात्र दान की भावना रखनी चाहिए। भोजन को भगवान का प्रसाद समझ कर खाना चाहिए। भोजन समभाव पूर्वक अर्थात बिना किसी प्रतिक्रिया, निंदा अथवा प्रशंसा के करना चाहिए। भोजन का एक कण भी झूठा नहीं डालना चाहिए। भोजन करने के पश्चात् ''आरोग्य बोहि लाभं, समाहिवर-मुत्तमं दिन्तु''- अर्थात् ग्रहण किया गया भोजन मुझे अरोग्य, निर्मल बुद्धि एवं सम्यक् श्रद्धा का पात्र बनाये- ऐसा चिन्तन करना चाहिए। हमारे आसपास जो उपस्थित हों, उन्हें भोजन का निमन्त्रण देकर भोजन करना चाहिए। क्योंकि भूखे को भोजन खिलाकर भोजन करना हमारी संस्कृति है। पूर्व दिशा में शक्ति के स्रोत सूर्य का उदय होता है। अतः पूर्व दिशा की तरफ मुख करके भोजन करने से भोजन की शक्ति बढ़ जाती है। भोजन करते समय सूर्य स्वर चलाना चाहिए ताकि भोजन का पाचन अच्छा होता है। भोजन में कम से कम पदार्थो का समावेश होना चाहिए। अथवा जिन पदार्थो को आपस में मिलाया जा सकता है, उन्हें मिला देना चाहिए ताकि भोजन करते समय-समय बार-बार स्वाद में परिवर्तन न हों, अथवा एक ही प्रकार के पदार्थ एक साथ खाना चाहिए। फिर दूसरे पदार्थ को खाना चाहिए। हम अच्छी तरह जानते हैं कि जिस वाहन का गियर बार-बार बदला जाता हैं, उस वाहन को ज्यादा ऊर्जा की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक कौर में स्वाद बदलने से भोजन के पाचन हेतु अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। भोजन स्वच्छ, प्रदुषण रहित स्थान पर करना चाहिए। भोजन करने और पानी पीते समय मेरु दण्ड सीधा नहीं होना चाहिए ताकि भोजन आमाशय में धीरे-धीरे पहुँचे।

भोजन में दृष्टि दोष-

भोजन खिलाने वाले की सोच नकारात्मक, द्वेषात्मक, घृणात्मक नहीं होना चाहिए। भोजन में स्पर्श दोष की भांति दृष्टि दोष का भी प्रभाव पड़ता है। हमारे पौराणिक ग्रन्थों के अनुसार भोजन पर भुखे, नीच, दरिद्र, पाखण्डी, रोगी आदि की दृष्टि ठीक नहीं होती। उनकी विष दृष्टि भोजन में संक्रमित होने से भोजन अपाच्य बन जाता है। अच्छी या बुरी दृष्टि में कितनी शक्ति होती है, उसको आजकल सम्मोहन विद्या द्वारा प्रमाणित किया जा चुका है। व्यक्तियों की भांति अनेक पशु पक्षियों की दृष्टि भी भोजन के लिए हानिकारक होती है। अतः सर्प, कुते, कौए, चील, मुर्गे आदि जानवरों की दृष्टि से भोजन को दूर रखना चाहिए। क्रोध अथवा अन्य किसी प्रकार के आवेग के समय भोजन नहीं करना चाहिए। पेय या भोजन न अधिक गर्म और न अधिक ठण्डा होना चाहिए। शरीर के तापक्रम पर भोजन अधिक लाभप्रद होता है।

उपर्युक्त नियमों का भोजन करते समय जितना अधिकाधिक पालन किया जाता है, उतना भोजन सरस, सुपाच्य और स्वादिष्ट बन जाता ह। और भोजन से जो हम अपेक्षा करते हैं, उसका हमें पूरा-पूरा लाभ मिलता है।

भोजन के पश्चात् हमारी स्फूर्ति बढ़नी चाहिए। शरीर हल्का लगना चाहिए। भोजन के पश्चात् भारीपन अथवा निद्रा आना दुर्बल पाचन शक्ति के संकेत होते हैं। भोजन के तुरन्त बाद में कठिन परिश्रम कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उस समय पाचन क्रिया हेतु जो अधिक रक्त संचालन की आवश्यकता आमाशय को होती है, उमसें बाधा उत्पन्न होती है। भोजन के पश्चात् कुछ समय वज्रासन में बैठना, टहलना स्वास्थ्य के लिए और पाचन के लिए लाभप्रद होता है। भोजन के पश्चात् निद्रा नहीं लेनी चाहिए। भोजन के पश्चात् निद्रा आने का कारण या तो आवश्यकता से अधिक भोजन अथवा ठण्डा, बासी, तामसिक भोजन करना होता है। जिसको पचाने के लिए आमाशय को अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। परिणामस्वरूप उस स्थिति में मस्तिष्क को आवश्यकता के अनुरूप ऊर्जा न मिलने से उसकी गतिविधि शिथिल हो जाती है और निद्रा आने लगती है।

भोजन के अनुकूल हमारी दिनचर्या कैसी हो?

प्रकृति के अनुकूल दिनचर्या आवश्यक

सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल उदय होकर सायंकाल ही क्यों अस्त होता है? निद्रा का समय प्रायः रात्रि में ही क्यों उपयुक्त होता है? प्रातःकाल ही प्रायः अधिकांश व्यक्ति मल-त्याग क्यों करते हैं? भ्रमण एवं श्वसन सम्बन्धी व्यायामों अथवा प्राणायाम प्रातः ही क्यों विशेष लाभप्रद होता है? जैन धर्म में रात्रि भोजन का क्यों निषेध किया गया है? मौसम के अनुकूल खान-पान और रहन-सहन में परिवर्तन क्यों आवश्यक है? हमारी दिनचर्या एवं रात्रिचर्या के पीछे क्या दृष्टिकोण है? प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में एक जैविक घड़ी होती है, जो शरीर की क्रियाओं को नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसी कारण ठीक समय पर हमें निद्रा आती है, भूख लगती है, निद्रा खुल जाती है क्या सारी बातों का कोई वैज्ञानिक सोच या आधार है अथवा हमारी सुविधा या अन्धाःनुकरण? कोई बीज कितना ही अच्छा क्यों न हो, अच्छी उपजाऊ जमीन पर बोया जावे, उचित हवा, पानी धूप होने के बावजूद उचित समय पर न बोने से नहीं उगता। ठीक उसी प्रकार भोजन, पानी, हवा, निद्रा आदि का बराबर खयाल रखने के बावजूद उचित समय पर सेवन न करने से वे अपेक्षाकृत लाभदायक नहीं होते। राम का नाम सत्य है, परन्तु शुभ प्रसंगों पर भी राम नाम सत्य है कहना अप्रासंगिक समझा जाता है। अतः हमारी दिनचर्या का चयन इस प्रकार करना चाहिये कि शरीर के अंगों की क्षमताओं का अधिकतम उपयोग हो।

क्या शरीर में सभी अंग चौबीसों घण्टे सक्रिय होते हैं?

शरीर के सभी अंगों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह वैसे तो चौबीसों घंटे होता ही है। परन्तु सभी समय सभी अंगों में एकसा नहीं होता। प्रायः प्रत्येक अंग कुछ निश्चित समय के लिये प्रकृति से अधिकतम प्राण ऊर्जा मिलने से अधिक सक्रिय होते हैं तो, कभी प्रकृति से निम्नतम प्राण ऊर्जा मिलने से अपेक्षाकृत सबसे कम सक्रिय होते हैं। इसी कारण कोई भी रोगी चौबीसों घंटे एक जैसी स्थिति में नहीं रहता। अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह का संतुलन ही स्वास्थ्य का सूचक होता है। यदि कोई रोग किसी अंग की असक्रियता से होता है तो, जिस समय उस अंग को प्रकृति से सर्वाधिक प्राण ऊर्जा का प्रवाह होता है, तब रोगी को अपेक्षाकृत आंशिक राहत का अनुभव होता है। उसके विपरीत जब रोग उस अंग की अधिक सक्रियता से होता है तो जब उस अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम

होता है, तब रोगी को अधिक राहत का अनुभव होता है। कभी-कभी हम अनुभव करते हैं कि रोगी को निश्चित समय होते ही रोग के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण उस समय संबंधित अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह अधिकतम या निम्नतम होता है।

वैज्ञानिक शोधों का यह निष्कर्ष है कि शरीर में सभी अंगों में सभी समय एक ब्रह्माण्ड से प्राण ऊर्जा का प्रवाह नहीं होता। लगभग प्रत्येक प्रमुख अंगों में दो-दो घंटें सर्वाधिक तो उसके ठीक विपरीत समय अर्थात् 12 घंटे पश्चात् निम्नतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह उस अंग में होता है। इसी कारण एक ही लक्षण वाली बीमारियों के अलग-अलग समय में प्रकट होने के कारण अलग-अलग होते हैं। जैसे किसी व्यक्ति को प्रातःकाल सिर दर्द होता है अथवा चक्कर आता है और किसी अन्य रोगी को दोपहर अथवा रात्रि में सिर दर्द अथवा चक्कर आता हो तो दोनों के कारण अलग-अलग होते हैं। रोग का कारण उससे संबंधित अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह ज्यादा अथवा कम होता है। इस प्रकार संबंधित रोग ग्रस्त अंग का आसानी से सही निदान किया जा सकता हैं।

शारीरिक क्रियाओं का प्रकृति से तालमेल आवश्यक-

मनुष्य की दिनचर्या में सभी बाह्य गतिविधियों का प्रारम्भ निद्रा त्याग से समापन निद्रा आने के साथ होता है। स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को शरीर में कौनसा अंग और क्रियायें कब विशेष सक्रिय रहती है, इस बात की जानकारी आवश्यक होती है, और उसके अनुरूप आचरण करना चाहिये। हमें चिन्तन करना होगा कि कोई भी शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया और कार्य क्यों करें ? कितना करें ? कहाँ करें ? कैसे करें ? इन सबके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि वह क्रिया कौन से समय करें ? जैसे भोजन कब करें ? निद्रा कब लें ? पानी कब पीयें ? व्यायाम कब करें इत्यादि ? प्रकृति के अनुरूप दिनचर्या का निर्धारण और संचालन करने से शारीरिक क्षमताओं का अधिकाधिक उपयोग होता है। हम रोगों से सहज ही बच जाते हैं, यदि अज्ञानतावश रोग ग्रस्त हो भी जावें तो पुनः शीघ्र स्वस्थ बन सकते हैं।

दुःख इस बात का है कि आज अधिकांश व्यक्तियों की दिनचर्या प्रकृति के अनुरूप नहीं है और न वे इसके प्रभाव एवं महत्त्व को समझने का भी प्रयास करते हैं। अज्ञान, अविवेक, पूर्वाग्रहों, कुतर्कों, मायावी विज्ञापनों, सरकारी और सामाजिक व्यवस्थाओं के अन्धाःनुकरण के कारण प्रकृति के साथ जनसाधारण का सही सामंजस्य नहीं होता है। परिणाम स्वरूप भोजन के समय नाश्ता और निद्रा के समय जागृत रहने जैसी आदतों को संजोय हुये हैं। हम उनके दुष्प्रभावों से अपरिचित हैं।

हम यह भूल जाते हैं कि जिसमें प्रकृति के विरुद्ध चलने की ताकत न हो, वह कम से कम उसका सहयोग तो लें। तूफान का सामना करने की क्षमता न हो तो, कम से कम हवा की दिशा में तो चले ताकि कम कठिनाई का अनुभव हो। शरीर में जिस समय जो अंग सक्रिय हो, उस समय उस अंग से संबंधित कार्य एवं क्रियायें करें। दूसरी बात जिस समय किसी अंग में प्रकृति से प्राण ऊर्जा का प्रवाह सर्वाधिक हो, यदि उस समय दूसरे अंगों के कार्य और क्रियायें करेंगे तो संबंधित अंग प्रकृति से प्राप्त अपने हिस्से की विशेष प्राण ऊर्जा (चेतना) से वंचित रह जावेगा। जैसे नगर निगम से पानी के वितरण के समय, जो पानी का संग्रह नहीं करेगा, उसको बाद में पानी की आवश्यकता पड़ने पर पछताना पड़ेगा।

शरीर के प्रमुख अंगों में प्रकृति से सर्वाधिक एवं निम्नतम ऊर्जा के प्रवाह का समय

अंगों का नाम	अंग में प्राण ऊर्जा के सर्वाधिक प्रवाह का समय	प्राण ऊर्जा के निम्नतम प्रवाह का समय
1. फेंफड़ें (LU)	प्रातः 3 से 5 बजे तक	दोपहर 3 बजे से 5 बजे तक
2. बड़ी आंत (LI)	प्रातः 5 से 7 बजे तक	सांयकाल 5 बजे से 7 बजे तक
3. आमाशय (ST)	प्रातः 7 से 9 बजे तक	सांयकाल 7 बजे से 9 बजे तक
4. तिल्ली(SP)/पेनक्रियाज	प्रातः 9 से 11 बजे तक	रात्रि 9 बजे से 11 बजे तक
5. हृदय (H)	प्रातः 11 से 1 बजे तक	रात्रि 11 से 1 बजे तक
6. छोटी आंत (SI)	दोपहर 1 से 3 बजे तक	रात्रि 1 से 3 बजे तक
7. मूत्राशय (UB)	दोपहर 3 से 5 बजे तक	रात्रि 3 से 5 बजे तक
8. गुर्दे (K)	सांयकाल 5 से 7 बजे तक	प्रातः 5 से 7 बजे तक
9. पेरीकार्डियन (PC)	रात्रि 7 से 9 बजे तक	प्रातः 7 से 9 बजे तक
10. त्रिअग्नी (TW)	रात्रि 9 से 11 बजे तक	दिन में 9 से 11 बजे तक
11. पीन्ताशय (GB)	रात्रि 11 से 1 बजे तक	दोपहर 11 से 1 बजे तक
12. लीवर (LIV)	रात्रि 1 से 3 बजे तक	दोपहर 1 से 3 बजे तक

उपर्युक्त तालिका दिन एवं रात को 12-12 घंटों तथा सूर्योदय 6 बजे तथा सूर्यास्त सांयकाल 6 बजे का आधार मानकर बनाई गयी हैं। परन्तु जहाँ दिन रात बराबर नहीं होते वहां पर उसके अनुरूप ऊर्जा प्रवाह के समय में आंशिक परिवर्तन होता है। यद्यपि क्रम तो वही रहता है, फिर भी उस स्थिति में उससे संबंधित आगे अथवा पीछे वाला अंग भी प्रभावित हो सकता है। अतः रोग का सही निदान करने के लिये संबंधित अंगों के लक्षणों के प्रभाव का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। तालिका को देखने से दूसरा तथ्य यह सामने आता है कि शरीर में एक ही प्रकार की ऊर्जा का प्रवाह संबंधित यिन-यांग अंगों के जोड़े में 4 घंटें तक अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय और ठीक 12 घंटें पश्चात् 4 घंटों तक उनमें प्रकृति से प्राण ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम होता है।

निद्रा कब त्यागें ?

प्रातः 3 बजें से प्रातः 5 बजें फेंफड़ों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह सर्वाधिक होता है। इसी कारण प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर खुली हवा में घूमने वाले, शुद्ध वायु में प्राणायाम तथा श्वसन का व्यायाम करने वालों के फेंफड़े सशक्त होते हैं। परन्तु दमा के रोगी प्राण ऊर्जा के उस अतिरिक्त प्रवाह को ग्रहण न कर सकने के कारण पिछली रात अधिक परेशान और बेचैन रहते हैं। प्रातःकाल 3 बजे से 5 बजें पीयूष एवं पीनियल ग्रन्थियों से सोमरस निकलता है, जो शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति को बढ़ाता है तथा शरीर के व्यवस्थित विकास हेतु आवश्यक है। इस समय निद्रा लेने पर शारीरिक स्थिरता के कारण सोमरस की धारा गले के नीचे प्रवाहित नहीं हो पाती। इस रस

के कारण उस समय मस्तिष्क की स्मरण शक्ति जितनी अच्छी होती है, अन्य समय नहीं होती। ब्रह्म मुहूर्त में उठने वाले छात्र अधिक बुद्धिमान, स्वस्थ, सजग एवं क्रियाशील होते हैं। उनमें आलस्य अपेक्षाकृत कम होता है।

प्रातः 5 बजे से 7 बजे तक समय में फेंफड़ों के सहयोगी अंग बड़ी आंत में ऊर्जा का विशेष प्रवाह होने से यह अंग अधिक क्रियाशील होता है। इसी कारण मलत्याग के लिए यह सर्वोत्तम समय होता है। जो व्यक्ति उस समय मलत्याग नहीं करते हैं, उनके कब्जी रहने का एक कारण यह भी हो सकता है। इसलिये जो देर तक सोये रहते हैं, उनका पेट प्रायः खराब रहता है।

भोजन कब करें-

जब हमें स्वाभाविक अच्छी भूख लगे तक ही भोजन करना चाहिए। भूख का संबंध हमारी आदत पर निर्भर होता है। जैसी हम आदत डालते हैं, उस समय भूख लगने लग जाती है। अतः हमें भोजन की ऐसी आदत डालनी चाहिए कि जब आमाशय अधिक सक्रिय हो, उस समय हमें तेज भूख लगे। दूसरी बात जब तेज भूख लगे तो कुछ खाकर आमाशय की पूर्ण क्षमता का अपव्यय नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा किया गया तो मुख्य भोजन के समय आमाशय भी पाचन के प्रति उदासीन हो जाए तो आश्चर्य नहीं।

प्रातः 7 बजे से 9 बजे तक आमाशय में प्रकृति से प्राण ऊर्जा का सर्वाधिक प्रवाह होने तथा बड़ी आंत की सफाई हो जाने से इस समय पाचन आसानी से हो जाता है। आजकल उस समय अधिकांश व्यक्ति प्रायः भोजन नहीं करते, अपितु नाश्ते का प्रचलन बढ़ गया है। जितना अच्छा भोजन का पाचन प्रातःकाल में होता है उतना अन्य समय में नहीं होता। प्रातः व्यक्ति अपेक्षाकृत शान्त, तनाव मुक्त, षडयंत्रों तथा उलझनों से मुक्त रहता है। अतः भोजन के समय में भी नियमितता रखी जा सकती है। ऐसे समय किया गया भोजन, अधिक सुपाच्य होता है और अमृत का कार्य करता है। विशेष रूप से मधुमेह का रोग जिसे असाध्य माना जाता है, प्रकृति के समयानुकूल भोजन कर ठीक किया जा सकता है।

नाश्ता अधूरा आहार है और जब हम आंशिक आहार का पाचन आमाशय की सर्वाधिक क्षमता के समय करते हैं तो जब हमारा मुख्य भोजन होता है, तब आमाशय की पाचन क्षमता इतनी अधिक न होने से उसे अधिक श्रम करना पड़ता है। दूसरी बात प्रातःकाल नाश्ता करने से हमें तेज भूख समय पर नहीं लगती। फलतः ऐसे व्यक्ति प्रायः दोपहर में भोजन करते हैं। आत्मार्थी साधु-संतों, ऋषी मुनियों को तो एक समय ही आहार करना चाहिये। क्योंकि उनको कठोर शारीरिक श्रम की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी बात उन्हें गृहस्थों के घरों से मिला आहार लाकर अपनी उदर पूर्ति करनी पड़ती है। संयमित, नियमित, परिमित, स्वावलम्बी जीवन जीने के कारण ऐसे संतों का पाचन तंत्र प्रायः अच्छा होता है। अतः उनके लिये भोजन का समय दूसरा हो तो भी अधिक हानिकारक नहीं होता। परन्तु जो एक समय से ज्यादा भोजन करते हैं, यदि प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं करते हैं, तो रोगों के होने की संभावना रहती है। परन्तु गृहस्थ के लिये कम से कम दो भोजन की आवश्यकता होती है। अतः जब दोपहर देर से भोजन करते हैं तो उनका सायंकालीन भोजन प्रायः सूर्यास्त के बाद होता है। क्योंकि दो भोजन के बीच कम से कम 6 से 8 घंटें का अन्तराल आवश्यक होता है। परन्तु सूर्यास्त के पश्चात् किया गया भोजन स्वास्थ्य के लिये अहितकर होता है। अतः स्वास्थ्य प्रेमियों का प्रातःकाल का भोजन आमाशय और पेन्क्रियाज समूह में जब प्राण ऊर्जा का प्रवाह प्रकृति से अधिक हो अवश्य कर लेना चाहिये।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार प्रातः 10 बजे तक का समय शरीर में कफ प्रकृति का होता है और दिन में 10 से 2 बजे तक का समय पित्त प्रकृति का होता है। अतः हमेशा भोजन कफ प्रकृति में करने के बाद में पित्त प्रकृति का समय होने से पाचन में मदद मिलती है। 10 बजे के पश्चात् शरीर में गर्मी बढ़ने के साथ-साथ बाह्य सूर्य की गर्मी भी बढ़ती है। प्रायः उस समय तक सभी के निद्रा त्याग देने से शरीर में हलन-चलन भी होने लगता है। कफ प्रकृति में भोजन करने से भोजन के तुरन्त पश्चात् इतनी ज्यादा प्यास भी नहीं लगती, जिससे खाने के तुरंत पश्चात् पानी पीने से जो पाचन बिगड़ता है उससे हम सहज बच जाते हैं, भोजन के पश्चात् निद्रा भी नहीं आवेगी। भोजन के पश्चात् आलस्य, आराम खराब पाचन क्रिया के सूचक होते हैं। प्रातः भोजन करने से इस कारण पाचन सर्वोत्तम होता है और हम सैकड़ों पाचन संबंधी रोगों से सहज ही बच जाते हैं।

इसलिये तो कहा गया है कि- ''सुबह का खाना खुद खाओ, दोपहर का दूसरों को खिलाओं एवं रात्रि का दुश्मन को खिलाओं।''

अर्थात् प्रातः पूरा खाना खाओ, दोपहर में आवश्यकता हो तो हल्का पाच्य खाना खाओ और रात में भिखारी को भांति, कभी मिल जाये तो खा लो अन्यथा अपने आपको संयमित रखो। आज अधिकांश रोगों की जड़ पेट से है। अतः अपने समस्त पूर्वाग्रहों को छोड़ भोजन करने के सही समय का महत्त्व समझना चाहिये।

प्रातः 9 बजे से 11 बजे तक का समय तिल्ली और पेन्क्रियाज का सबसे अधिक सक्रियता का समय होता है, और रात्रि 9 बजे से 11 बजे प्रकृति से इन अंगों को सबसे कम प्राण ऊर्जा मिलती है। ठीक उसी प्रकार सांयकाल 7 बजे से 9 बजे आमाशय में निम्नतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह प्रकृति से होता है। अतः प्रातः 9 बजे से 11 बजे शरीर में पेन्क्रियाटिक रस और इन्सुलिन सबसे ज्यादा बनता है। इन रसों का पाचन में विशेष महत्त्व होता है। अतः जो मधुमेह अथवा अन्य किसी प्रकार के पाचन रोगों से ग्रस्त होते हैं, उनके भोजन करने के समय में परिवर्तन आवश्यक होता है। उन्हें जब आमाशय और पेन्क्रियाज को निम्नतम प्राण ऊर्जा मिलने से पाचन क्रिया मंद पड़ जाती है।

रात्रि भोजन क्यों हानिकारक?

रात्रि भोजन न केवल आमाशय और पेन्क्रियाज में निम्नतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह होने के कारण हानिकारक होता है। अपितु निम्न अन्य कारणों से भी हानिकारक होता है।

कीटाणुओं का भोजन पर प्रभाव

सूर्यास्त के पश्चात् बहुत से सूक्ष्म जीव पैदा हो जाते हैं। सूर्य का प्रकाश इन कीटाणुओं को पैदा होने से रोकता हैं। सूर्य के ताप में अनेक विषैले कीटाणु निष्क्रिय बन जाते हैं, जो सूर्यास्त के बाद पुनः सक्रिय होने लगते हैं। प्रायः हम अनुभव करते हैं कि दिन में 1000 वाट के बल्ब के पास भी सूक्ष्म जीव नहीं आते, जबकि रात में थोड़ी सी रोशनी में भी बल्ब के आसपास मच्छर मंडराने लगते हैं। ये जीव आहार की गन्ध के कारण भोज्य पदार्थों की तरफ आकर्षित होते हैं। वही दूसरी तरफ भोजन में भी अनेक सूक्ष्म बेक्टीरियाँ उत्पन्न हो जाते हैं। इनका रंग भोजन के रंग जैसा ही होने से कृत्रिम प्रकाश में हम इन्हें नहीं देख पाते हैं। कृत्रिम प्रकाश में उजाला तो है, परन्तु वह सूर्य की बराबरी नहीं कर सकता। पूर्ण शाकाहारियों के लिये यह भोजन निश्चित रूप से त्याज्य होता

है। रात्रि में तमस (अँधेरे) के कारण वैसे भी भोजन तामसिक बन जाता है। रात्रि भोजन से स्मरण शक्ति कमजोर होने लगती है। व्यक्ति अपनी क्षमताओं को पूर्ण रूपेण विकसित नहीं कर पाता।

रात्रि भोजन और निद्रा

भोजन और शयन के बीच कम से कम चार घंटे का अन्तर आवश्यक होता है। सोने के समय तक भोजन का पूरा पाचन न हों तो भोजन का वह अंश आमाशय में ही पड़ा रहता है और पाचन संबंधी अनेक रोगों को पैदा करने का कारण बनता है। अंग्रेजी में एक कहावत है- Early to Bed & Early to rise is the way to be Healthy, Wealthy & Wise अर्थात् जल्दी सोने तथा जल्दी उठने से व्यक्ति स्वस्थ, सम्पन्न, समृद्धिशाली और बुद्धिमान होता है। इस दृष्टि से भी जब व्यक्ति देर से भोजन करेगा तो सोवेगा भी देर से और देर से उठेगा। आज मधुमेह (डायबीटिज) जैसे अनेक रोगों को पैदा करने में रात्रि -भोजन भी एक मुख्य कारण होता है।

सूर्य के ताप का शरीर पर प्रभाव

मच्छर रात्रि में क्यों प्रायः अधिक काटते हैं? क्या कभी हमने चिन्तन किया? सूर्यास्त होने के पश्चात् शरीर की प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है। ऊर्जा शक्ति की हानि होने से रात्रि में किया गया भोजन कैसे शक्तिवर्धक हो सकता है?

सूर्य की रोशनी से शरीर में रोग-प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है। इसी कारण प्रायः अधिकांश रोगों का प्रकोप रात में बढ़ने लगता है। प्रत्येक बीमारी भी अपेक्षाकृत रात में ज्यादा कष्टदायक होती है। इसका मुख्य कारण रात में सूर्य की गर्मी का अभाव होता है।

जिस प्रकार चूल्हे पर रखी हुई वस्तु को जब अग्नि की गर्मी मिलती है तभी वह पकती है, उसी प्रकार हमारे आमाशय में हम जो डालते हैं वह भी पेट की उष्णता (जठराग्नि) के कारण ही पचता है। इसी कारण जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है उसकी पाचन शक्ति अच्छी मानी जाती है। भोजन करते समय उन सब नियमों का पालन करने का प्रयास किया जाना चाहिये, जिनसे जब तक भोजन का पूर्ण पाचन न हो, पाचन शक्ति मन्द न पड़े। भोजन में शक्ति का माप केलोरीज की उष्णता पर आधारित होता है। पेट में नाभि को कमल की उपमा दी गई है। कमल को भारतीय संस्कृति में निष्कामता, निर्मलता और निर्लिप्तता का प्रतीक कहा गया है। कमल और सूर्य का सम्बन्ध लोक विख्यात है। कमल सूर्योदय के साथ खिलते हैं और सूर्यास्त के साथ उनकी सक्रियता में अन्तर आ जाता है। विशेष रूप से नाभि कमल का पाचन में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। सूर्यास्त के पश्चात् इसके सक्रिय न होने से रात्रि भोजन का पाचन बराबर नहीं होता।

दिन में प्राण वायु की अधिकता

सूर्य के प्रकाश में वृक्ष एवं पेड़ पौधे आक्सीजन रूपी प्राणवायु छोड़ते हैं। अतः वायु मण्डल में रात्रि की अपेक्षा दिन में ऑक्सीजन की मात्रा अपेक्षाकृत ज्यादा रहती है। जिससे पाचन सरलता से होता है। इसके विपरीत रात में वृक्ष ऑक्सीजन ग्रहण कर स्वास्थ्य के लिये हानिकारक कार्बन डाई आक्साइड छोड़ते हैं। ऐसे वातावरण में श्वास लेने एवं भोजन से आरोग्य बिगड़ता है।

रात्रि भोजन एवं आध्यात्म

रात्रि भोजन में जो हिंसा होती है उसके कारण जप, तप और तीर्थ यात्रा आदि सब व्यर्थ हो जाते हैं। पद्म पुराण-प्रभाव खंड में रात्रि भोजन को नरक का प्रथम द्वार बताया है।''चत्वारि नरक द्वारं, प्रथमं रात्रि भोजनम्''। चरक संहिता के अनुसार रात्रि भोजन दूषित और अम्लीभूत होने से बहुत क्षति पहुँचाता हैं।

मार्कण्ड पुराण में तो सूर्यास्त के बाद अन्न को मांस और जल को रक्त जैसा हो जाने की बात बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णित हैं। जिसके भाव निम्न हैं- **''अस्तंगते, दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते। अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा।** गीता के सतरहवें अध्ययन के दसवें श्लोक में कहा गया है- **यातनामं गतरसं पूर्ति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि यामेध्यं भोजनं तामसप्रियम।**

अर्थात् रात में रखा या बनाया हुआ तथा नीरस, दुर्गन्ध युक्त तथा किसी जीव जन्तु के द्वारा स्पर्श किया हुआ और अपवित्र आहार तामस मनुष्यों को ही प्रिय होता है।

यजुर्वेद आहिक श्लोक 24-19 के अनुसार रात्रि भोजन को राक्षसों का भोजन बतलाया गया है। योगवशिष्ट पूर्वाध श्लोक 108, योग शास्त्र प्र. 2 आदि में भी रात्रि भोजन न करने का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। आत्म-पुराण अध्याय 33, श्लोक 43, स्कन्द पुराण- कपोल स्रोत-श्लोक 24 तथा स्कंध 7 अध्याय 11, श्लोक 235 में उनका स्पष्ट उल्लेख है।

जो बेटा मां बाप की माला फेरे, प्रणाम करें परन्तु उनकी आज्ञा का पालन न करे तो हम ऐसे पुत्र को क्या कहेंगे? उसी प्रकार हम धर्म ग्रन्थों एवं विज्ञान की बातें करें और अप्राकृतिक जीवन पद्धति अपनाकर स्वस्थ रहना चाहे तो असंभव है।

पाश्चात्त्य अंधानुकरण के कारण रात्रि भोजन की विवशता

रात्रि भोजन के लिये एक तरफ जहां हमारी असजगता एवं उससे पड़ने वाले दुष्प्रभावों की जानकारी का अभाव जिम्मेदार होता है तो दूसरी तरफ हमारी सामाजिक व सरकारी व्यवस्थाएँ भी उतनी ही जिम्मेदार होती हैं। सामूहिक भोजन का समय निर्धारित करते समय तथा कार्यालयों में भोजनावकाश का समय निर्धारित करते समय स्वास्थ्य के अनुकूल समय पर भोजन करने के समय की पूर्ण उपेक्षा की गयी हैं। जैसी व्यवस्था होगी, उसी के अनुरूप जनसाधारण अपने आपको ढालता है। जब बच्चे प्रातःकाल जल्दी पाठशाला जावेंगे और दोपहर बाद घर पहुंचेंगे तो पारिवारिक सदस्य समय पर कैसे भोजन कर सकते हैं? दो भोजन के बीच कम से कम 7-8 घंटों का अन्तर चाहिये। अतः जब सुबह खाना देर से खावेंगे तो रात का खाना स्वतः देरी से खाना पड़ेगा। क्योंकि बिना भूख खाना भी तो उचित नहीं।

दूसरी तरफ आज नाश्ते का प्रचलन बढ़ गया है, जो भोजन के सही समय हमारी भूख को समाप्त कर देता है। अतः जिन लोगों को समय पर खाने की अनुकूलता है, वे भी समय पर नहीं खाते।

तीसरी बात व्यक्ति का भोजन के बारे में जितना संयम रहना चाहिये उतना नहीं है। इसलिये जब चाहा, जो चाहा, जहाँ चाहा, जैसा चाहा पेट में डाल देता है, जिससे सौर मण्डल की दृष्टि से पाचन के लिये जो सर्वश्रेष्ठ समय है उस समय उनको भूख ही नहीं लगती।

चौथी बात रात्रि के प्रकाश के बारे में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारी मिथ्या धारणाएँ हैं। जिसके फलस्वरूप रात्रि भोजन को आधुनिकता का प्रतीक समझने की भूल हो रही है। सोते हुए को जगाया जा सकता है, परन्तु जो जागृत व्यक्ति निद्रा का बहाना कर सोये उसको जगाना बहुत मुश्किल है।

दिन में 11.00 से 1.00 बजे के बीच हृदय में विशेष प्राण ऊर्जा का प्रवाह होता है। हृदय हमारी संवेदनाओं, करूणा, दया एवं प्रेम का प्रतीक है। यदि उस समय हम भोजन करते हैं तो हमारी अधिकांश संवेदनाएँ भोजन के स्वाद की तरफ आकर्षित रहती है। अतः हृदय प्रकृति से मिलने वाली अपनी प्राण ऊर्जा को पूर्ण रुपेण ग्रहण नहीं कर सकता। 1.00 बजे से 3.00 बजे तक छोटी आंत जो हृदय का पूरक अंग है और उसका अन्य कार्यों के साथ एक कार्य आमाशय से पचे हुये भोजन के अवशिष्टों को प्राप्त करना। अतः हृदय रोगियों को भी दोपहर 11.00 बजे से 3.00 बजे के बीच भोजन जहाँ तक संभव हो त्यागना चाहिये। उस समय भोजन करने से हृदय छोटी आंत अपनी प्राप्त ऊर्जाओं को पूर्ण क्षमताओं से ग्रहण नहीं कर पाते। निर्दयी, हिंसक और क्रूर व्यक्तियों को जिसमें प्रेम, दया, करुणा नहीं होती, क्यों हृदय हीन कहा जाता है? क्या उनके हृदय नहीं होता? सही समय पर भोजन न करने के कारण आजकल मानव में संवेदना, करुणा, दया अपेक्षाकृत कम होती जा रही है। घृणा, द्वेष, क्रूरता, हिंसा बढ़ रही है। प्रेम सूख रहा है। छल कपट जन साधारण में बढ़ रहा है। व्यक्ति हृदयहीन बनता जा रहा है। दूसरों के लिये क्या कहें, वह स्वयं अपने प्रति भी ईमानदार नहीं रह पा रहा है। अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग कर रहा है। इसके लिये क्या अच्छा और क्या बुरा का विवेक समाप्त हो रहा है। वह अपनी प्राथमिकताओं के प्रति अपरिचित हो रहा है। आत्म विश्वास घट रहा है। उसका चिन्तन विज्ञापनों पर आधारित परावलम्बी बनता जा रहा है। बढ़ते हुये असमय हृदय रोगों का एक प्रमुख कारण उसकी गलत दिनचर्या का चयन भी है। यदि हम संयममय जीवन जीयें, नियमित और परिमित एक समय ही भोजन करें तो, भोजन के समय में थोड़ा परिवर्तन हो सकता है, परन्तु जो न संयमित है, न जिनका आचरण नियमित और परिमित हैं। उनको स्वस्थ रहने के लिये तो इन नियमों का पालन करना ही चाहिये।

परन्तु आज हमारे दिल और दिमाग में ये बातें बैठ पा रही है। हमारे Lunch और Dinner रोगों के मंच बनते जा रहें है। स्वास्थ्य मंत्रालय को पूर्वाग्रह छोड़ इस सत्य को स्वीकार करना चाहिये तथा भोजन के उपयुक्त सर्वोत्तम समय की जानकारी जन साधारण तक पहुँचानी चाहिये। सारी सामाजिक एवं सरकारी व्यवस्थाओं को उसके अनुरूप बदलने की पहल करनी चाहिये। यदि उचित समय पर भोजन न किया जाए तो हमें हमारी पाचन क्रिया को अच्छा रखने के लिये बाह्य साधनों का उपयोग करना पड़ेगा।

दिनचर्या के निर्धारण में स्वास्थ्य की प्राथमिकता अनिवार्य

हमें हमारी जीवनचर्या में स्वास्थ्य के प्रतिकूल संस्कारों को बदलना होगा। प्रकृति के नियम व्यक्तिगत अनुकूलताओं के आधार पर नहीं बदलते। हमारी जीवन पद्धति के अनुरूप सूर्योदय और सूर्यास्त का समय निश्चित नहीं होता। बुद्धिमान वहीं है जो प्रकृति के अनुरुप अपने आपको ढाल लेता है।

स्वास्थ्य मंत्रालय का दायित्व है कि वह रात्रि भोजन के दुष्प्रभावों का अध्ययन करें तथा जो वास्तविकता है उसका प्रचार-प्रसार कर जनता को स्वास्थ्य प्रदान करने के अपने कर्त्तव्यों को निभाये। नीति-निर्माताओं से अपेक्षा है कि रात्रि में सामूहिक भोजों का प्रचलन बंद करें। पाठशालाओं, कार्यालयों, कारखानों में स्वास्थ्य के

अनुरूप भोजन के अनुकूल समय पर भोजनावकाश करने के निर्देश दें, पाठ्यक्रमों में बच्चों को रात्रि भोजन के दुष्प्रभावों की जानकारी दी जावे।

कहने का तात्पर्य यह है कि रात्रि भोजन आरोग्य के साथ वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक दृष्टिकोण से अनुपयोगी है। हानिकारक है। प्रकृति के विरुद्ध है। अतः स्वास्थ्य प्रेमियों के लिये त्याज्य है तथा उन्हें यथा सम्भव दिन में ही भोजन करने का प्रयास करना चाहिये।

पाचन तंत्र को आराम हेतु उपवास

परिश्रम के पश्चात् शरीर को आराम की आवश्यकता होती है। व्यवसाय जगत में भी सप्ताह में कम से कम एक दिन अवकाश का कानूनी प्रावधान होता है। अवकाश के समय अपूर्ण कार्यो को पूर्ण किया जा सकता है ताकि भविष्य में अधिक उत्साह एवं शक्ति से नियमित कार्यो को किया जा सके।

प्रायः जनसाधारण को जैसे सुपाच्य, पोष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है, उसके स्थान पर अधिकांश व्यक्ति स्वाद और भूख वश अपाच्य, स्वास्थ्य के लिये अनुपयोगी, हानिकारक पदार्थो का सेवन करने में पूर्णतया विवेक नहीं रखते। फलतः पाचन तंत्र को उन पदार्थो को पचाने के लिये सदैव क्षमता से अधिक कार्य करना पड़ता है। उनको आराम नहीं मिलता। परिणामस्वरूप उनकी क्षमता क्षीण होने लगती है। पाचन तंत्र में विकार जमा होने लगता है, जिससे रक्त में भी विकार बढ़ जाते हैं।

उपवास में आहार का त्याग करने से आमाशय खाली हो जाता है तथा जठराग्नि के रूप में जो प्राण ऊर्जा आहार को पचाने में कार्य करती है उसका उपयोग पाचन तंत्र की सफाई में लग जाता है, जिससे रक्त भी शुद्ध होने लगता है तथा शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने लगती है। जैसी कहावत है- ''पेट साफ तो सब रोग माफ'' अतः नियमित कम से कम सप्ताह में एक दिन उपवास करने वालों को पाचन संबंधी रोग होने की अपेक्षाकृत कम संभावनाएँ रहती है। आहार शरीर को आवश्यक ऊर्जा और गर्मी प्रदान करता है जबकि उपवास शरीर को आरोग्य और शुद्धि प्रदान करता है। अधिकांश पशु-पक्षी स्व स्फूर्णा से रोग होने पर सर्व प्रथम आहार त्याग करते हैं। रोगावस्था में आहार न करने से रोगी नहीं रोग भूखों मरता है। बीमारी में तो किया गया आहार विशेष रूप से रोगी का नहीं, अपितु रोग का पोषण करता है। अतः नियमित रूप से उपवास करने वाला स्वस्थ तथा पाचन संबंधी रोग के समय आहार का त्याग करने वाला जल्दी स्वस्थ होता है।

भोजन के शरीर के विकास तथा संचालन हेतु आवश्यक ऊर्जा मिलती है। अतः यह आवश्यक है कि भोजन करते समय इन उद्देश्यों की पूर्ति का विशेष खयाल रखा जायें। यदि इन बातों का ध्यान न रखा जायें तो जो भोजन स्वास्थ्यवर्धक होना चाहिये, स्वास्थ्य भक्षक बन जाता है।

आहार में पौष्टिक तत्त्वों का निश्चय ही बहुत महत्त्व है। अपौष्टिक आहार से स्वास्थ्य बिगड़ता है। परन्तु आहार सम्बन्धी उपलब्ध अधिकांश साहित्यों एवं पुस्तकों में उसकी विस्तृत चर्चा मिलती है। अतः यहां पर उस पक्ष की चर्चा नहीं की गई है। भोजन के रूप में काम लिये जाने वाले पदार्थो का आकार, रंग एवं अभक्ष्य, अखाद्य पदार्थो की जानकारी के लिये लेखक की अन्य पुस्तक क्या बुद्धिमान मानव मांसाहारी हो सकता है? अवश्य पढ़ने का लक्ष्य रखे।

उपवास का शाब्दिक अर्थ होता है आत्मा के समीप रहने की साधना। यदि आत्मा के समीप रहने की बात समझ में आ जाये तो, उपवास का लाभ कई गुणा बढ़ जाता है। समीप रहने का मतलब आत्म स्वभाव में रमण करना। उससे शरीर का शोधन और रोगाणुओं के शान्त होने के साथ साथ चेतना की शुद्धि और अनुभूति होने लगती है। जिससे भाव, विचार, चिन्तन, मनन एवं भाषा का भी शोधन होता है। वास्तव में तो यही सच्चा उपवास कहलाता है। खाली भोजन न करना तो लंघन ही कहा जा सकता है, जिससे शरीर का शोधन तो हो सकता है, परन्तु आत्मा का नहीं। अतः उपवास में अधिकाधिक स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिंतन, मनन, निरीक्षण एवं स्वदोषों की समीक्षा करनी चाहिए, मन और पांचों इन्द्रियों के अनावश्यक दुरुपयोग को रोक उनका सदुपयोग किया जाय तो आत्म-विकार, मानसिक विकार, वाणी के विकार भी शरीर के विकार के साथ दूर हो जाते हैं तथा व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वस्थ होने लगता है।

आठवां अध्याय

यिन-यांग का सिद्धान्त

विपरीतता में समानता का सिद्धान्त

संसार के सभी गतिशील पदार्थों की परिवर्तनशील अवस्थाओं को तुलनात्मक दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। जो अलग-अलग होते हुये भी एक दूसरे से पूर्ण संबंधित होते हैं। किसी एक की सर्दव ऐ जैसी स्थिति नहीं रहती। दोनों का प्रभाव आपस में बदलता रहता है।

प्रकृति में सभी घटनाक्रमों और गतिविधियों के संचालन में कुछ सनातन नियम और सिद्धान्त होते हैं। प्रत्येक घटना के दो पक्ष होते हैं। प्रत्येक क्रिया के दो आधार होते हैं। वस्तु के दो भाग होते हैं, जिसके आधार पर एक दूसरे की तुलना की जा सकती है। एक के साथ दूसरे का अस्तित्व जुड़ा होता हैं। प्रारम्भ और अन्त, निर्माण और विनाश, जन्म और मृत्यु के बीच, सारा घटनाक्रम चलता रहता है। जैसे दिन-रात, अन्धेरा-उजाला आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, ठण्डा-गर्म, अन्दर-बाहर, बड़ा-छोटा, स्त्री-पुरुष, कोमल-कठोर आदि। दोनों का अस्तित्व साथ-साथ होता है। जन्म के बिना मृत्यु का अस्तित्व नहीं होता। दूसरी मंजिल प्रथम मंजिल की अपेक्षा ऊँची होती है। जबकि तीसरी मंजिल की अपेक्षा नीची होती है। जोड़े के दोनों भागों की स्थिति बदलती रहती है जैसे अन्धेरा उजाले में, क्रोध-शांति में, कमजोर-बलवान हो जाता है तो कभी-कभी शक्तिशाली कमजोर हो जाता है। प्रकृति के इस सनातन सिद्धान्त को विपरीतता में एकरुपता का सिद्धान्त कहते हैं। चीन में इस सिद्धान्त को यिन-यांग का सिद्धान्त कहते हैं। यिन-यांग को पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक यिन के साथ यांग का कुछ अंश और प्रत्येक यांग के साथ यिन का कुछ अंश होता ही है। सृष्टि की सारी गतिविधियों का संचालन और नियन्त्रण यिन-यांग सिद्धान्त द्वारा होता हैं। पोजेटिव और नेगेटिव तारों को बिजली उत्पादक अथवा वितरक यंत्रों से जोड़ने पर ही उसमें बिजली का प्रवाह संभव होता है। चुम्बक का उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव के प्रभाव को तथा दक्षिणी ध्रुव - उत्तरी ध्रुव के प्रभाव को नियन्त्रित करता है। चलते हुए वाहनों की गति उनके ब्रेक ही नियन्त्रित रखते हैं। साथ ही यदि ब्रेक पूरी क्षमता से कार्य करें तो, वाहन नहीं चल सकता। इस प्रकार यिन-यांग

के बिना कोई प्रवृत्ति, हलन-चलन, परिवर्तन हो नहीं सकता। जब यिन-ऊर्जा बढ़ती है तो यांग ऊर्जा घट जाती है और जब यांग बढ़ता है तो यिन उसी अनुपात में कम हो जाता है। संयोग, वियोग में और वियोग, संयोग में बदलते रहते हैं।

वैसे तो सभी प्रकार की ऊर्जाएँ आपस में एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालती है। फिर भी यिन-यांग एक ही प्रकार की ऊर्जाओं से अधिक संबंधित और प्रवाहित होते हैं, इसी कारण यिन-यांग के गुणों में बाह्य रूप से असमानता अथवा विरोधाभास होते हुए भी काफी समानताएँ होती है। जैसे चुम्बक के दोनों ध्रुव लोहे को आकर्षित करते है। पति-पत्नी साथ-साथ रहते हैं। दोनों मिलकर परिवार चलाते है। सुखद प्रसंगों पर दोनों प्रसन्न और प्रतिकूल प्रसंगों पर दोनों दु:खित होते हैं। दोनों परिवार की सुख-सुविधा हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। एक उद्देश्य हेतु कार्य करते हुए भी दोनों की संरचना, अस्तित्व जीवन शैली पूर्ण रूप से एक जैसी नहीं होती। दोनों के सहयोग से ही मानव जैसी कृति का सृजन होता है। अकेला पुरुष अथवा महिला उस कार्य को नहीं कर सकती। दोनों के दायित्व और कर्त्तव्य अलग-अलग होते हैं। दोनों के संतुलित तालमेल बिना, सुखी परिवार की कल्पना फलभूत होना कठिन होती है।

ब्रह्माण्ड की सामान्य अवस्था में यिन-यांग संतुलित रहते हैं, परन्तु असन्तुलन की अवस्था में प्राकृतिक आपदाएँ उत्पन्न होने लगती है। यिन-यांग का संतुलन स्थिर नहीं रहता, परन्तु आपस में बदलता रहता है। दोनों के निश्चित तालमेल और परिवर्तन के कारण ही प्रकृति में निर्माण और विनाश का क्रम चलता रहता है। जब तालमेल पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है तो उस वस्तु का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

यिन-यांग के अनुसार शारीरिक अंगों का वर्गीकरण

शरीर में जो भाग सामने, आगे, ऊपर, कोमल अथवा खाली होते हैं, वे भाग तुलनात्मक दृष्टि से यांग से संबंधित होते हैं। इसकी तुलना में जो भाग पीछे, अन्दर, नीचे अथवा ठोस होते हैं, वे अंग यिन से संबंधित होते हैं। शरीर में भी इसी आधार पर प्रमुख अंगों को यिन-यांग के आधार पर विभाजित किया जा सकता है। जिसका विवरण निम्न प्रकार से हैं।

यिन अंग-फेंफड़ा, हृदय, गुर्दा, लीवर, स्पलीन, मस्तिष्क आदि।

संबंधित यांग अंग- बड़ी आंत, छोटी आंत, मूत्राशय, पित्ताशय, आमाशय, मेरु दण्ड आदि।

इसी प्रकार शरीर के आगे-पीछे का भाग, बांया-दाहिना, ऊपर-नीचे, हाथ-पैर पर भी यिन-यांग का सिद्धान्त लागू होता है। यिन-यांग का आधार तुलनात्मक और समान गुणों अथवा गतिविधियों पर आधारित होता है। यिन और यांग एक ही प्रकार की ऊर्जा से विशेष संबंधित होते हैं। जब तक शरीर में किसी अंगों के जोड़ों के दोनों अंगों में ऊर्जाएँ संतुलित होती है तब तक दोनों अंग स्वस्थ रहते हैं। साथ ही उसके कार्यों में आशिंक सहयोग देता है। ये अंग पति-पत्नी की भांति एक दूसरे के पूरक होते हैं। अत: किसी एक अंग में रोग होने की अवस्था में उसके सहयोगी अंग पर उसका विशेष प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। जब एक अंग अधिक सक्रिय हो जाता है तो, उसका पूरक अंग उसी अनुपात में असक्रिय भी हो सकता है। कभी-कभी एक अंग के रोग की अभिव्यक्ति उसके पूरक अंग में भी होने लगती है। अधिकांश चिकित्सा पद्धतियां प्राय: उसी अंग का उपचार करती हैं, जिनके लक्षण उनके ध्यान में आते हैं। परन्तु यदि रोग का कारण उसका पूरक अंग में हो तो बहुत प्रयास करने के बावजूद रोगों से

राहत न दिला पाने के कारण उस रोग को असाध्य बतला दिया जाता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने पत्नी के संक्रामक रोग के कारण तनावग्रस्त हो तो, उस व्यक्ति का तनाव तब तक दूर नहीं किया जा सकता, जब तक उसकी पत्नी रोग मुक्त नहीं होती। पति का उपचार करना विशेष लाभप्रद नहीं होगा।

प्रमुख अंगों की भांति शरीर में प्रत्येक अवयव का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कोई न कोई सहयोगी अवयव होता है, जो रोग ग्रस्त अवस्था में उस अवयव के साथ अपनी मैत्री पूर्ण व्यवहार कर यथा संभव सहयोग करना है।

रोग निदान में यिन-यांग सिद्धान्त की भूमिका

शारीरिक अथवा मानसिक रोगों का एक कारण यिन या यांग में असंतुलन भी होता है। यिन-यांग की जानकारी के अभाव में रोग का सही निदान बहुत कठिन होता है। रोग का प्रारम्भ यांग से होता है। यिन-यांग असन्तुलन द्वारा रोग का निदान करते सकय निम्न बातों का ध्यान में रखना चाहिए। एक समान बाह्य लक्षण होने के बावजूद रोग से सम्बन्धित यिन अथवा यांग में सही अंग की जानकारी आवश्यक होती है। यिन और यांग के गुणों में समानता होने तथा एक जैसे बाह्य लक्षण प्रकट होने के कारण यह मालूम करना आवश्यक होता है कि, रोग का मुख्य संबंध यिन-यांग से है अथव यांग अंग से।

रोग कितना पुराना ?

यदि रोग के लक्षण तेज, उत्तेजक, स्पष्ट हों तो, प्रायः यांग अंग अधिक प्रभावित होता है। परन्तु जब लक्षण साधारण रूप से प्रकट हों तो उसका कारण यिन अंग से सम्बन्धित होता है। अर्थात् तीव्र रोगों में यांग तथा साधारण रोगों में यिन अंग, प्रायः पहले प्रभावित होते हैं। जैसे तेज बुखार में छोटी आंत की गर्मी तथा साधारण बुखार में हृदय की गर्मी घटानी चाहिए।

क्या रोग के लक्षण स्थानीय है ?

यदि रोग शरीर के किसी छोटे से भाग में हो तो, प्रायः यांग अंग से सम्बन्धित होता है। परन्तु उसके लक्षण पूरे शरीर में फैले हुए हों तो यिन अंग से सम्बन्धित होता है। जैसे- सूजन शरीर के किसी थोड़े से भाग में है अथवा पूरे शरीर में। गर्मी से निकलने वाले लाल चकते पूरे शरीर में अथवा किसी एक भाग में कंपन पूरे शरीर में है या किसी भाग में।

क्या रोग का लक्षण पूर्व अनुमानित एवं पुनरावृत्ति वाला है ?

यदि रोग निश्चित समय पर हों तो प्रायः यिन अंग की ऊर्जा से सम्बन्धित होता है, जबकि यदि रोग का कोई निश्चित समय न हो, जब चाहे उपद्रव करने लग जाए तो यांग अंग की ऊर्जा से संबंधित होता है। जैसे-यदि किसी को प्रतिदिन निश्चित समय होते ही बुखार अथवा चक्कर आते हैं तो, उसका सम्बन्ध प्रायः यिन ऊर्जा से होता है और यदि कभी सुबह तो कभी दोपहर चक्कर आते हों, कभी चक्कर आए और कभी न आए तो, ऐसे रोगी का सम्बन्ध यांग अंगों से प्रायः होता है।

रोग का अन्तराल कैसा है ?

स्थायी, पुराने, दीर्घकालीन रोगों का सम्बन्ध प्रायः यिन अंगों से तथा थोड़े समय के लिए तीव रोगों का सम्बन्ध यांग अंगों से प्रायः होता है। कोई भी नवीन रोग का प्रारम्भ पहले प्रायः यांग अंगों से होता है।

रोग कहा है पर है ?

शरीर के बाह्य भाग में जो रोग हों, उनका सम्बन्ध प्रायः यांग अंग से होता है और शरीर के अन्दर जो रोग होते हैं उनका सम्बन्ध यिन अंग से विशेष होता है। जैसे- त्वचा सम्बन्धी रोग यांग से सम्बन्धित होते हैं। शरीर का ऊपरी भाग यांग से तथा नीचे का भाग यिन से सम्बन्धित होता है।

कहने का सारांश यही है कि चिकित्सा करवाते समय याहे, उपचार हो अथवा निदान, हमें रोग के कारणों को यिन-यांग के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोणों से समझना होगा तथा उनमें किसी भी विधि द्वारा पुनः सन्तुलन कर तालमेल स्थापित करने से उपचार शीघ्र एवं प्रभावशाली हो जाता है। सभी चिकित्सकों को अपना पूर्वाग्रह छोड़ इस सनातन सत्य को स्वीकार करना चाहिए ताकि रोगी का समग्र दृष्टिकोण से उपचार अथवा निदान किया जा सकता है। एक पक्षीय चिन्तन से बहुआयामी मानव शरीर को समझना असम्भव न भी हो तो कठिन अवश्य होता है। उपचार के बावजूद भी जब मधुमेह, हृदय, अस्थमा आदि रोगों से छुटकारा न मिले तो ऐसी परिस्थितियों में यांग अंगों में गड़बड़ी की अधिक संभावना हो सकती है। अतः मधुमेह के रोगियों को आमाशय, हृदय रोगियों को छोटी आंत तथा अस्थमा के रोगियों को फेंफड़ों के साथ-साथ, बड़ी आंत को भी ठीक करना चाहिये, जिससे उपचार अत्यधिक प्रभावशाली एवं स्थायी हो सकता है।

नवां अध्याय

चीनी पंच तत्त्व का सिद्धान्त

चीनी पंच तत्त्व का दृष्टिकोण

भारतीय पंच महाभूत सिद्धान्त के समान ही चीन में भी पंच तत्त्व के अनुसार रोग का निदान एवं उपचार किया जाता है। एक्यूपंचर/एक्यूप्रेशर वैज्ञानिकों ने शरीर के विभिन्न अंगों का उनके गुण धर्म के आधार पर पंच तत्त्वों से सम्बन्ध स्थापित किया। जो वनस्पति अथवा लकड़ी, अग्नि, पृथ्वी, धातु और जल तत्त्व के नाम से प्रचलित हैं।

जिन यिन-यांग अंगों के गुण धर्म अग्नि तत्त्व से मिलते-जुलते होते हैं, उन अँगों का वर्गीकरण अग्नि तत्त्व के साथ, जिनके गुणों में पृथ्वी के गुणों की समानता होती है, उनका वर्गीकरण पृथ्वी तत्त्व के साथ, जिनके गुण जल से ज्यादा मिलते हैं, उसे जोड़े को जल तत्त्व के साथ तथा जिनके गुण वनस्पति के समान होते हैं, उनको वनस्पति तत्त्व के साथ जिनके गुण धातु तत्त्व से मिलते है उनका वर्गीकरण धातु तत्त्व के साथ किया जाता है। उनकी मान्यता के अनुसार हृदय और छोटी आंत का सम्बन्ध अग्नि तत्त्व से, फेंफड़े और बड़ी आंत का सम्बन्ध धातु तत्त्व से, गुर्दे और मूत्राशय का जल तत्त्व से, लीवर और गालब्लेडर का लकड़ी तत्त्व से, स्पलीन और आमाशय पृथ्वी तत्त्व के अंतर्गत वर्गीकृत होते हैं। इन अंगों के अलावा अग्नि तत्त्व के अन्तर्गत शारीरिक क्रियाओं को संचालित करने वाली त्रिअग्नि तथा उसका पूरक पेरीकार्डियन भी होते हैं। पेरीकार्डियन हृदय के चारों तरफ एक सुरक्षा आवरण की भांति होता है। हृदय के संकुचन और फैलाव अर्थात् धड़कन को नियन्त्रित करता है। मस्तिष्क के साथ सभी अंगों के नियन्त्रण एवं संचालन में सहयोग करने के कारण उसे मस्तिष्क का प्रतिनिधि भी

कहा जाता है। त्रि-अग्नि भी कोई भौतिक अंग नहीं होता। परन्तु जो गर्मी हमारे मानसिक संतुलन से विशेष संबंधित होती है, जैसे-कामाग्नि, क्रोधाग्नि, जठराग्नि आदि का नियन्त्रण केन्द्रिय नाड़ी संस्थान के सहयोग से करती है। अतः उसे पेरीकार्डियन का यांग और मेरुदण्ड का प्रतिनिधि भी माना जाता है। अतः यिन-यांग के अनुसार पेरीकार्डियन (यिन) का संबंध मस्तिष्क तथा त्रिअग्नि (यांग) का संबंध मेरुदण्ड से भी होता है।

शरीर में जब तक इन पांचों तत्त्वों का अनुपात आवश्यकता के अनुरूप संतुलित होता है, तब तक व्यक्ति अपने आपको स्वस्थ अनुभव करता है और जब उनमें असंतुलन हो जाता है तो अस्वस्थ। प्रत्येक ऊर्जा का अपना अलग-अलग परिवार होता है, जिनका पांचों इन्द्रियों के विषयों, जैसे देखना, सुनना, स्वाद,गन्ध आदि से अलग-अलग संबंध होता है। प्रत्येक ऊर्जा जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं, मौसम, वातावरण आदि से अलग-अलग प्रभावित होती हैं। प्रत्येक ऊर्जा का अलग-अलग रंगों, स्वादों, गन्धों, अन्तःश्रावी ग्रन्थियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। शरीर के विभिन्न अंग, उपांग, अवयव शरीर से निष्कासित होने वाले विजातीय द्रव्य, शरीर से निकलने वाली विभिन्न प्रकार की ध्वनियां, शरीर में अलग-अलग स्थान पर प्रकट होने वाले लक्षणों के एवं संकेतों के माध्यम से इन ऊर्जाओं के असंतुलन अभिव्यक्ति होती है। तालिका में पंच तत्त्वों से सम्बन्धित तुलनात्मक तथ्यों की कुछ जानकारी दर्शायी गयी है।

लकड़ी अथवा वनस्पति तत्त्व

तालिका के अनुसार प्रत्येक तत्त्व से संबंधित यिन-यांग अंग एक ही प्रकार की ऊर्जा, अवस्था, रंग, स्वाद, सुगन्ध आदि से अधिक प्रभावित होते हैं। जिसके कारण रोग का निदान बहुत ही सरल और सही किया जा सकता है। जैसे बाल्यकाल में वनस्पति तत्त्व अधिक सक्रिय होता है। इसी कारण बच्चे का जितना तीव्र गति से विकास बाल्यावस्था में होता है, उतना बाद में नहीं होता। यदि किसी बच्चे का विकास असंतुलित हो तो वनस्पति तत्त्व से संबंधित अंग बराबर कार्य नहीं करते। वनस्पति तत्त्व की ऊर्जा वायु होती है। वायु से ही हलन-चलन होता है। शरीर में मांसपेशियों के कारण हलन-चलन संभव होता है। अतः मांसपेशियों का सम्बन्ध भी वनस्पति तत्त्व से होता है तथा मांसपेशियों संबंधी रोगों में यकृत-पित्ताशय की अहं भूमिका होती है। अतः जिन्हें हरा रंग अच्छा लगे, प्रिय लगे अथवा बिल्कुल अच्छा न लगे, बसंत ऋतु आते ही रोग होने की संभावना बढ़ जाये अथवा रोग ग्रस्त अवस्था में बसंत आते ही स्वास्थ्य अच्छा हो जाये तो, वे स्थितियाँ वनस्पति तत्त्व के अंगों अथवा ऊर्जा में असंतुलन का द्योतक होती है। कोई भी रंग अच्छा लगने का मतलब, संबंधित अंग को उस रंग की आवश्यकता है और अप्रिय लगने का मतलब, उन अंगों को अपने से संबंधित रंग की आवश्यकता नहीं होती है। प्यासे को पानी और भूखे को भोजन अच्छा लगता है और यदि प्यास और भूख न हों तो पानी और भोजन अच्छा नहीं लगता। दोनों परिस्थितियाँ असंतुलन की सूचक है। अच्छा लगने पर उस अवयव की कमी के कारण और खराब लगने पर उस अवयव की अधिकता के कारण संबंधित तत्त्व असंतुलित होता है।

इसी प्रकार वनस्पति तत्त्व के अंग खट्टे स्वाद के प्रति, खट्टी सुगन्ध के प्रति, अधिक संवेदनशील होते हैं। इस तत्त्व के असंतुलन से व्यक्ति बात-बात में चिल्लाने लगता है, उसको क्रोध अधिक आता है। इस तत्त्व का आंख से सीधा संबंध होता है। अतः आंखों संबंधी विभिन्न रोगों का मूल वनस्पति तत्त्व से संबंधित अंगों से होता है। बिना

बात आंसू आना, दृष्टि कमजोर होना, रंगों को न पहचान पाना, रात्रि में न दिखना आदि में यकृत-पित्ताशय के असंतुलन भी कारण हो सकता है।

प्राय: बच्चे अधिक जिद्दी होते हैं। उनकी बात न मानी जाए या इच्छा विरुद्ध कार्य किया जाए तो जल्दी क्रोधित हो जाते हैं। जो व्यक्ति क्रोधी, अहंकारी और जिद्दी स्वभाव के होते हैं, बात-बात में चिल्लाते हैं, क्रोध करते हैं अथवा जिनमें अहंकार (Ego) अधिक होता है, ऐसे व्यक्ति व्यवहार कुशल कम होते हैं। अपने आपकी स्वयं पहचान बनाने हेतु प्रयत्नशील होते हैं। अपने स्वभाव के कारण अपने परिवार तक ही सीमित रहते हैं। परिवार के अन्य सदस्यों अथवा समाज से उनका प्राय: लेना-देना नहीं होता। क्रोध, अहंकार के कारण ऐसे व्यक्तियों के लीवर खराब होने की अधिक आंशका बनी रहती है और वे प्राय: लीवर संबंधी रोगों से ग्रसित होते हैं। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों का लीवर खराब होता है अथवा लीवर संबंधी रोग होते हैं, उनका स्वभाव प्राय: चिड़चिड़ा हो जाता है। क्रोध अधिक आने लगता है।

यकृत और पित्ताशय में प्राण ऊर्जा के अधिकतम प्रवाह का समय ऊर्जा चक्र के अनुसार मध्य रात्रि में 11 बजे से 3 बजे के लगभग होता है। मध्यरात्रि में घर अथवा बाहर का वातावरण शांत होता है। यदि निद्रा का सर्वोत्तम समय होता है। निद्रा में ही शरीर में स्थिरता अधिक और हलन-चलन अपेक्षाकृत कम होता है। निद्रा में ही लीवर और पित्ताशय प्राकृतिक प्राण ऊर्जा पूर्ण रूप से ग्रहण कर सकते हैं। इसी कारण जो व्यक्ति देर रात तक जागृत रहते है, कारखानों अथवा आवश्यक सेवाओं में रात्रिकालीन जिम्मेदारियां निभाते हैं, ऐसे व्यक्तियों को प्रकृति से सवाभाविक रूप से मिलने वाली प्राण ऊर्जा को ग्रहण न करने के कारण उनका लीवर जल्दी खराब होने की संभावनाएँ रहती है। उनका पाचन तंत्र बराबर कार्य नहीं करता और लीवर संबंधी रोग अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। अत: स्वस्थ रहने हेतु रात्रि के 11 बजे से 3 बजे तक के मध्य गहरी निद्रा आवश्यक होती है।

अग्नि तत्त्व-

अग्नि तत्त्व उत्तेजना, जोश, उत्साह का प्रतीक होता है। जितना जोश विद्यार्थी काल में होता है, उतना गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाने के कारण बाद में प्राय: नहीं होता। अत: उस समय अपेक्षाकृत अग्नि तत्त्व की मुख्यता रहती है। अग्नि लाल होती है और शरीर में रक्त का रंग भी लाल होता है। रक्त का स्वभाव भी गर्म होता है। अत: रक्त संबंधी रोगों का कारण अग्नि तत्त्व में असंतुलन भी हो सकता है। तालिका के अनुसार अग्नि तत्त्व से संबंधित अंगों का, लाल रंग, कड़वे स्वाद, जलने की सुगन्ध, गर्मी की मौसम अथवा दोपहर या धूप से, वाणी के विकार एवं पसीने से सीधा संबंध होता है और जब रोग के लक्षण इनसे प्रभावित होते हैं तो, अग्नि तत्त्व से संबंधित अंग हृदय और छोटी आंत उस असंतुलन का कारण हो सकते हैं। जैसे किसी को लाल रंग बहुत अच्छा लगता है अथवा बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है, कड़वा स्वाद बिल्कुल अच्छा न लगना, कहीं कुछ वस्तु जल रहीं हों तो, तुरन्त पता लग जाना अथवा पास में ही कोई वस्तु जल रही है, उसका मालूम न पड़ना। जैसे- दूध या सब्जी उबालते समय बर्तन के लग रहा हो, कोई पदार्थ जल रहा हो तो, बहुत से व्यक्तियों को तुरन्त पता लग जाता है। आसपास में कोई बीड़ी पी रहा हो तो उन्हें बेचेनी अनुभव होने लगती है। जबकि बहुत से व्यक्तियों के पास में ऐसी घटनाएँ होने पर भी उसकी अनुभूति नहीं होती। कुछ व्यक्तियों को बिना परिश्रम किये पसीना आता है, जबकि अन्य व्यक्तियों को खूब परिश्रम और व्यायाम करने, दौड़ने आदि के बावजूद पसीना नहीं आता। दोनों

परिस्थितियाँ अग्नि तत्त्व के असंतुलन की द्योतक होती है। वाणी का अग्नि तत्त्व से सीधा सम्बन्ध होता है। जैसे-जल्दी-जल्दी बोलना, हकलाना, आवश्यकता से भी तेज आवाज से बोलना अथवा जहाँ तेज बोलना हो बहुत धीमी आवाज से बोलना, आवाज का बैठ जाना, ठहाका मारते हँसना, गर्मी आते ही शरीर में रोगों का उत्पात प्रारम्भ हो जाना आदि लक्षण अग्नि तत्त्व में असंतुलन के सूचक होते हैं। अतः ऐसे रोगियों का उपचार करते समय हृदय और छोटी आंत को भी संतुलित करना चाहिए ताकि रोग का उपचार सही और शीघ्र हो सकता है।

अधिकांश कड़वे स्वाद, अग्नि तत्त्व का पोषण करते हैं। उनके प्रति अत्यधिक रुचि अथवा अरूचि का भाव अग्नि तत्त्व के असंतुलन को इंगित करता है। इसी कारण मधुमेह के रोगियों को पाचन हेतु जठराग्नि प्रदीप्त रखने के लिये कड़वे स्वादों वाले पदार्थों को खाने का प्रायः परामर्श दिया जाता है, ताकि शक्कर के सेवन न करने से जो ऊर्जा की कमी होती है, उसकी पूर्ति हो सके।

अग्नि तत्त्व की ऊर्जा से शरीर में सम्पूर्ण विकास होता है। चेहरे का तेज और आकर्षण में इस तत्त्व की प्रभावी भूमिका होती है। अग्नि तत्त्व का नाड़ी संस्थान से भी सीधा संबंध होता है। अतः नाड़ी संबंधी रोगों में भी अग्नि तत्त्व के संतुलन से अच्छे परिणाम आते हैं।

अग्नि तत्त्व का शरीर के रक्त प्रवाह से भी सीधा संबंध होता है। रक्त शरीर में ऊर्जा का प्रमुख स्रोत होता है। अतः अग्नि तत्त्व के असंतुलन से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता तथा संवेदनशीलता प्रभावित होती है। शरीर में हारमोन्स के निर्माण, चिन्तन, स्वविवेक, स्मरण शक्ति जीवन शैली आदि अग्नि तत्त्व से अधिक प्रभावित होते हैं। चेहरे की सौम्यता, मुस्कराहट अग्नि तत्त्व के संतुलन का प्रतीक होती है।

पेरीकार्डियन और त्रिअग्नि अर्थात् मस्तिष्क और मेरुदण्ड से नाड़ी तंत्र का सीधा संबंध होता है। मानसिक उत्तेजना, जठराग्नि, कामाग्नि के रूप में अग्नि तत्त्व अपना प्रभाव भी दिखलाता है। तनाव, निद्रा अंतःश्रावी ग्रन्थियाँ, संवेदनाओं, चिंतन, मनन, अभिव्यक्ति, विवेक, सजगता बुद्धि आदि इनसे अधिक संबंधित होते हैं। अतः जब उपरोक्त समस्याएँ उत्पन्न होती है तो, पेरीकार्डियन और त्रिअग्नि में असंतुलन की संभावना अपेक्षाकृत अधिक रहती है। विद्यार्थी जीवन में बाल्यकाल के तुरन्त बाद की अवस्था में शरीर के सभी अंगों का पूर्ण विकास होता है। मन में जोश, उत्साह, स्फूर्ति आदि का बाहुल्य रहता है, जीवन पद्धति की दिशा का निर्धारण होता है, उस समय अग्नि तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय एवं प्रभावी होता है।

पृथ्वी तत्त्व-

पृथ्वी तत्त्व से संबंधित यिन अंग तिल्ली (Spleen) और यांग अंग आमाशय (Stomach) होता है। जीवन की मध्यावस्था में यह तत्त्व अधिक सक्रिय होता है। इस तत्त्व की अधिकता के समय व्यक्ति अपना लक्ष्य निश्चय कर लेता है। उसका व्यवसाय अथवा जीवन शैली प्रायः निश्चित हो जाती है और उसमें अपनी योग्यतानुसार विकास और विस्तार करता है। इसकी ऊर्जा नमी अथवा आद्रता होती है। अतः शरीर के तरल पदार्थों के संचालन, नियन्त्रण और विसर्जन में इस तत्त्व की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वर्षा ऋतु में प्रायः आद्रता अधिक रहती है। अतः इनसे संबंधित अंगों में रोग होने की संभावना अधिक हो जाती है। मौसम के बदलने का मध्यकाल भी इन अंगों से अधिक संबंधित होता है। अतः जो व्यक्ति एलर्जी से, मौसम परिवर्तन के समय अथवा वर्षा ऋतु में प्रायः रोग ग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें तिल्ली-आमाशय को संतुलित और सक्रिय रखना चाहिये।

रसेनेन्द्रिय (जीभ) मीठा स्वाद, सुगन्धित पदार्थ, पीला रंग, पाचन और लासिका तंत्र, मोटापा आदि का इस तत्त्व के अंगों से विशेष संबंध होता है। अतः उनके प्रति आकर्षण और घृणा का भाव इस तत्त्व के असंतुलन को दर्शाते हैं। जब यह तत्त्व असंतुलित हो जाता है तो, व्यक्ति बिना कारण ग्रस्त रहता है। अपने पक्ष की विस्तार से अभिव्यक्ति करना चाहता है। अकेले में गुनगुनाना, डकारें, हिचकी आदि ध्वनियों की अभिव्यक्ति इस तत्त्व में असंतुलन का द्योतक होती है। पेन्क्रियाज का इस तत्त्व से विशेष संबंध होता है। अतः मधुमेह संबंधी रोग में तिल्ली को सक्रिय करने और आमाशय में पाचन सुधारने से रोग मुक्त सरलता से हुआ जा सकता है। आजकल मधुमेह रोग की अधिकता के कारण जनसाधारण की सुविधा हेतु पृथ्वी तत्त्व के यिन-अंग तिल्ली के साथ पेन्क्रियाज को भी रखा जाता है।

धातु तत्त्व-

धातु तत्त्व से संबंधित शरीर में यिन अंग फेंफड़ा (Lungs) और यांग अंग बड़ी आंत होता है। जीवन में प्रारम्भिक वृद्धावस्था में यह तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय होने लगता है। इस तत्त्व से व्यक्ति सिकुड़ने लगता है, उसका फैलाव सीमित होने लगता है। उस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः उसके अभिभावकों (माता-पिता) का वियोग हो जाता है तथा उसके स्वयं की संताने भी गृहस्थ जीवन प्रारम्भ कर अपने-अपने कार्यों में प्रायः लग जाती है। व्यक्ति का यौवन समाप्त हो जाने से उत्साह एवं जोश भी कम पड़ने लगता है। भविष्य की समस्याओं का चिन्तन होने लगता है। संसार की नश्वरता और परिजनों के स्वार्थीपन का आभास होने से वाणी में प्रायः दुःख की अभिव्यक्ति झलकने लगती है।

धातु तत्त्व का त्वचा, सफेद रंग, दुर्गन्ध, चटपटे स्वाद, शरीर के बालों से विशेष संबंध होता है, शरीर में श्वसन और मल विसर्जन में विशेष योगदान होता है। त्वचा संबंधी रोगों में इस तत्त्व के संतुलन से शीघ्र राहत एवं मुक्ति मिलती है।

जल तत्त्व-

जल तत्त्व से संबंधित शरीर में यिन अंग गुर्दे और यांग अंग मूत्राशय तथा ऊर्जा ठण्डक होती है। जीवन की अंतिम अवस्था में अर्थात् वृद्धावस्था में शरीर में जल तत्त्व अधिक सक्रिय हो जाता है। काला अथवा नीला रंग, नमकीन स्वाद, श्रवण शक्ति, सर्दी की मौसम, सिर के बाल, प्रजनन अंग, हड्डियाँ इस तत्त्व से विशेष संबंधित होती है।

इस तत्त्व के अंसतुलन से मूत्र संबंधी रोग होने की संभावनाएँ बढ़ जाती है। यदि व्यक्ति में नकारात्मक सोच हों तो, अभिव्यक्ति में भय झलकता है। दुःख में आंसू जल्दी आने लगते हैं। ठण्डक ऊर्जा की अधिकता का मतलब मात्र शीतलता ही नहीं, अपितु निष्क्रियता भी होता है। सारी इन्द्रियों की क्षमता क्षीण होने लगती हैं।

पानी बर्फ कब बनता है जब उसमें ठण्डक होती है। ठीक उसी प्रकार जब शरीर में अग्नि तत्त्व का प्रभाव कम हो जाता है तो व्यक्ति का रक्त भी ठण्डा पड़ जाता है। उसमें उत्साह, जोश समाप्त होने लगता है। परिणाम स्वरूप शरीर में एकत्रित विजातीय तत्त्वों का विसर्जन बराबर नहीं होता। कचरा जब जम जाता है तो, गांठ बन अवरोध पैदा करता है। परिणाम स्वरूप कम करने के बजाय शल्य चिकित्सा द्वारा उस भाग को अलग किया जाना, आज आम बात हो गयी है।

शरीर के किसी अंग अथवा भाग को काटकर फेंक देना समस्या का स्थायी समाधान नहीं होता, परन्तु राहत मात्र होता है। अपनी भूलों, उपेक्षाओं, दवाईयों, के दुष्प्रभावों का परिणाम होता है। समय पर सही निदान न होना और गलत उपचार का प्रतिफल है। शरीर की प्रतिरोधक क्षमताओं को क्षीण करने वाली दवाईयां एवं अप्राकृतिक जीवन शैली का प्रतिफल है। प्रमाद एवं आलस्यमय जीवन, शारीरिक श्रम न करने का परिणाम होता है। विजातीय तत्त्वों को शरीर से पूर्णतया विसर्जन न करने का नतीजा है। संक्षेप में कहें तो हमारे अज्ञान एवं असत्य मान्यताओं का परिणाम होता है।

जो गांठ शरीर में बनती है, वह बिखर भी सकती है, घुल भी सकती है, सिकुड़ भी सकती है। आवश्यकता है, रोग के कारण जो तत्त्वों और उससे संबंधित ऊर्जाओं के असंतुलन हो जाता है, उसका पुनः संतुलन करना। जिस प्रक्रिया द्वारा रोग में वृद्धि हुई हो, ठीक उसके विपरीत प्रक्रिया द्वारा, पुनः संतुलन करना। यदि असंतुलन का कारण ठण्डक हो तो ठण्डक को कम करना तथा अग्नि तत्त्व को बढ़ाकर पुनः संतुलित किया जा सकता है।

असाध्य एवं संक्रामक रोगों में प्रायः जल तत्त्व से संबंधित ठण्डक ऊर्जा के असंतुलन की अधिक संभावना रहती है, जिसको अग्नि तत्त्व की ऊर्जा के साथ अन्य तत्त्वों में आवश्यक परिवर्तन कर संतुलित किया जा सकता है। परिणाम स्वरूप बहुत से रोगों में शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रहती तथा भविष्य में उससे पड़ने वाले दुष्प्रभावों एवं दवाओं की दासता से मुक्ति पाई जा सकती है।

असाध्य रोगों में जब किसी अंग की क्षमता बहुत कम हो जाती है, तब यदि उस अंग की शुष्क एवं ठण्डक ऊर्जा को कम कर दिया जाये तथा वायु और अग्नि ऊर्जा को बढ़ा दिया जाये तो प्रभावशाली परिणाम होते हैं। अधिकांश शल्य चिकित्साओं का प्रारम्भिक अवस्था में यह सरलतम वैकल्पिक प्रभावशाली तरीका होता है।

पांचों तत्त्वों का प्रभाव शरीर में कभी भी एक जैसा नहीं रहता। कभी कोई तत्त्व अधिक प्रभावी होता है तो, कभी दूसरा तत्त्व।

पगथली और हथेली में निरन्तर परिवर्तन होने वाली रेखाएँ हों या त्वचा की स्थिति अथवा चेहरे की अभिव्यक्ति हमारी आन्तरिक अवस्था को अभिव्यक्त करती है, परन्तु अज्ञान एवं असजगता के कारण हम उन परिवर्तनों को समझ नहीं पाते। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति चेहरे को देख कर तो, कुछ व्यक्ति जीभ, नाखून, आंख, होठ, कान अथवा शरीर के किसी भाग की आकृति देख, शरीर की आन्तरिक अवस्था का निदान कर देते हैं। ये सारे लक्षण प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति का स्वास्थ्य और रोग की अवस्था एक जैसी नहीं होती। अतः दो रोगियों के रोग का परिवार कभी भी शत-प्रतिशत एक जैसा नहीं हो सकता। सभी को अलग-अलग रंग, स्वाद, गन्ध, स्पर्श प्रिय या अप्रिय क्यों लगते हैं? सभी व्यक्तियों की त्वचा का रंग रूप, आकार, संरचना, लम्बाई, स्वभाव, मोटापा अलग-अलग क्यों होता है? कोई मोटा तो कोई दुबला पतला क्यों? कोई लम्बा तो कोई बोना क्यों? किसी का चेहरा आकर्षक तो किसी का बदसूरत क्यों? सभी की स्मरण शक्ति, भूख-प्यास, चिंतन, मनन, तर्क और समझ एक जैसी क्यों नहीं होती?

जिस प्रकार किसी भी वाहन के प्रत्येक घटक का प्रमुख घटक से संबंध होता है, उसी प्रकार प्रत्येक अंग से संबंधित कुछ शरीर में घटक होते हैं, जो कि गर्भावस्था में विकसित होते है तथा उस समूह से जीवन पर्यन्त संबंधित

रहते है, जिस प्रकार संतान अपने माता-पिता से जीवन भर संबंधित रहता है। उन अवयवों, तंत्रों के असंतुलनों से भी संबंधित अंग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विशेष प्रभावित होते हैं।

पंच तत्त्वों में आपसी संबंध-

शरीर में पंच तत्त्व की ऊर्जाओं का निरन्तर उत्पादन और क्षय रहता है। शरीर में पंच तत्त्वों का उत्पादन और नियन्त्रण अलग-अलग अवस्थाओं में उनका अनुपात, निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित होता है। प्रत्येक तत्त्व किसी अन्य तत्त्व की उत्पत्ति में सहायक होता है तथा किसी अन्य तत्त्व को नियन्त्रित करता है। वह तत्त्व स्वयं किसी अन्य तत्त्व द्वारा नियन्त्रित होता हैं।

लकड़ी अथवा वनस्पति की ऊर्जा का कार्य नवीन सृजन की प्रारम्भिक अवस्था से होता है। अग्नि तत्त्व की ऊर्जा नवसृजित वस्तु का क्रमिक विकास में सहयोग देती है। पृथ्वी तत्त्व निश्चित सीमा में होने वाले विस्तार को सीमित करती है, जबकि धातु तत्त्व से क्षय बढ़ने लगता है। जल तत्त्व ऊर्जा का निम्नतम स्तर होता है और इस अवस्था में शरीर की ताकत क्षीण हो जाती है और जब पूर्णतया क्षीण हो जाती है तो मृत्यु हो जाती है।

पाँचों तत्त्व चार प्रकार से एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते है।

उत्पादन चक्र-

संसार में होने वाले सभी परिवर्तनों, जीवों और वनस्पति आदि का व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक क्रमिक विकास, सभ्यता और विज्ञान की प्रगति आदि इस चक्र के नियमानुसार होती है। परस्पर प्रेम और मातृ भाव से ही माता-पिता की परम्परा आदि काल से निरन्तर चल रही है। सभ पुनरावर्तित होने वाली क्रियाएँ इस सिद्धान्त पर ही आधारित होती है। जैसे बसन्त मौसम के बाद ही गर्मी आती है। पतझड़ के पश्चात् ही ठण्डक का आवागमन होता है।

प्रकृति में लकड़ी के जलने से अग्नि अर्थात् गर्मी उत्पन्न होती है। जब आग जलती है तो राख के रूप में मिट्टी अर्थात् पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। मिट्टी से धातु निकलता है और जब धातु ठोस और शुष्क हो जाता है तो, पानी उससे अलग हो जाता है। अर्थात् ठण्डक से वाष्प, पानी में बदलता है। पानी से वनस्पति पैदा होती है, जो लकड़ी का मुख्य स्रोत होती है। पुनः लकड़ी के जलने से आग के रूप में यह चक्र चलता रहता है। अग्नि उत्पादन में लकड़ी की अहं भूमिका होती है। अतः लकड़ी अग्नि तत्त्व का मातृ तत्त्व होता है और अग्नि लकड़ी तत्त्व का पुत्र तत्त्व। ठीक उसी प्रकार पृथ्वी-धातु की, धातु- जल की, और जल-वनस्पति (लकड़ी) तत्त्व का मातृ तत्त्व होता है। इसी प्रकार पृथ्वी अग्नि तत्त्व का, धातु- पृथ्वी तत्त्व का और वनस्पति- जल तत्त्व का पुत्र तत्त्व होता है। जिस प्रकार व्यावहारिक जगत में माता-पुत्र का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार उत्पादक चक्र में तत्त्वों का आपसी सम्बन्ध होता है। मातृ तत्त्व की ऊर्जा बढ़ती है और घटाने से घटती है।

नियन्त्रक चक्र (Subjugating Cycle)-

किसी तत्त्व के बढ़ते हुए प्रभाव को तुरन्त रोकना अथवा कम करना आवश्यक होता है। चलते हुए वाहन को दुर्घटना से बचाने के लिए कभी-कभी तुरन्त रोकना आवश्यक होता है।

साधारण परिस्थितियों में वनस्पति पृथ्वी के अन्दर जाकर अपनी जड़े जमा लेती है, इस प्रकार पृथ्वी के फैलाव को नियन्त्रित करती है। पृथ्वी पानी को सोख लेती है और उसके विस्तार को नियन्त्रित करती है। पानी

अग्नि को शान्त कर उसके प्रभाव को शीघ्र घटाता है। अग्नि धातु को गला देती है और धातु लकड़ी को काट देता है। इस प्रकार एक तत्त्व दूसरे तत्त्व पर नियन्त्रण रखता है।

जब शरीर में कोई अंग अधिक क्रियाशील हो जाता है तो उसकी अतिरिक्त ऊर्जा अन्य अंगों के कार्यों में हस्तक्षेप करने लग जाती है। जब तक यह हस्तक्षेप थोड़ा होता है, शरीर उसको स्वीकार कर सहन कर लेता है, परन्तु जब यह हस्तक्षेप अथवा असन्तुलन अधिक होने लगता है, तो रोग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी परिस्थिति में इस चक्र के सिद्धान्त द्वारा उनमें सन्तुलन किया जा सकता है। यह चक्र व्यक्ति में प्रतिरोधक क्षमता का प्रतिनिधत्व करता है।

उत्पादक चक्र का कार्य धीमा, क्रमिक और निरन्तर चलता है। अतः उसमें यिन का सिद्धान्त लागू होता है, जबकि नियन्त्रण अधिक तीव्र, प्रभावशाली और शीघ्र होता है, अतः यांग पर आधारित होता है।

विपरीत नियन्त्रक चक्र–

विशेष परिस्थितियों में जब नियन्त्रिण करने वाले तत्त्व की ऊर्जा बहुत कम होती है तब वह अपने प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व पर नियन्त्रण नहीं कर सकता, उलटा उससे हार जाता है। जैसे रेतीले मैदानों में वनस्पति प्रायः अपनी जड़े नहीं जमा सकती। तूफान और बाढ़ के पानी को मिट्टी सोख नहीं सकती। अतः पानी तट की मर्यादा तोड़ देता है। छोटी–सी धातु की पत्ती से यदि पेड के तने को काटने का प्रयास किया जाए तो, पत्ती स्वयं टूट जाती है। पानी की चन्द बून्दें धधकती तेज ज्वाला को शान्त करने के बजाय, स्वयं का अस्तित्व समाप्त कर देती है। थोड़ी–सी अग्नि धातु को पिघला नहीं सकती। अतः तत्त्वों का संन्तुलन करते समय जब तक नियन्त्रण करने वाली ऊर्जा आवश्यकता के अनुरूप न हो तो, अपने प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व पर नियन्त्रण नहीं रख सकती।

बचाव चक्र (Anti Creation Cycle)–

सम्पूर्ण संसार का संचालन आदान–प्रदान पर चलता है। प्रत्येक व्यक्ति में स्व–अनुशासित सजगता, विवेक, पर–हितकारी भावना होती है। किए हुए उपकारों का बदला चुकाने की प्रायः भावना होती है। माता–पिता का अपनी सन्तान के प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है, जो उत्पादक चक्र का मुख्य आधार होता है, परन्तु जब बच्चे बड़े एवं गृहस्थ बन जाते हैं तब उनको भी अपने बच्चों से प्रेम होने लगता है। साथ ही उन्हें अपने पर किए गए माता–पिता के उपकारों का एहसास भी होने लगता है। उनकी सेवा करने और आज्ञा पालन का भाव जागृत होता है। यही आदान–प्रदान का सिद्धान्त कहलाता है।

जैसे अच्छी सरकार प्रजा के विकास और सुख–शान्ति का ख्याल रखती है, उसके बदले प्रजा कानून एवं प्रशासनिक व्यवस्था का पालन करती है। कर देती है। सरकारी प्रतिनिधियों का सम्मान करती है।

जब अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, क्रूरता, तानाशाही बढ़ती है, समाज में अन्धविश्वास और गलत परम्पराएँ अनियन्त्रित हो जाती है, तब सत्य की वकालात और कानून की रक्षा करने वाले व्यक्ति आगे आकर विरोध करते हैं, भले ही प्रारम्भ में उनको कष्ट सहना पड़ता है, स्वयं का बलिदान करने हेतु तैयार करना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों और घटनाक्रम में अनियन्त्रक चक्र प्रभावी होता है। यह चक्र व्यक्ति की अन्याय से लड़ने की क्षमता का प्रतीक होता है।

चारों चक्रों का वर्णन करने का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि हम स्वविवेक से अपने पंच तत्त्वों का सन्तुलन रख स्वस्थ रह सके। ब्रह्माण्ड में प्रत्येक दृश्यमान वस्तु के अस्तित्व में प्रायः पाँचों तत्त्व होते हैं, परन्तु उनमें सभी की मात्रा समान नहीं होती। जिस तत्त्व की अधिकता होती है, वस्तु को उसी तत्त्व के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है।

पंच तत्त्वों से विभिन्न अंगों का आपसी संबंध

प्रत्येक तत्त्व से सम्बन्धित यिन और यांग अंग होते हैं। सर्व प्रथम उन दोनों में सन्तुलन करना आवश्यक होता है। प्रत्येक यिन-यांग के कुछ कार्यो में तो समानता होती है, परन्तु बहुत से कार्य प्रत्येक अंग के अलग-अलग भी होते हैं। यदि ऐसे में सक्रियता अथवा निष्क्रियता आती है तो, यिन अंगों को यिन अंगों से सम्बन्धित तत्त्वों और यांग अंगों की यांग अंगों से संबंधित तत्त्वों में आवश्यकतानुसार घटत-बढ़त कर सन्तुलित किया जा सकता है।

अंग का नाम	मातृ अंग	पुत्र अंग	अंग जिससे नियन्त्रित होता है	अंग जिस नियंत्रित करता है
यकृत	गुर्दे	हृदय	फेंफड़े	तिल्ली
पित्ताशय	मूत्राशय	छोटी आंत	बड़ी आंत	आमाशय
हृदय	यकृत	तिल्ली	गुर्दे	फेंफड़े
छोटी आंत	पित्ताशय	आमाशय	मूत्राशय	बड़ी आंत
तिल्ली	हृदय	फेंफड़े	यकृत	गुर्दे
आमाशय	छोटी आंत	बड़ी आंत	पित्ताशय	मूत्राशय
फेंफड़े	तिल्ली	गुर्दे	हृदय	यकृत
बड़ी आंत	आमाशय	मूत्राशय	छोटी आंत	पित्ताशय
गुर्दे	फेंफड़े	यकृत	तिल्ली	हृदय
मूत्राशय	बड़ी आंत	पित्ताशय	आमाशय	छोटी आंत

जैसे किसी व्यक्ति का हृदय कमजोर है तो, उसके मातृ यिन अंग लीवर तथा पुत्र यिन अंग तिल्ली की क्षमता बढ़ाने से हृदय शक्तिशाली बन सकता है। हृदय अग्नि तत्त्व से सम्बन्धित होता है और जल तत्त्व उसे शान्त अथवा कमजोर करता है। अर्थात् जिसका हृदय कमजोर होगा, उसके गुर्दो को अधिक क्रियाशील होना पड़ेगा। अतः यदि जल तत्त्व कम हो जाए तो, हृदय की अग्नि ऊर्जा मंद नहीं होगी तथा हृदय बराबर कार्य करने लगेगा।

जैसे यदि किसी व्यक्ति को मधुमेह है अर्थात् उसका पेन्क्रियाज तिल्ली के समीप होने से यदि तिल्ली की ऊर्जा किसी विधि द्वारा बढ़ा दी जाए तो, पेन्क्रियाज ताकतवर होने लगेगा और मधुमेह असाध्य रोग नहीं रहेगा। तिल्ली का मातृ अंग हृदय और पुत्र अंग फेंफड़ा होता है। अतः यदि हृदय और फेंफड़े को अधिक क्रियाशील बना दिया जाये तो तिल्ली/ पेन्क्रियाज अपने आप सशक्त हो जाएंगे।

पंच तत्त्वों से संबंधित शरीर में ऊर्जा मार्ग : मुख्य मेरेडियन-

यह पांचों तत्त्व एक दूसरे के निर्माण और विनाश में सहयोग देते हैं। इसी के कारण शरीर में अलग-अलग स्थितियाँ बनती है। इन पाँचों तत्त्वों के स्वयं की भी एक विशेष ऊर्जा होती है, जो निश्चित मार्गो से प्रवाहित होती हैं, जिन्हें मेरेडियन कहते हैं। शरीर में इन मेरेडियन का स्थूल से कोई अस्तित्त्व नहीं होता। अतः एक्स-रे, एम.आर.

आई., सी.टी.स्केन, सोनो-ग्राफी आदि परीक्षणों से उनको मालूम नहीं किया जा सकता। परन्तु से उनको मालूम नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी उनके प्रवाह को किर्लियन फोटोग्राफी के माध्यम से देखा जा सकता है।

शरीर में मुख्य रूप से बारह मेरेडियन होती है जो शरीर के दाहिने और बांये भाग में समान रूप से प्रवाहित होती है तथा प्रमुख अंगों के नाम से पहिचानी जाती है। इसके अलावा दो प्रमुख मेरेडियन और होती है जो शरीर के मध्य भाग में प्रवाहित होती है। आगे की तरफ प्रवाहित होने वाली मेरेडियन शरीर के सामने के भाग में प्रवाहित होने वाली मेरेडियनों को नियन्त्रित करती है। अतः इसे कण्ट्रोलिंग वेशल (Controlling Vessel) कहते हैं। इसी प्रकार शरीर के पीछे की तरफ मध्य भाग से प्रवाहित होने वाली मेरेडियन पीछे की तरफ प्रवाहित मेरेडियनों में ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित रखती है। जिसे गवर्निंग वेशल (Governing Vessel) कहते हैं। इन्हीं मेरेडियनों के माध्यम से शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग बाकी शरीर से अपना संबंध बनाये रखता है। शरीर में प्राण ऊर्जा का प्रवाह जब इन पंच तत्त्वों से संबंधित अंगों, उपांगों, अवयवों आदि में बिना अवरोध आवश्यक अनुपात में संतुलित रूप से प्रवाहित होता है तो, हम स्वस्थ होते हैं। रोग की अवस्था में यदि उस अवरोध को दूर कर प्राण ऊर्जा का प्रवाह संतुलित कर दिया जावे तो रोग ठीक हो सकता है। किसी आन्तरिक अथवा बाह्य कारण से जब यिन यांग ऊर्जाओं में असन्तुलन हो जाने की स्थिति में प्राण ऊर्जा का प्रवाह भी असन्तुलित हो जाता है। परिणाम स्वरूप किसी अंग को आवश्यकता से अधिक ऊर्जा मिलने से वह अंग अधिक सक्रिय हो जाता है तो, दूसरी तरफ किसी भाग में ऊर्जा न पहुंचने अथवा कम पहुंचने से वह अंग अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पाता और हम रोगी बनने लगते हैं। प्राण ऊर्जा के प्रवाह को किसी भी विधि द्वारा सन्तुलित करके ही हम पुनः स्वस्थ हो सकते हैं।

सुजोक बियोल मेरेडियन में ऊर्जा संतुलन द्वारा उपचार

सुजोक सिद्धान्तानुसार शरीर के विभिन्न भागों की स्थिति हथेली में दर्शायी गयी है। शरीर में पैरों में घुटनों से पगथली तथा हाथ में कोहनी से हथेली तथा गर्दन के ऊपरी भाग में अपेक्षाकृत अधिक हलन-चलन होता है। अतः शरीर में रोग की अभिव्यक्ति के लक्षण इन भागों में पहले प्रकट होते हैं। हाथ, पैर और गर्दन के ऊपरी भाग से गुजरने वाली मेरेडियन के प्रतिनिधि अंगुलियों और अंगूठे में स्थित होते है। हथेली में मेरेडियन की उस स्थिति को बियोल मेरेडियन कहते हैं। शरीर में जिस स्थिति और दिशा में मेरेडियन की ऊर्जा का प्रवाह होता है, सुजोक के सिद्धान्तानुसार हथेली में उसी स्थिति में बियोल मेरेडियन और उसमें ऊर्जा का प्रवाह होता है। जिसे चित्र में दर्शाया गया है।

उपचार करते समय प्रायः शरीर के प्रतिनिधि के रूप में बायें हथेली का मात्र एक अंगूठा, तर्जनी और मध्यमा का उपयोग लिया जाता है। परन्तु विशेष परिस्थितियों में सारी अंगुलियों और दोनों हथेलियों की अंगुलियों का भी उपयोग किया जा सकता है।

ऊर्जा संतुलन की सरल विधि-

बियोल मेरेडियन पद्धति द्वारा उपचार हेतु बटन के आकार के छोटे-छोटे चुम्बकों का उपयोग किया जाता है। यदि किसी मेरेडियन में ऊर्जा की कमी के कारण रोग हो तो उसमें ऊर्जा बढ़ाने हेतु अंगुलियों में सम्बन्धित मेरेडियन पर ऊर्जा की दिशा में पहले उत्तरी ध्रुव (N.Pole) और उसके आगे दक्षिणी ध्रुव (S.Pole) स्पर्श कराने से उस मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह बढ़ने लगता है। इसके विपरीत रोग यदि मेरेडियन में ऊर्जा की अधिकता के

कारण हो तो प्रवाह की दिशा में पहिले दक्षिणी ध्रुव और बाद में बटन चुम्बक का उत्तरी ध्रुव लगाने से सम्बन्धित मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह कम होने लगता है। चुम्बक के उत्तरी ध्रुव का कार्य ऊर्जा के प्रवाह को नियन्त्रित करना और दक्षिणी ध्रुव का कार्य मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह को तेज करना होता है। अतः जो अंग कमजोर अथवा रोगग्रस्त होता है, उससे सम्बन्धित मेरेडियन में आवश्यकतानुसार प्राण ऊर्जा के प्रवाह को घटा अथवा बढ़ाकर रोग से शीघ्र राहत पाई जा सकती है। ऊर्जा के प्रवाह को उतना ही घटाना अथवा बढ़ाना चाहिए जब तक उस मेरेडियन में प्रवाह सामान्य एवं संतुलित न हो जावे। मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह बढ़ाने अथवा घटाने के लिए बटन चुम्बक लगाने के कुछ समय पश्चात यदि किसी भी प्रकार की बैचेनी अनुभव हो, चक्कर आने लगे, जी घबराने लगे, दर्द बढ़े तो इसका मतलब शरीर को ऊर्जा के प्रवाह में होने वाला परिवर्तन अस्वीकार है। अर्थात् शरीर को उस उपचार की आवश्यकता नहीं है। चिकित्सक द्वारा निश्चित किया गया निदान सही नहीं है। अतः इन चुम्बकों को बदल देना चाहिये। उपचार के पश्चात् 5-10 मिनट रोगी को अपने समीप रखना चाहिए ताकि गलत अथवा पुनः उपचार से होने वाली प्रतिक्रिया एवं प्रभाव के अनुरूप आवश्यकतानुसार उपचार में परिवर्तन किया जा सके। उपचार पूरा होते ही बैचेनी की स्थिति होने लगती है। इस प्रकार उपचार की इस विधि द्वारा गलत एवं आवश्यकता से अधिक उपचार की संभावना नहीं होती। जो अन्य चिकित्साओं में प्रायः संभव नहीं होता।

यदि हृदय अथवा उससे सम्बन्धित कोई भाग बराबर कार्य नहीं करता है तो हृदय मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित करने मात्र से आश्चर्यजनक लाभ होता है। उसी प्रकार तपेदिक, अस्थमा अथवा फेंफड़े सम्बन्धी अन्य रोगों में फेफड़े की मेरेडियन, डायबिटीज अथवा शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता बराबर न होने पर तिल्ली **(Spleen)**, गुर्दा बराबर कार्य न करे तो गुर्दे की मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित करने से थोड़े समय में प्रभावशाली परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। नाड़ी संस्थान अथवा मेरुदण्ड सम्बन्धी रोगों में मेरुदण्ड **(Spleen)** मेरेडियन तथा पाचन सम्बन्धी रोगों में आमाशय, यकृत अथवा अन्य सम्बन्धित मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित कर रोग से मुक्ति पाई जा सकती है।

क्या ऊर्जा का रूपान्तरण हो सकता है ?

ऊर्जा वह शक्ति है जो नष्ट नहीं होती परन्तु बदलती रहती है। प्रत्येक जीवन चक्र का प्रारम्भ, बीच का भाग और अंत होता है, जो वास्तव में अन्त न होकर अगले जीवन चक्र का प्रारम्भ होता है।

मनुष्य के शरीर में ऊर्जा, अंग और स्वास्थ्य एक जीवनोपयोगी त्रिभुज की संरचना करते हैं, जिसकी भुजाएँ आपस में एक दूसरे पर निर्भर होती है।

प्रत्येक तत्त्व अपनी ऊर्जा से प्रवृत्ति करता है। अपने स्वभाव के अनुसार अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता हुआ अन्य तत्त्वों से भी उनका कोई न कोई सम्बन्ध होता है। इसी के माध्यम से शरीर का सूक्ष्म भाग बाकी शरीर से किसी न किसी रूप से प्रवाहित होता है। इन तत्त्वों की ऊर्जाओं से ही चेतना के विकास का स्तर आदि की विविधता का बोध होता है।

पंच तत्त्व की ऊर्जाओं का शरीर पर प्रभाव-

पंच तत्त्वों से संबंधित ऊर्जाएँ जिन-जिन अंगों, अवयवों, भावों, वातावरण आदि से प्रवाहित होती है उनका संक्षिप्त आंशिक वर्णन ही पंच तत्त्वों की तालिका में दर्शाया गया है। पाँचों तत्त्वों से संबंधित अलग-अलग

ऊर्जाएँ होती है। अलग-अलग कार्यो के लिये अलग-अलग प्रकार के ऊर्जा की आवश्कता होती है। बिना ऊर्जा के कोई प्रवृत्ति अथवा गतिविधि संभव नहीं होती। पांचों ऊर्जाओं के अभाव में मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। चन्द्रमा पर वायु ऊर्जा का तथा सूर्य पर ठण्डक ऊर्जा का अभाव होने से मानव जीवन की संभावना नहीं लगती। ब्रह्माण्ड में भी जहाँ-जहाँ पंच तत्त्व होते हैं, वहाँ-वहाँ ये पंच ऊर्जाएँ भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से होती है। ये ऊर्जाएँ न केवल शारीरिक स्तर पर कार्य करती है, अपितु व्यक्ति के मानसिक, वाचिक, भावनात्मक स्तर को भी प्रवाहित करती है। व्यक्ति का विकास, चिन्तन, सोच, भावनाएँ आदि इन ऊर्जाओं की उपलब्धता और उपयोग पर निर्भर करती है। व्यक्ति की जीवनशैली, गतिविधियों और प्रवृत्तियों का संचालन और नियन्त्रण इन ऊर्जाओं के द्वारा ही होता है। इन ऊर्जाओं के सही और संतुलित उपयोग से व्यक्ति अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों और वातावरण के बीच में अपना संतुलित जीवनयापन करता हुआ स्वस्थ और दीर्घायु जीवन जीते हुये अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। विभिन्न ऊर्जाओं का संतुलन और सम्यक् उपयोग ही अच्छे स्वास्थ्य का आधार होता है। और उनका अपव्यय, दुरुपयोग, अवमूल्यन और असंतुलन रोग का कारण होता है।

उपचार करते समय चिकित्सक को देखना होता है कि, रोग के लक्षण किस ऊर्जा को अधिक प्रवाहित करते हैं। तालिका के अनुसार जिस ऊर्जा से संबंधित अधिक तथ्य प्रभावित होते है, शरीर में उस ऊर्जा का प्रायः सर्वाधिक असंतुलन होता है। यह असंतुलन एक या एक से ज्यादा ऊर्जाओं का भी हो सकता है। जितना ज्यादा असंतुलन होता है, उतना ज्यादा रोग होता है। जब रोगी में एक दम विपरीत दो प्रकार की ऊर्जाओं के असंतुलन के लक्षण प्रकट होते हैं तो, रोगी असाध्य अथवा संक्रामक रोग से पीड़ित हो जाता है।

प्रत्येक अंग की वैसे तो कोई विशेष ऊर्जा होती है, परन्तु उसके साथ-साथ शरीर के प्रत्येक भाग में बाकी सभी ऊर्जाएँ भी कम ज्यादा अनुपात में अवश्य होती है। जिन्हें सहायक ऊर्जा कहा जा सकता है। किसी भी अंग की स्वस्थता सभी ऊर्जाओं के आवश्यकतानुसार सही अनुपात पर निर्भर करती है। सहायक ऊर्जा के अभाव में भी कोई अंग पूर्ण क्षमता से अपना कार्य नहीं कर सकता। परन्तु किसी भी अंग में मुख्य ऊर्जा के अभाव में व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। इसी कारण सभी व्यक्ति प्रायः एक जैसे रोगों, मौसम और आयु में नहीं मरते।

जब रोग के लक्षण सारे शरीर में हो, स्पष्ट हो तो, संबंधित यिन या यांग अंगों की ऊर्जा को संतुलित करना चाहिये। परन्तु यदि रोग के लक्षण शरीर के किसी आंशिक भाग विशेष में हो तो उस भाग के समीप से प्रवाहित होने वाली मेरेडियन में, रोग के लक्षणों से संबंधित सहायक ऊर्जा को संतुलित करने से, रोग में शीघ्र राहत मिलती है तथा असाध्य रोगों का उपचार प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है।

वायु ऊर्जा का प्रभाव-

प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में वायु ऊर्जा की आवश्यकता होती है। सभी रोगों का प्रारम्भ भी संबंधित भाग में प्रायः वायु ऊर्जा के असंतुलन से ही होता है। वर्ष का प्रारम्भ बसन्त ऋतु से होता है। मां के गर्भ में सर्व प्रथम अवयव के रूप में गर्भस्थ बालक की मांस पेशियां विकसित होती है। अंग के रूप में लीवर और पित्ताशय का विकास होता है। जन्म लेने के पश्चात् बालक सर्व प्रथम अपनी आंखों से दुनिया को देखता है, अपने परिजनों को पहिचानता है। मनुष्य के शरीर का अधिकतम विकास जन्म लेने के पश्चात् बाल्यकाल में ही होता है। प्रत्येक वनस्पति प्रारम्भिक अवस्था में हरी ही होती है। प्रत्येक फल प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः खट्टा होता है। सूर्योदय पूर्व

दिशा से ही उदय होता है। क्रोध के प्रारम्भ में व्यक्ति प्रायः मन ही मन चिल्लाकर उसकी अभिव्यक्ति करता है। ये सारे तथ्य किसी न किसी घटनाक्रम के प्रारम्भ के सूचक होते हैं। अतः उनका वनस्पति तत्त्व अर्थात् वायु ऊर्जा से विशेष संबंध होता है। यकृत और पित्ताशय वायु ऊर्जा के असंतुलन से अधिक प्रभावित होते हैं। वायु ऊर्जा का प्रमुख कार्य हलन-चलन होता है। गति ही जीवन है। बाल्यकाल में वायु ऊर्जा का बाहुल्य होता है। इसी कारण बच्चा बड़ा चंचल और अस्थिर होता है। एक स्थान पर स्थिर प्रायः नहीं बैठ सकता। बच्चे में जो भी विशेषताएँ होती है। उसका कारण उसमें वायु ऊर्जा की सक्रियता का प्रभाव अधिक होता है। बच्चा बहुत जिज्ञासु होता है । यदि बच्चे में उपरोक्त गुण न हो तो बच्चा अविकसित, मंद बुद्धि वाला अथवा रोग ग्रस्त समझा जाता है। बच्चा सहज, निष्कपट और मौलिक विचारों वाला होता है। अतः जिन व्यक्तियों का मौलिक स्वभाव इन गुणों से अधिक मिलता जुलता होता है, उनमें वायु ऊर्जा की सहज ही अधिकता होती है।

वायु ऊर्जा की अधिकता वालों का सोच हमेशा नई-नई वस्तुओं के प्रति आकर्षण का होता है। ऐसे व्यक्ति जब बाजार में वस्तुएँ खरीदने के लिए जाते हैं, तो प्रायः नई-नई वस्तुओं को अधिक पसंद करते हैं। आवश्यकता हो अथवा न हों, नई वस्तुएँ खरीद लेते हैं। प्रायः मितव्ययी नहीं होते। वायु ऊर्जा की बाहुल्यता वालों में प्रायः उत्सुकता अधिक होती है। ऐसे व्यक्तियों में नित्य नवीन सोच, तर्क, चिन्तन चलता है। उनका मन और मस्तिष्क प्रायः स्थिर होता है। अतः ध्यान साधना में प्रायः कम सफल होते हैं। मन की अस्थिरता के कारण समय पर सही निर्णय लेने में उन्हें कठिनाई होती है। अतः जिन लोगों के संस्कारों में सवभाविक रूप से वायु ऊर्जा अधिक हों, उन्हें कार्यो को चुनना चाहिए। कलाकार, अभिनेता, शिल्पकार, सेल्समेन, कवि, लेखक आदि व्यक्ति संस्कार के रूप में प्राप्त विशेष वायु ऊर्जा के कारण ही अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास कर पाते हैं, परन्तु जिनमें उनका अभाव होता है, वे व्यक्ति अपने ऐसे व्यवसायों में प्रायः जीवन की ऊँचाइयों तक नहीं पहुँ पाते।

शरीर के हलन-चलन में मांसपेशियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। अतः वायु ऊर्जा के असंतुलन से मांसपेशियों में विकार होने लगते हैं। श्वसन हो या पाचन अथवा विसर्जन क्रिया, सभी में वायु ऊर्जा की आवश्यकता होती है। शरीर में प्रवाहित होने वाले सभी तरल पदार्थों अथवा विचारों के प्रवाह में भी वायु ऊर्जा सहयोग करती है। संक्षेप में सभी शारीरिक एवं मानसिक गतिविधियों के संचालन में वायु ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

ताप ऊर्जा का प्रवाभा- सक्रियता, जोश, उत्तेजना

ताप ऊर्जा का कार्य शरीर में कार्य करने हेतु आवश्यक शक्ति पहुँचाने का होता हैं। शरीर का तापक्रम 98.4 फारेहनाईट बनाये रखना, भोजन में पाचन हेतु आवश्यक गर्मी प्रदान करना, शरीर की विभिन्न गतिविधियों के संचालन में उत्साह, जोश, पुरुषार्थ के आवश्यकता की पूर्ति ताप ऊर्जा द्वारा ही होती है। इस ऊर्जा के प्रभाव से शरीर का सम्पूर्ण विकास होता है। सूर्य की गर्मी के अभाव में जैसे, पेड़ पौधों का विकास होता, ठीक उसी प्रकार इस ऊर्जा के अभाव में शरीर में जड़ता, निष्क्रियता अथवा शिथिलता आ जाती है। अंगों की कार्य क्षमता घट जाती हैं।

इस ऊर्जा के प्रभाव से सभी अंगों की क्षमता बढ़ जाती है। कार्य में गति और सक्रियता आ जाती है। मनोबल और आत्म विश्वास अपेक्षाकृत अधिक होता है। अभिव्यक्ति में दु:ख और भय प्रायः नहीं झलकता।

किशोर अवस्था (विद्यार्थी जीवन) में इस ऊर्जा का बाहुल्य होता है। इसी कारण विद्यार्थी जीवन में व्यक्ति में शारीरिक सक्रियता और जोश अपेक्षाकृत अधिक होता है। उस अवस्था में व्यक्ति की कुछ न कुछ जीवन में बनने की इच्छा, चाह और कामना होती है। अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। भीड़, विज्ञापन से अधिक प्रभावित होते हैं तथा उसके अनुरूप अपनी धारणा शीघ्र बना लेते हैं। ताप ऊर्जा की अधिकता वाले व्यक्ति जब भी बाजार में जाते हैं तो उनका स्वभाव जो भी उपयोगी वस्तु को सामने आती है उसे तुरन्त खरीद लेते हैं, अधिक पूछताछ नहीं करते। व्यवस्थित ढंग से अच्छी चीजें नहीं खरीद सकते। जिन व्यक्तियों को संस्कार में ताप ऊर्जा का बाहुल्य होता है, यदि ऐसे व्यक्ति अपना व्यवसाय चुनते समय, अपनी ऊर्जा के अनुरूप जीवन शैली का चयन करें, जिसमें सदैव एक जैसा कार्य नहीं होता, परिस्थितियों के अनुसार कुछ न कुछ बदलाव की आवश्यकता होती है। जैसे- सैनिक, चिकित्सक, इंजीनियर, अध्यापक, वक्ता आदि, कार्यो में अधिक सफल होते हैं। इसके विपरीत यदि ताप ऊर्जा सहज रूप से अधिक न हों तो, ऐसे व्यवसायों में प्रायः पूर्ण रूप से सफल नहीं होते।

बुखार, लू अथवा गर्मी संबन्धी रोगों में अथवा किशोरावस्था में रोग ग्रस्त होने पर उपचार हेतु इस ऊर्जा के संतुलन की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। हृदय-छोटी आंत तथा पेरिकार्डियन (मस्तिष्क), त्रिअग्नि (मेरुदण्ड) इस ऊर्जा से विशेष संबंधित होते हैं।

ताप ऊर्जा सारे शरीर में रक्त के माध्यम से पहुंचती है। अतः रक्त संबंधी रोगों में इस ऊर्जा के संतुलन से शीघ्र अच्छे परिणाम आते हैं। शरीर की अधिकांश भावनाओं, संवेदनाओं, आवेगों के संचालन और नियन्त्रण में ताप ऊर्जा का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है।

हृदय प्रेम का प्रतीक होता है। इसी कारण निर्दयी, क्रूर व्यक्तियों को हृदयहीन कहा जाता है। ताप ऊर्जा के संतुलन से हृदय को ताकत मिलती है। अधिकांश आवेगों का सम्बन्ध सीधा हृदय से होता है। हृदय की मुख्य ऊर्जा गर्मी होती है। अतः ताप ऊर्जा को संतुलित कर आवेंगों पर सरलतापूर्वक नियन्त्रण किया जा सकता है।

भावनात्मक इस ऊर्जा से व्यक्ति को प्रसन्नता और आनन्द की अनुभूति होती है। व्यक्ति प्रायः मुस्कराता रहता हैं और कभी-कभी खुलकर हँसता है। जिन रोगों का सही निदान संभव न हो, उनके पेरीकार्डियन (मस्तिष्क) तथा त्रिअग्नि (मेरुदण्ड) मेरेडियन की ऊर्जा को संतुलित करने से संतोषप्रद परिणाम आते हैं। यह ऊर्जा शरीर के सभी अंगों की गतिविधियों के बीच समन्वय और संतुलन बनाये रखती है। यह ऊर्जा व्यक्ति में मानसिक और भावनात्मक बल प्रदान करती है। अन्तःश्रावी ग्रन्थियों, ऊर्जा चक्रों और हारमोन्स के उत्पादन पर नियन्त्रण करती है, जिससे व्यक्ति में सम्यक् ज्ञान और सद् विवेक विकसित होता है। सही चिन्तन और मनन होने लगता है तथा सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होने की संभावना रहती है। इस ऊर्जा के सदुपयोग से व्यक्ति में मानवीय गुण, जैसेः- दया, करुणा, मैत्री, सेवा, परोपकार, सहिष्णुता आदि के भाव पैदा होते हैं तथा व्यक्ति जीवन में सत्य, संयम, संतोष और नैतिकता को प्राथमिकता देने लगता है। व्यक्ति अन्तर्मुखी बनने लगता है। उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ने लगता है। आध्यात्मिक योगी समत्व भाव में होने से इस ऊर्जा का सदुपयोग अधिक कर पाते हैं।

परन्तु जब इस ऊर्जा का दुरुपयोग होता है, पुरुषार्थ सम्यक् नहीं होता है तो, व्यक्ति स्वार्थी बन जाता है। उसमें मानवीय सदगुणों का अभाव होने लगता है। व्यक्ति में कषाय वृत्तियाँ, भय, दुःख, तनाव, असंतोष, जीवन के प्रति निराशा के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

दुर्व्यसनों के सेवन से इस ऊर्जा का विशेष दुरुपयोग होता है। जो व्यक्ति जीवन के प्रति निराश होते है, उनके इस ऊर्जा का संतुलन करने से अच्छे परिणाम आते हैं।

इसी ऊर्जा के प्रभाव से व्यक्ति अपने प्राप्त ज्ञान एवं बुद्धि का उपयोग करता हैं। जो भी कार्य क्षेत्र मिलता है, उसमें विशेष योग्यता प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील हो जाता है। अपने भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ के प्रति सजगता विकसित होने लगती है।

प्रसन्नता और मुस्कराहट के सारे शरीर की रासायनिक प्रक्रिया बदलती है। परिणामस्वरूप भावनात्मक ऊर्जा मिलती है। जब हम प्रसन्न होते हैं तो, शरीर में ताप ऊर्जा पैदा होती है, परन्तु जब हम भयभीत होते हैं तो, ठण्डक ऊर्जा बढ़ने लगती है। प्रसन्नता से संतोष होता है। यदि कोई अपने जीवन से असन्तुष्ट हो तो, पेरीकार्डियन की ताप ऊर्जा बढ़ाने से समस्या का समाधान हो सकता है। यदि पति-पत्नी में असंतोष हो तो ऐसा उपचार आश्चर्यजनक परिणाम देता है। मस्तिष्क एवं मेरूदण्ड की ऊर्जा को सन्तुलित करने से मानसिक उपचार प्रभावशाली ढंग से करना संभव हो जाता है।

हमारी अधिकांश प्रमुख गतिविधियों का संचालन मस्तिष्क से होता है। अधिकतर प्रवृतियां हमारे मस्तिष्क में चिन्तन, सोच और निर्णयानुसार होती है।

ताप ऊर्जा कुछ न कुछ करने को प्रेरित करती है। ऐसे व्यक्तियों के जैसे ही मन में कोई चिन्तन चलता है, विचार आता है, उस पर कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। ताप ऊर्जा की बाहुल्यता वाले व्यक्ति धुन के धनी होते हैं। परिणामों की परवाह नहीं करते। उन्हें भय कम लगता है।

नमी ऊर्जा का प्रभाव- सजगता और विवेक

शरीर में लगभग 2/3 भाग जल होता है। नमी ऊर्जा द्वारा शरीर में व्याप्त तरल पदार्थो का नियन्त्रण होता है। जब जल का अनुपात विभिन्न अवयवों में असंतुलित हो जाता है तो शरीर में अनेकों समस्याएँ उत्पन्न होने लगती है। आंखों में आंसूओं के रूप में, मुंह में थूक के रूप में, फेंफड़ों में कफ के रूप में, शरीर से पसीने एवं मूत्राशय से पेशाब के रूप में अनावश्यक तत्त्व पदार्थो का विसर्जन होने लगता है। कभी-कभी नाक से पानी और कान से पीब भी आने लगती है। इस ऊर्जा के असंतुलन से शरीर में लासिका तंत्र संबन्धी रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। रूक-रूक कर दर्द अनुभव होने लगता है। तिल्ली/पेन्क्रियाज और आमाशय इस ऊर्जा के असंतुलन से अधिक प्रभावित होते हैं।

अपाचन, मधुमेह व एलर्जी प्रायः इसी ऊर्जा के असंतुलन के कारण होती है। वर्षा ऋतु और मौसम के बदलाव के समय होने वाले रोग, शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता, मोटापा अथवा दुबलापन, सूजन, एनेमिक स्थिति (रक्त की कमी) प्रायः ऊर्जा के असंतुलन से होती है। जब शरीर में नमी बढ़ती है तो, भारीपन और थकावट का अनुभव होने लगता है।

भावनात्मक स्तर पर इस ऊर्जा से व्यक्ति अपने से संबंधित प्रत्येक बात को गम्भीरता से लेता है। अकारण चिन्ता और छोटी-छोटी अनावश्यक बातों का चिन्तन करने से ऐसे व्यक्ति अधिक तनावग्रस्त और असंतोषी होते हैं। प्रत्येक घटनाक्रम का बहुत सूक्ष्मता से चिन्तन करते हैं। अतः शीघ्र निर्णय नहीं ले पाते। बिना बात चिंताओं से शरीर पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस कारण बहुत से व्यक्तियों को अनिद्रा, मधुमेह आदि रोग होने की संभावना बढ़ जाती है। ऐसे व्यक्ति अपने विचार विस्तार से दूसरों को बताना अथवा सुनाना चाहते हैं। यदि कोई उनकी बात सुनने में रुचि लेता है, तो मन ही मन बहुत शान्ति और राहत का अनुभव करते हैं। जो रोगी चिकित्सक को अपने रोग का पुराना इतिहास विस्तार से बताते हैं, उनमें नमी ऊर्जा के असंतुलन की प्रबल संभावना रहती है।

जिन व्यक्तियों में जन्म से इस ऊर्जा का बाहुल्य होता है, उनका स्वर मधुर होता है। अकेले में गुनगुनाया करते हैं तथा संगीत अधिक प्रिय होता है। वे अपने कार्य एवं जिम्मेदारियों के प्रति प्रायः अधिक सजग होते हैं। अपनी क्षमताओं का सही आंकलन कर हानि-लाभ को ध्यान में रख कार्य करते हैं। अवसर का पूरा लाभ उठाते हैं। परिवार और समाज में प्रायः सबको साथ लेकर चलने वाले होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को क्रोध अपेक्षाकृत कम आता है। जिनके स्वभाव में ऐसे गुण सहज हों, वे व्यक्ति वैज्ञानिक, न्यायाधीश, निरीक्षक, अंकेक्षक, शोध संबंधी कार्यों में अधिक सफल होते हैं।

नमी ऊर्जा की बहुलता वाले व्यक्ति बाजार में जाने पर अपनी पूर्व योजना के अनुरूप सिर्फ आवश्यकता वाली वस्तुओं का अपनी अर्थिक क्षमतानुसार प्राथमिकता के आधार पर क्रय करते हैं। अनावश्यक वस्तुएँ नहीं खरीदते।

शुष्कता (Dryness) ऊर्जा का प्रभाव

यह ऊर्जा शरीर में क्षमता से अधिक विकास अथवा फैलाव को नियन्त्रित करती है। इस ऊर्जा से गतिविधियों में रुचि कम होने लगती है। व्यक्ति की इच्छाएँ, कामनाएँ और जोश ठण्डा पड़ने लगता है। व्यक्ति को दुनियाँ की यथार्थता और नश्वरता का बोध होने लगता है। इस ऊर्जा के बढ़ने से व्यक्ति अपने ही हाल में मस्त रहता है। एक बार जो बात मान्यता और धारणा बन जाती है, उन्हें वे बदलना नहीं चाहते। पूर्वाग्रहों से ग्रसित होते हैं। नवीन विचारों को सहज नहीं स्वीकारते। अपने निर्णय पर दृढ़ रहते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः धोखा नहीं देते, विश्वसनीय होते हैं। निर्णय आसानी से नहीं बदलते। समय के साथ ही उनमें बदलाव आता है। यदि उनकी मान्यता सही होती है तब तो, अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं, परन्तु गलत धारणाओं का आग्रह हो तो भविष्य में लक्ष्य की प्राप्ति न होने से दुःखी होते है। उनके चेहरे पर मुस्कराहट बहुत कम रहती है। वे प्रायः एकान्तवादी और स्वार्थी होते हैं। जनसाधारण से ज्यादा परिचय नहीं रखते। उनकी बातों में दुःख की अभिव्यक्ति प्रायः स्पष्ट झलकती है। बिना बात कम बोलते है।

शारीरिक स्तर पर शुष्क ऊर्जा से अंगों-उपांगों में सिकुड़न होती है। जैसे-शरीर के किसी भाग के तन्तुओं का कड़े पड़ जाना, त्वचा का रुक्ष होना, त्वचा में झुर्रियाँ पड़ना, त्वचा संबंधी अन्य विकृतियों के लक्षण प्रकट होना, खुजली, दाद, बाईटें आना, हृदय, गुर्दे आदि का संकुचन, शरीर में शुष्कता के असंतुलन से प्रायः होता है। फेंफड़े और बड़ी आंत की यह मुख्य ऊर्जा होती है।

स्वभाविक रूप से शुष्क ऊर्जा की प्रधानता वाले व्यक्ति जब बाजार में जाते हैं तो घर से जो सोचकर जाते हैं, वे ही वस्तुएँ खरीदते हैं। यदि उससे अच्छी वस्तु भी कम मूल्य पर उपलब्ध हों तो भी उस तरफ ध्यान नहीं देते। जो खरीदना है खरीदकर शीघ्र लौट आते हैं। दुकानदार की तनिक भी नहीं सुनते हैं। शुष्क ऊर्जा वाले व्यापार,ध्यान और आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक सफल होते हैं।

ठण्डक (Coldness) ऊर्जा का प्रभाव

यह ऊर्जा एक प्रकार से शरीर की गतिविधियों पर क्षमता से अधिक कार्य करने पर नियन्त्रण रखती है। जितने अनुपात में यह ऊर्जा शरीर में बढ़ती हैं, उसी अनुपात में जोश, ताकत, हलन-चलन, उत्साह, शारीरिक क्षमता कम होने लगती है। जब लीवर में ठण्डक ऊर्जा बढ़ जाती है तो, लीवर बराबर कार्य नहीं करता। परिणामस्वरूप लीवर सम्बन्धी, फेंफड़े में ठण्डक ऊर्जा बढ़ने से तपेदिक, तीव्र अस्थमा, हृदय में ठण्डक ऊर्जा बढ़ने से हृदय बराबर कार्य नहीं करता। वृद्धावस्था में ठण्डक ऊर्जा का प्रभाव अधिक होता है। जिसके कारण आंखों की दृष्टि, कानों की श्रवण शक्ति, मस्तिष्क की स्मरण शक्ति और अन्य इन्द्रियों की कार्य क्षमता घट जाती है। परिणामस्वरूप शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमता कम होने लगती है। गुर्दे और मूत्राशय की यह प्रमुख ऊर्जा होती है।

भावानात्मक स्तर पर ठण्डक ऊर्जा बढ़ने से भय अधिक लगता है। अधिक भय की स्थिति में कभी-कभी पेशाब की शंका होने लगती है। वृद्ध व्यक्तियों को अपने साथियों के निरन्तर मृत्यु के समाचार सुन स्वयं की मृत्यु का भय प्रायः अधिक लग रहता है।

मानसिक स्तर पर ठण्डक ऊर्जा की अधिकता वाले व्यक्ति भय के कारण निर्णय हानि-लाभ का ध्यान रख, सोच समझ कर प्रत्येक परिस्थिति में निर्णय लेते हैं। गलती से घबराते हैं। बदनामी से डरते हैं। फूँक-फूँक कर कदम रखते हैं। किसी प्रकार का खतरा लेना नहीं चाहते। झगड़ा टालने का प्रयास करते हैं। निर्णय लेने में देरी करते हैं। स्पष्ट हाँ या ना में जवाब प्रायः नहीं दे पाते। निर्णय लेने की क्षमता होने के बावजूद उसकी क्रियान्विति में प्रायः पहल नहीं कर पाते। बिना सोचे समझे परामर्श नहीं देते। किसी को भी नाराज करना नहीं चाहते। जैसा चलता है, वैसा चलने देना चाहते हैं।

इस ऊर्जा से प्रभावित व्यक्ति जब बाजार में कुछ खरीदने जाते हैं तो, विभिन्न दुकानों में आवश्यक सामग्री के भावों और गुणवता की तुलना करके क्रय करते हैं। यदि उपर्युक्त वस्तु उपलब्ध न हो तो उपलब्ध होने तक की प्रतीक्षा करते हैं, परन्तु अनावश्यक, अनुपयोगी, महंगी, खराब वस्तु नहीं खरीदना चाहते। जन्म से सहजता से प्राप्त ठण्डक ऊर्जा की अधिकता वाले व्यक्ति वर्तमान राजनीति में अधिक सफल होते हैं।

उपर्युक्त लक्षण मार्गदर्शक के रूप में ही समझने चाहिये, तथा रोगी में स्पष्ट लक्षित होते हों तो संबंधित ऊर्जा के असंतुलन की प्रबल संभावना रहती है। परन्तु प्रायः सभी स्थानों का जलवायु, वातावरण, जीवनशैली एक जैसी नहीं होती। जैसे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव, जहाँ दिन रात लम्बे समय बाद बदलते हैं। ठण्डे प्रदेश जहाँ प्रायः गर्मी नहीं पड़ती। कहीं वर्षा आवश्यकता से ज्यादा तो कहीं आवश्यकता से कम होती हैं। कोई स्थान समुद्र के किनारे हैं तो कोई ऊँचे पर्वत पर होता है। पर्वत पर ठण्डक और हवा अधिक होती है तो, समुद्र के किनारे बसे नगरों पर नमी ऊर्जा अधिक होती है।

त्वचा के रंग पर माता-पिता के साथ-साथ क्षेत्रीय जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ वर्ष भर गर्मी ज्यादा पड़ती है, वहाँ जन्म लेने वाले अधिकांश बच्चे प्रायः कृष्ण वर्ण के होते हैं। परन्तु जहाँ साल भर अपेक्षाकृत अधिक सर्दी पड़ती है, वहां जन्मने वाले बच्चों की त्वचा प्रायः गौर वर्ण की होती है। अतः यहां चर्चित बातों को सहायक मार्ग दर्शन के रूप तक ही सीमित समझना चाहिए। जो आवश्यकता पड़ने पर निदान और उपचार को प्रभावशाली बनाते हैं।

मनुष्य का स्वभाव, चिन्तन, मौलिक गुण उसको जन्म के सात सहज रूप से मिली इन ऊर्जाओं पर आधारित होता है। जो उसके संस्कारों और चरित्र का निर्माण करती है। रुचि की अभिव्यक्ति, क्षमता का परिचय कराती है। यदि उन गुणों के अनुरूप जीवन शैली चुनी जाये तो जीवन में अधिक से अधिक सफलता मिलती है परन्तु मौलिक गुणों के विपरीत शैली अथवा व्यवसाय चुनने से अपेक्षित नहीं मिलती।

पंच ऊर्जाओं के प्रतिवेदन केन्द्र

पंच तत्त्व की ऊर्जाओं के विभिन्न प्रकार की चर्चा करने के पश्चात् प्रत्येक सजग स्वास्थ्य प्रेमी के मन में उनको नियन्त्रित करने की विधि जानने और समझने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

एक्यूप्रेशर मेरेडियन चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्तानुसार पैरों में स्थित मेरेडियनों में घुटनों और पैरों के अंगुलियों के बीच तथा हाथों में स्थित मेरेडियन में कोहनी और अंगुलियों के बीच इन पांचों ऊर्जाओं से संबंधित प्रत्येक मेरेडियन में पाँच दाब बिन्दु होते हैं। कोरियन डॉक्टर ई.वु. पार्क के अनुसार हथेली में तर्जनी और कनिष्ठिका शरीर के दोनों हाथों का तथा मध्यमा और अनामिका शरीर के दोनों पैरों का प्रतिनिधत्व करते हैं। अतः हाथ की अंगुलियों पर भी मेरेडियन का परोक्ष प्रभाव पड़ता है, जिन्हें बियोल मेरेडियन कहते हैं। बियोल मेरेडियन पर भी पाँचों ऊर्जाओं से संबंधित प्रतिवेदन बिन्दु होते हैं। चित्र में मात्र हाथ और पैर के प्रतिनिधि के रूप में बांये हाथ की तर्जनी और मध्यमा के दोनों तरफ विभिन्न बियोल मेरेडियनों पर स्थित ऊर्जा बिन्दु दर्शाये गये हैं। सभी यिन मेरेडियनों में इन ऊर्जाओं का क्रम अंगुलियों के अंतिम छोर से वायु , ताप, आद्रता, शुष्कता एवं ठण्डक के क्रम में होता है। सभी यांग मेरेडियनों में नाखून से हथेली के पीछे की तरफ ऊर्जा प्रतिवेदन केन्द्रों का क्रम शुष्कता, ठण्डक, वायु, ताप और आद्रता की ऊर्जा का होता है।

पंच ऊर्जाओं को संतुलित करने की विधि-

किसी रोग का उपचार करते समय बियोल मेरेडियन में स्थित पंच ऊर्जाओं के केन्द्रों को आवश्कतानुसार चयन कर उन्हें उठोरित अथवा शांत करने से संबंधित मेरेडियन में उस ऊर्जा को घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता है।

ऊर्जा बिन्दुओं को उत्पेरित करने का सरलतम तरिका बटन चुम्बक द्वारा होता है। चुम्बक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार पृथ्वी स्वयं विशाल चुम्बक होती है। अतः चुम्बक का वह भाग जो लटकाने पर पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की तरफ आकर्षित होता है, वह भाग उस चुम्बक का सक्रिय ध्रुव अथवा दक्षिणी ध्रुव होता है, तथा उसके विपरीत वाला उत्तरी ध्रुव होता है। ऊर्जा बिन्दु पर बटन चुम्बक का सक्रिय दक्षिणी ध्रुव भाग स्पर्श करने से संबंधित मेरेडियन में उस ऊर्जा की वृद्धि होने लगती है और उत्तरी ध्रुव स्पर्श करने से ऊर्जा का प्रवाह कम होने लगता है।

जैसे लीवर और पित्ताशय की मुख्य ऊर्जा वायु होती है, अतः लीवर की वायु वाले बियोल मेरेडियन के प्रतिवेदन केन्द्र पर बटन चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव स्पर्श करने से लीवर को अधिक प्राण ऊर्जा मिलने लगती है तथा उत्तरी ध्रुव का स्पर्श करने से लीवर की प्राण ऊर्जा के प्रवाह को घटाया जा सकता है। इसी प्रकार पित्ताशय बियोल मेरेडियन के वायु के प्रतिवेदन पर बटन चुम्बक का दक्षिणी अथवा उत्तरी ध्रुव का स्पर्श करने से पित्ताशय में प्राण ऊर्जा के प्रवाह को बढ़ाया अथवा कम किया जा सकता है। इसी प्रकार हृदय-छोटी आंत और पेरेकार्डियन-ट्रीपल वार्मर की मुख्य ऊर्जा ताप को, स्पलीन-आमाशय की मुख्य ऊर्जा-आद्रता, फेंफड़े-बड़ी आंत की प्रमुख ऊर्जा-शुष्कता, एवं गुर्दे -मूत्राशय की प्रमुख ऊर्जा-ठण्डक को संबंधित प्रतिवेदन बिन्दुओं पर बटन चुम्बक के स्पर्श द्वारा घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता है। यह उपचार बहुत ही प्रभावशाली होता है। इसमें गलत उपचार की संभावना कम रहती है। अज्ञानवश यदि चिकित्सक गलत चुम्बक यानि विपरीत चुम्बक लगा देता है अथवा जो ऊर्जा शरीर में पहले से ही अधिक होती है और गलती से उसको बढ़ाने का प्रयास किया गया हो तो, तुरन्त रोगी को बैचेनी का अनुभव होने लगता है अथवा चक्कर आने लग जाते हैं। यह इंगित करता है कि शरीर को उस ऊर्जा की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार किसी प्यासे व्यक्ति को पानी के स्थान पर केरोसिन पिलाने पर वह तुरंत प्रतिक्रिया करता है, ठीक उसी प्रकार गलत चुम्बक लगाने पर मानसिक प्रतिक्रिया होती है। अतः उपचार करते समय चुम्बक लगाने के पश्चात् रोगी द्वारा किसी भी प्रकार की होने वाली प्रतिक्रिया की पाँच मिनट तक प्रतीक्षा करनी चाहिये।

जिस प्रकार प्यास समाप्त होने के पश्चात् पानी अच्छा नहीं लगता और यदि फिर भी पानी का क्रम चालू रखा जाये जाये तो उल्टी होने की संभावना रहती हैं। ठीक उसी प्रकार जब ऊर्जा संतुलित हो जाती है, और संबंधित अंग को और अधिक ऊर्जा की आवश्यकता नहीं होती, उस समय रोगी को पुनः बैचेनी होने लगती है, दर्द बढ़ने लगता है अथवा चक्कर आने लग जाते हैं। तब उन बटन चुम्बकों को ऊर्जा केन्द्रों से हटा लेना चाहिए।

अर्थात् बटन चुम्बकों का स्पर्श तब तक किया जा सकता है, जब तक रोगी को किसी प्रकार की बैचेनी, सिर में भारीपन आदि अनुभव न हो। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के उपचार की अवधि उसके शरीर में रोग के अनुसार एवं प्राथमिकता के अनुसार अलग-अलग होती है। उपचार करते समय उपचार से पड़ने वाले प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभावों के प्रति रोगी की सजगता आवश्यक होती है। साधारण स्थिति में बटन चुम्बक का प्रयोग एक स्थान पर एक समय में किसी भी रोग का उपचार करते समय, प्रायः एक घंटें से अधिक नहीं करना चाहिए। भले ही सिर में भारीपन अथवा बैचेनी न भी हो।

क्योंकि प्रत्येक अंग की प्रत्येक ऊर्जा एक साथ अनेकों कार्य करती है तथा अलग-अलग कार्यो के लिये पांचों ऊर्जाओं का अनुपात अलग-अलग होता है। जिससे उसका संतुलन प्रभावित हो सकता है। आवश्यकता होने पर कुछ अन्तराल के पश्चात् उसकी पुनरावृति की जा सकती है। परन्तु विशेष परिस्थितियों में चुम्बक स्पर्श की कोई अवधि निश्चित नहीं होती।

इस प्रकार इस चिकित्सा पद्धति में न तो गलत और न आवश्यकता से अधिक उपचार होने की संभावना रहती है। प्रत्येक रोगी का उपचार उसकी आवश्यकता और शारीरिक क्षमतानुसार होता है। जिससे उपचार से पड़ने वाले दुष्प्रभावों की संभावना नहीं रहती।

उपचार करते समय तालिका में बतलाये गये ऊर्जा को प्रवाहित करने वाले लक्षणों का पता लगाना चाहिये। जिस ऊर्जा असंतुलन संबंधी लक्षण स्पष्ट हों, उस ऊर्जा को संतुलित करने को प्राथमिकता देनी चाहिये। इसके अलावा शरीर के जिस भाग में रोग हो, उस क्षेत्र से गुजरने वाली मेरेडियन की मौसम, रोग तथा रोगी की आयुष्य से संबंधित ऊर्जाओं को संतुलन हेतु प्राथमिकता देनी चाहिये।

जब रोगी में रोग के साथ भावनात्मक लक्षण स्पष्ट प्रकट हों तो, शारीरिक रोग का उपचार करने के साथ-साथ हृदय मेरेडियन की संबंधित ऊर्जा को भी संतुलित करने से तथा जब मानसिक लक्षण प्रकट हों तो, मस्तिष्क मेरेडियन की संबंधित ऊर्जा को संतुलित करने से शीघ्र प्रभावशाली परिणाम आते हैं।

कभी-कभी एक से ज्यादा ऊर्जाओं का असंतुलन हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में सभी ऊर्जाओं को एक के बाद दूसरी संतुलित करना चाहिये। रोगों के उपचार हेतु बटन चुम्बक लगाने के लिये आवश्यक प्रतिवेदन केन्द्रों का चयन कैसे करें? उस हेतु चन्द रोगों के उपचार का नीचे वर्णन किया जा रहा है।

पंच ऊर्जाओं का असंतुलन और रोग की अवस्था

ऊर्जा से ही हमारे जीवन की समस्त गतिविधियों का संचालन नियन्त्रण होता है। अतः प्रत्येक रोग में ऊर्जा असन्तुलन की मुख्य भूमिका होती है। रोग के अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु असंतुलन से पड़ने वाले प्रभावों में कौनसी ऊर्जा की भूमिका होती है, यदि उस ऊर्जा के प्रभाव को संतुलित कर दिया जाये, तो रोग में तुरन्त राहत मिल सकती है। जिस प्रकार कोई नोसिखिया वाहन चालक गाड़ी को नियन्त्रित न रख सके, तो भी आवश्यकता पड़ने पर ब्रेक लगाकर उस गाड़ी को रोक तो सकता ही है, जिससे वाहन दुर्घटनाग्रस्त होने और अन्य खतरों से तो बच सकता है।

किसी व्यक्ति को कंपन आते हैं, कंपकंपी लगने लगती है। चक्कर आने लगते हैं। ये सारे कारण वायु ऊर्जा की अधिकता के सामान्य दृष्टि से लगते हैं। अतः शरीर में संबंधित भाग की वायु ऊर्जा को किसी भी विधि द्वारा कम किया जा सके तो, कितना भी पुराना कंपन क्यों न हो, बन्द हो जाता है। क्योंकि बिना वायु की अधिकता कंपन, कंपकंपी अथवा चक्कर आ नहीं सकते। नल में पानी कितने ही दिनों से गिर रहा हो, परन्तु जैसे ही नल को बंद करते है, पानी का गिरना रूक जाता है। बल्ब कितने ही समय से जल रहा हो, यदि उसमें बिजली का प्रवाह बंद कर दिया जाये तो तुरन्त बल्ब प्रकाश देना बंद कर देता है। पानी पीते ही प्यास शांत हो जाती है। ब्रेक लगाते ही गाड़ी रूक जाती है। स्वीच ऑफ करते ही बिजली का प्रवाह बन्द हो जाता है। ठीक उसी प्रकार असंतुलित ऊर्जा का आवश्यकतानुसार संतुलित करने पर रोग से तुरन्त राहत मिलती है।

किसी व्यक्ति को निद्रा में खर्राटें आते हों, यदि उस व्यक्ति की सोते समय मस्तिष्क की वायु ऊर्जा को कम कर दी जाये तो खर्राटे आना, उसी दिन से कम होने लग जाते हैं। भले ही वह कितने ही पुराना खर्राटों का रोगी क्यों न हों?

रक्त का संबंध ताप ऊर्जा से होता है और रक्त परिभ्रमण हेतु वायु ऊर्जा की आवश्यकता होती है। परन्तु बिना उष्णता और वायु ऊर्जा की वृद्धि रक्त चाप बढ़ नहीं सकता। अतः रक्त से संबंधित अंग हृदय की वायु और ताप ऊर्जा घटाने से उच्च रक्त चाप कम और बढ़ाने से निम्न रक्त चाप बढ़ने लगता है।

पेट्रोल के बिना जैसे गाड़ी चल नहीं सकती, ठीक उसी प्रकार उल्टियाँ आमाशय में और दस्तें बड़ी आंत में पानी की वृद्धि बिना हो नहीं सकती। वायु के बिना गति संभव नहीं होती। अतः आमाशय की यदि वायु और नमी, कम करने से उल्टियाँ और बड़ी आंत में घटाने से दस्ते बंद हो जाती है।

जैन संत रात में पानी नहीं पीते। परन्तु यदि कभी किसी कारण रात में प्यास से बैचेनी हों तो क्या करें ? शरीर में 70 प्रतिशत के लगभग पानी होता है। मात्र आमाशय में पानी की कमी से प्यास लगती है। अतः प्यास लगने की स्थिति में आमाशय की आद्रता बढ़ा दी जाये तो प्यास की अनुभूति दूर हो जाती है।

जब तक इन्द्रियों के किसी भी विषय में रुचि होती है अथवा मन लगा रहता है तो प्रायः निद्रा नहीं आती। मानसिक ऊर्जा का संबंध मस्तिष्क की गर्मी से होता है और विचारों का प्रवाह वायु बिना हो नहीं सकता। अतः ऐसे व्यक्तियों के सोते समय मस्तिष्क की गर्मी और वायु को कम कर दी जाये तो, चिन्तन बन्द होते ही निद्रा आने लगती है। अनिद्रा के समय व्यक्ति अनायास चिन्तन करता है, जिसका कारण मस्तिष्क की आर्द्रता में वृद्धि। अतः जो व्यक्ति कुछ न कुछ सोचते रहते हैं उनकी सोते समय मस्तिष्क की नमी घटाने से निद्रा आने लगती है।

सारी चर्चा का सारांश यही है कि हम रोगों के नामों और लम्बी चोड़ी व्याख्याओं में न उलझे, परन्तु इस बात का अनुभव करें कि शरीर के रोग ग्रस्त भाग में कौनसी ऊर्जा अधिक हो गई है। यदि उस ऊर्जा को संतुलित कर लिया जाता है तो प्राण ऊर्जा के प्रवाह में आया अवरोध दूर हो जाता है। उस अंग में प्राण ऊर्जा के प्रवाह से शक्ति आ जाती है और असाध्य संक्रामक और पुराने समझे जाने वाले रोग तुरन्त ठीक होना प्रारम्भ हो जाते हैं। परन्तु हम रोग का निदान करते समय प्रायः उससे पड़ने वाले अन्य प्रभावों की पूर्ण उपेक्षा करते हैं।

पंच ऊर्जाओं का आपसी संबंध-

शरीर में सभी प्रमुख ऊर्जाओं का उत्पादन और नियन्त्रण, अलग-अलग व्यवस्थाओं में उनका अनुपात, निश्चित् सिद्धान्तों पर आधारित होता है। प्रत्येक ऊर्जा किसी अन्य ऊर्जा की उत्पति में सहायक होती है, तथा किसी दूसरी ऊर्जा को नियन्त्रित करती है और स्वयं किसी तीसरी ऊर्जा द्वारा नियन्त्रित होती है। गर्मी से आद्रता बढ़ती है। जिसका प्रभाव पसीने के रूप में स्पष्ट देखा जा सकता है। वायु हलन-चलन में सहायक है। संकोचन (शुष्कता) उसको नियन्त्रित रखती है। पांचों ऊर्जाओं के आपसी उत्पादन और नियन्त्रण सम्बन्धों को चित्र तथा निम्न तालिका के माध्यम से सरलता पूर्वक समझा जा सकता है।

उपचार करते समय यदि किसी अंग की कोई ऊर्जा बढ़ाना हो तो, उसकी मुख्य मातृ ऊर्जा को उसके उत्पति में सहायक होती है, तथा मुख्य पुत्र ऊर्जा जिस ऊर्जा को वह ऊर्जा पैदा करती है, दोनों की मुख्य ऊर्जाओं को बढ़ाना चाहिये और यदि किसी अंग की ऊर्जा को घटाना हो तो मातृ एवं पुत्र दोनों की ऊर्जा को घटाना चाहिए। इसके साथ-साथ जिससे वह ऊर्जा नियन्त्रित होती है और ऊर्जा जिसको, वह नियन्त्रित करती है, उस ऊर्जा को मुख्य ऊर्जा की आवश्यकता के विपरीत घटाना अथवा बढ़ाना चाहिए।

शरी में मास्टर एवं नियंत्रक बियोल मेरीडियन की भूमिका-

पेरीकार्डियन (मस्तिष्क) एवं ट्रीपल वार्मर (मेरुदण्ड) शरीर की मास्टर मेरीडियन कहलाती है। अधिकांश रोगों का प्रारम्भ मस्तिष्क से होता है तथा उसकी अभिव्यक्ति में मेरुदण्ड की अहम् भूमिका होती है। अतः उपचार करते समय असंतुलित ऊर्जा के अनुरूप इन मेरेडियनों में ऊर्जा को बढ़ाने अथवा घटाने से मुख्य

ऊर्जा का असंतुलन जल्दी दूर हो जाता है। यिन अंगों (यकृत, हृदय, गुर्दे, तिल्ली, फेंफड़ों) के साथ-साथ मस्तिष्क में तथा यांग अंगों (आमाशय, मूत्राशय, पित्ताशय, छोटी आंत, बड़ी आंत) के साथ-साथ मेरुदण्ड बियोल मेरीडियन की उसी ऊर्जा को घटाना अथवा बढ़ाना चाहिये, जिससे शरीर में रोग शमन की क्षमता बढ़ जाती है।

शरीर के बीचो बीच आगे और पीछे की तरफ दो मेरेडियन प्रवाहित होती है। आगे के भाग में गुजरने वाली मेरेडियन को कनेशेपशन वेशल (सी.वी.) अथवा रेन तथा पीछे के भाग में प्रवाहित होने वाली मेरेडियन को गवरनिंग वेशल मेरेडियन (जी.वी) अथवा डू मेरेडियन कहते हैं। जिनकी बियोल मेरेडियन अंगूठे में होती है। सी. वी. (रेन) मेरेडियन यिन अंगों और जी.वी. (डू) मेरेडियन यांग अंगों के बीच संतुलन रखती है। अतःउपचार करते समय सी.वी. अथवा जी.वी. बियोल मेरेडियन की संबंधित ऊर्जा को घटाया अथवा बढ़ाया जाये तो, शरीर में रोग निवारण क्षमता और अधिक बढ़ जाती है।

असाध्य रोगों के उपचार हेतु आवश्यक दिशा-निर्देश-

उपचार करते समय चिकित्सक अथवा रोगी को सर्व प्रथम यह मालूम करना चाहिये कि उस रोग से संबंधित कौनसी ऊर्जा में असंतुलन हुआ है। जैसे किसी व्यक्ति के घुटनों में दर्द है, इसका मतलब घुटनों में हलन-चलन बराबर नहीं होता। अतः दर्द वाले स्थान के समीप गुजरने वाली मेरेडियन की यदि वायु ऊर्जा को बढ़ा दिया जाये और शुष्क और ठण्डक ऊर्जा को कम कर दिया जाये तो, घुटनों में हलन-चलन होने लगता है। किसी व्यक्ति को त्वचा संबंधी रोग है। त्वचा का रंग बदल गया है। त्वचा शुष्क ऊर्जा से अधिक प्रभावित होती है। अतः उस स्थान के समीप गुजरने वाली मेरेडियन की शुष्क ऊर्जा और वायु ऊर्जा को संतुलित करने से अच्छे परिणाम आते हैं।

किसी व्यक्ति को मधुमेह का रोग है। जिसका कारण पेन्क्रियाज बराबर कार्य नहीं करता। पेन्क्रियाज स्पलीन से संबंधित है। अतः स्पलीन की मुख्य ऊर्जा (आद्रता) बढ़ाने से मधुमेह को नियन्त्रित किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को हृदय, लीवर, गुर्दे अथवा अन्य किसी अंग से संबंधी रोग हो तो, संबंधित अंग की मुख्य ऊर्जा को नियन्त्रित कर उस अंग की क्षमता को बढ़ाया अथवा घटाया जा सकता है। यदि कोई अंग अथवा उपांग निष्क्रिय हो जाता हो तो, उससे संबंधित बियोल मेरेडियन की शुष्क और ठण्डक ऊर्जा को कम कर ताप ऊर्जा को बढ़ाने से रोग ग्रस्त भाग में चेतना की सक्रियता बढ़ने से अपेक्षित लाभ मिलता है। यदि किसी व्यक्ति के मूत्र संबंधी रोग हों, जैसे मूत्र का रुक-रुक कर आना, मूत्र न आना, मूत्र को न रोक पाना, निद्रा में पेशाब आ जाना आदि। ऐसी परिस्थितियों में मूत्राशय की आद्रता और वायु ऊर्जा को आवश्यकतानुसार संतुलित करने से रोग मुक्त हो सकते हैं।

कभी-कभी रोगी के पेशाब में रक्त आने लगता है। रक्त नियन्त्रण ताप ऊर्जा से होता है। अतः यदि मूत्राशय बियोल मेरेडियन की ताप ऊर्जा को कम कर दिया जाये, तो मूत्र के साथ रक्त आना बंद हो जाता है। परन्तु आधुनिक चिकित्सक उसका मूल कारण न खोज पाने के कारण गुर्दे जैसे आवश्यक अंग को शल्य चिकित्सा द्वारा निकालने में भी संकोच नहीं करते और रोगी को जीवन भर के लिये अशक्त बना देते हैं।

प्रमुख ऊर्जा असंतुलन जानने का सरल ढंग–

पुराने अथवा संक्रामक रोगों में प्रायः ऊर्जा असंतुलन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। रोगी की हथेली को अपने हाथ से स्पर्श कर अनुभव करें:–

1. यदि रोगी की हथेली ठण्डी है तो, समझना चाहिये की रोगी में ठण्डक ऊर्जा की अधिकता है।
2. यदि रोगी की हथेली गरम है तो, समझना चाहिये कि रोग का कारण ताप ऊर्जा की अधिकता से है।
3. यदि हथेली में पसीना अधिक आता हो तो, रोग का प्रमुख कारण नमी ऊर्जा का असंतुलन होता है।
4. यदि रोगी की हथेली शुष्क हो, त्वचा रुक्ष हो तो, शरीर में शुष्क ऊर्जा अधिक होने का संकेत है।
5. यदि शरीर में कंपकंपी का अनुभव हो, अनावश्यक हलन–चलन हो अथवा उपरोक्त चारों स्थितियां न हों तो रोग का कारण प्रायः वायु ऊर्जा का असंतुलन होता है। यदि किसी भी विधि द्वारा उन ऊर्जाओं को संतुलित कर स्थिति बदल दी जाये तो रोग सरलता से दूर हो सकता है।

शरीर में संचालक अंग की भूमिका–

लगभग एक मास तक ब्रह्माण्ड से प्रत्येक अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक होता है। मनुष्य की जन्म तिथि के समय जिस अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह प्रकृति से सर्वाधिक होता है, उससे संबंधित अंग ही प्रायः उस व्यक्ति का प्रमुख संचालक अंग होता है। जब तक वह अंग पूर्ण रुपेण स्वस्थ रहता है, अन्य रोग उसे मृत्यु तक नहीं पहुंचा सकते। परन्तु उस अंग में प्राण ऊर्जा का असंतुलन काफी हानिकारक हो सकता है। मनुष्य की मृत्यु का कारण भी प्रायः उस अंग में प्राण ऊर्जा के प्रवाह का असंतुलन ही होता है।

इसी कारण किसी व्यक्ति की मृत्यु हृदय रोग से होती है तो कोई गुर्दे, लीवर, फेंफड़े, तिल्ली आदि के रोगों से मरण को प्राप्त होता है। चन्द व्यक्ति प्रथम हृदय आग्रात में ही चले जाते हैं, क्योंकि उनका संचालक अंग हृदय ही होता है। परन्तु बहुत से व्यक्ति तीन चार बार हृदय आघात आने के पश्चात् भी बच जाते हैं, क्योंकि उनका संचालक अंग दूसरा होता है। मृत्यु के समय सबसे पहले संचालक अंग अपना कार्य करना बन्द करता है, उसके पश्चात् हृदय तथा अन्य अंग। जिस प्रकार सेनापति के हारते ही सेना हार जाती है, उसी प्रकार संचालक अंग की शरीर में प्रभावी भूमिका होती है। अतः जब रोगी मूर्च्छित हो जाये अथवा उसके रोग का निदान संभव न हो, तब तक सर्वप्रथम संचालक अंग को, ठीक करने को प्राथमिकता देनी चाहिये। साथ ही किसी भी रोग का उपचार करते समय संचालक अंग के संतुलन का विशेष ख्याल रखना चाहिये, जिससे उपचार अधिक प्रभावशाली हो जाता है। अमेरिका के डॉ. ब्लेट के अनुसार शरीर की बारह प्रमुख मेरेडियनों में लगभग एक मास तक प्रत्येक मेरेडियन में अन्य मेरेडियनों की अपेक्षा प्राण ऊर्जा का प्रवाह अधिक होता है। पृथ्वी एक साल में सूर्य का पूरा चक्कर लगा लेती है। पृथ्वी की सूर्य से अलग–अलग दूरी के अनुसार ही मौसम बनते हैं और पंच ऊर्जाओं को घटाते अथवा बढ़ाते है। इसी के अनुरूप पंच ऊर्जाओं से संबंधित अंगों की मेरेडियन में भी प्राकृतिक ऊर्जा का प्रवाह प्रभावित होता है, जिसका क्रम निम्नानुसार होता है।

	अंग का नाम	**अधिक ऊर्जा प्रवाहित होने का समय**
1.	यकृत मेरेडियन–	8 जनवरी से 6 फरवरी के लगभग
2.	फेंफड़े–	7 फरवरी से 8 मार्च के लगभग

3. बड़ी आंत– 9 मार्च से 8 अप्रेल के लगभग
4. आमाशय– 9 अप्रेल से 7 मई के लगभग
5. स्पलीन– 8 मई से 7 जून के लगभग
6. हृदय– 8 जून से 7 जुलाई के लगभग
7. छोटी आंत– 8 जुलाई से 7 अगस्त के लगभग
8. मूत्राशय मेरेडियन– 8 अगस्त से 7 सितम्बर के लगभग
9. गुर्दा– 8 सितम्बर से 7 अक्टूबर के लगभग
10. पेरिकार्डियन– 8 अक्टूबर से 7 नवम्बर के लगभग
11. त्रिअग्नि– 8 नवम्बर से 7 दिसम्बर के लगभग
12. पित्ताशय– 8 दिसम्बर से 7 जनवरी के लगभग

उपरोक्त तालिका सर्वत्र एक समान नहीं होती। स्थानीय भोगोलिक परिस्थितियों के अनुसार समय में आंशिक परिवर्तन हो सकता है। अत इसे मात्र मार्गदर्शक के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

उपरोक्त तालिका के अनुसार यदि किसी व्यक्ति की जन्मतिथि एक ही समूह के यिन-यांग अंगों के बीच में होती है जैसे- 8 (जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, सितम्बर और नवम्बर) के आसपास का समय तब तो निश्चित रूप से उसी ऊर्जा का असंतुलन व्यक्ति के मृत्यु का मुख्य कारण होता है।

परन्तु यदि जन्मतिथि दूसरे समूह के यिन-यांग के आसपास होती है, जैसे 8 (फरवरी, अप्रेल, जून, अगस्त, अक्टूबर, दिसम्बर) तब प्रमुख संचालक अंग को मालूम करने के लिये दोनों अंगों के प्रभाव का आंकलन करना पड़ता है। प्रारम्भ के दिनों में उस ऊर्जा का प्रभाव बढ़ता है, जो अधिकतम स्थिति तक पहुंच पुनः कम होते हुए क्रम में अगली मेरेडियन में बढ़ने लगता है। कहने का तात्पर्य यहीं है कि, जिस समय जिस अंग में प्राण ऊर्जा का विशेष प्रवाह होता है, उस समय शरीर की गतिविधियों में उस अंग की प्रभावशाली भूमिका होती है। अतः संचालक अंग के साथ-साथ उस अंग की ऊर्जा असंतुलन को भी प्राथमिकता देनी चाहिए। सभी मौसमी रोगों का मुख्य कारण उस समय प्रवाहित होने वाली प्राण ऊर्जा का प्रायः असंतुलन ही होता है।

असाध्य रोगों का सरल उपचार–

शरीर में ऊर्जाओं का असंतुलन रोगों का मुख्य कारण है। साधारण रोगों में शरीर की पांच मुख्य ऊर्जाओं में से किसी एक ऊर्जा असंतुलन के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं। बाकी अन्य ऊर्जाओं के असंतुलन से पड़ने वाले लक्षण परोक्ष में रहते है। जो प्रायः ध्यान में नहीं आते। अतः सुजोक बियोल मेरीडियन उपचार पद्धति में प्रमुख असंतुलित ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित करने मात्र से रोग में तुरन्त राहत मिल जाती है। परन्तु जब रोग जन्मजात हो, पराना हो, संक्रामक एवं तीव्र हो, जिसके परिणाम स्वरूप शरीर का कोई अंग-उपांग अथवा अवयव बराबर कार्य न करता हो, अथवा रोग शल्य चिकित्सा की स्थिति तक पहुंच गया हो, उस समय शरीर में ऊर्जाओं के संतुलन का अनुपात अधिक बिगड़ जाता है। उस स्थिति में रोग की अवस्था के अनुसार यदि प्रमुख असंतुलित ऊर्जा के संतुलन के साथ-साथ अन्य सहायक एवं नियन्त्रित करने वाली ऊर्जाओं को भी संतुलित कर दिया जाये तो पुराने हठीले रोगों का उपचार बहुत ही सरल हो जाता है। कभी-कभी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता भी

नहीं रहती। ऊर्जा संतुलन द्वारा शरीर में आये अवरोधों को दूर किया जा सकता है। रक्त संचार सुव्यवस्थित एवं नियन्त्रित किया जा सकता है। शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमताओं को बढ़ाया जा सकता है। अंगों की अनावश्यक वृद्धि को रोका जा सकता है। शरीर में विजाती तत्त्वों का जमा होने से यदि कोई गाँठ बनती है तो, इस पद्धति उसको तोड़ा जा सकता है। बिखेरा जा सकता है। गलाया जा सकता है। संकुचित किया जा सकता है। परन्तु एक बार शल्य चिकित्सा करवाने के पश्चात् इस प्रभावशाली उपचार पद्धति की भी सीमाएँ बढ़ सकती हैं। अतः यथा संभव शल्य चिकित्सा से बचना ही स्थायी स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यक है।

उपचार करते समय अंग की जिस ऊर्जा को कम करना हो उसके साथ उसके मास्टर एवं नियन्त्रिक मेरेडियन की भी ऊर्जा को कम करना चाहिये तथा उसमें संबंधित मातृ एवं पुत्र ऊर्जा के संबंधित मुख्य अंग की मुख्य ऊर्जा को घटाना तथा नियन्त्रक अंग की मुख्य ऊर्जा को बढ़ाना चाहिए। यही सिद्धान्त किसी ऊर्जा को बढ़ाते समय अपनाना चाहिए।

संक्रामक एवं पुराने रोगों में विभिन्न रोगियों की शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन एक जैसा नहीं होता। पूर्व में वर्णन किये गये चन्द उपचार तो जनसाधारण के मार्ग दर्शन हेतु बताये गये हैं, ताकि उन्हें अपने शरीर की क्षमताओं का आभास हो सके। शरीर में सभी रोगों को ठीक करने की अभूतपूर्व क्षमता है। अतः जीवन भर दवाओं के आधार पर जीवन चलाना रोगी की मानसिक दुर्बलता का प्रतीक है। कभी-कभी रोग में बिल्कुल विपरीत ऊर्जाओं के असंतुलन के लक्षण प्रकट होते हैं। अतः उपचार करते समय अनुभवी चिकित्सकों का मार्गदर्शन लेने से उपचार स्थायी एवं प्रभावशाली हो सकता है। जीवन भर दवाओं पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं रहती। कौनसी ऊर्जा को कितने समय के लिये बढ़ाना अथवा घटाना चिकित्सक के विवके तथा रोगी द्वारा उपचार से पड़ने वाले सूक्ष्मतम परिवर्तनों की अभिव्यक्ति पर निर्भर करता है। उपचार की यह विधि इतनी सरल, सहज, कष्ट रहित, सस्ती पूर्ण अहिंसक, दुष्प्रभावों रहित, स्वावलम्बी है कि बिना शारीरिक अंगों की विस्तृत जानकारी साधारण जिज्ञासु भी, जो स्वावलम्बी जीवन जीना चाहे तो चन्द दिनों में सरलता पूर्वक सीख सकता है। स्वयं को शारीरिक रोगों से स्वस्थ रख सकता है।

पंच ऊर्जाओं का भावात्मक और मानसिक स्तर पर प्रभाव

रोग का प्रारम्भ मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्क में जैसे विचार, सोच, चिन्तन होता है, उसी के अनुरूप हमारे भाव, स्वभाव और संस्कारों का निर्माण होता है। जैसे संस्कार होते हैं, वैसे ही संवेगों के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे संवेग अथवा आवेग होते हैं, उन्हीं के अनुरूप संबंधित अंग और मेरेडियन को गतिशील होना पड़ता हैं और उसके अनुरूप बाह्य रूप से हमारा शरीर कार्य करता है। यदि सभी स्तर पर व्यक्ति संतुलित होता है तो उसे पूर्ण स्वस्थ कहते हैं। परन्तु इन चारों स्तरों पर जितना अधिक असंतुलन अथवा क्षमताओं और शक्ति का अपव्यय एवं दुरुपयोग होता है, तो रोग उत्पन्न होने लगते हैं। जिस स्तर पर रोग अथवा असंतुलन होता है, उसी स्तर पर उपचार करने से उपचार जल्दी हो जाता है।

दूसरी बात प्रत्येक स्तर पर असंतुलन अन्य स्तरों को भी असंतुलित करता है। शरीर का तालमेल समाप्त होने लगता है। उपचार रोग के जितने प्राथमिक अथवा मूल स्तर पर होता है, उतना अधिक स्थायी और प्रभावशाली होता है। जैसे- तनाव, क्रोध, भय आदि के आवेगों से रक्तचाप होता है। अतः यदि उन्हीं आवेगों को

दूर कर दिया जाये तो, रोग के कारण ही नष्ट हो जाते हैं। अधिकांश चिकित्सा पद्धतियां प्रायः शारीरिक और ज्यादा से ज्यादा आन्तरिक मेरेडियन स्तर पर उपचार करती है। कभी-कभी दुर्घटना अथवा असाध्य रोगों में शारीरिक स्तर पर उपचार की भी प्राथमिकता हो सकती है। अतः रोग के मूल कारणों को समझ, जिस स्तर का रोग हो, उस स्तर पर रोग मुक्ति के लिए उपचार आवश्यक होता हैं।

शरीर में रोग चाहे मानसिक स्तर का हो अथवा भावात्मक या शारीरिक, पंच तत्त्वों की विभिन्न मेरेडियन में प्रवाहित होने वाली ऊर्जा असंतुलित होने लगती है। यद्यपि रोग अथवा अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग प्रतिक्रियाओं द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अपना प्रभाव दिखलाते हैं, फिर भी एक स्तर, दूसरे स्तर को प्रभावित करता है। हमारी अधिकांश प्रमुख गतिविधियों का संचालन मस्तिष्क से होता है। हमारी सारी प्रवृत्तियों का कारण हमारा चिन्तन, सोच विचार होता है। शारीरिक क्रियाएँ मस्तिष्क के निर्देशानुसार होती है। प्रायः अधिकांश रोगों की उत्पत्ति मानसिक स्तर पर होती है। जो हमारे भावों को प्रभावित करती है। परिणामस्वरूप अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ भावों के अनुरूप स्रावों और हारमोन्स का निर्माण करती है और वे स्राव प्राण तत्त्व के रूप में प्रवाहित हो, अंगों एवं उपांगों की गतिविधियों को प्रभावित करते हैं। अतः उपचार जितने उच्च स्तर का होता है, उतना अधिक प्रभावशाली एवं स्थायी होता है।

आवेगों तथा संवंगों का विभिन्न अंगों पर प्रभाव-

प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अलग-अलग होता है। उसी के अनुरूप उसमें आवेग अभिव्यक्त होते हैं। रोग पैदा करने वाले आवेंगों को मुख्यतया पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है। जिनकी अभिव्यक्ति चेहरे, आंखों और वाणी द्वारा प्रायः हो जाती है। आवेग से सर्वाधिक हृदय और उसका यांग अंग छोटी आंत प्रभावित होता है। अशंकालीन आवेगों से पड़ने वाले छोटी आंत के प्रभावों को चित्र में दर्शाया गया है।

1. क्रोध, 2. निराशा, 3. संताप (तनाव), 4. दुःख, 5. भय

उपरोक्त सभी आवेगों का नियन्त्रण शरीर की ऊर्जा से ही होता है। अतः उसमें संतुलन कर स्वभाव को बदला जा सकता हैं।

यिन-यांग सिद्धान्त के अनुसार पांचों प्रकार की ऊर्जाओं से प्रभावित होने वाले चिन्तन, सोच, आवेग और भावों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजीत किया जा सकता है। एक तो ऐसे आवेग अथवा सोच जो व्यक्ति में संस्कार बन स्थायी हो जाते हैं। उनसे संबंधित रोगों का संबंधित यिन अंगों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु दूसरे ऐसे आवेग अथवा सोच जो भले ही अल्पकालीन हों अपना प्रभाव तुरन्त दिखलाते हैं, अतः उनकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे रोगों से संबंधित यांग अँगों की ऊर्जा प्रायः असंतुलित होती है।

यिन आवेग- अर्थात् जो साधारण परन्तु प्रायः स्वभाव के रूप में स्थायी अथवा दीर्घकालीन होते हैं।

यांग आवेग- अर्थात् जो तीव्र, कभी-कभी परन्तु अल्पकालीन होते हैं।

पंच तत्त्व की तालिका के अनुसार प्रत्येक तत्त्व का एक यिन-यांग और एक यांग अंग होता है। यिन आवेग यिन अंगों को तथा यांग आवेग यांग अंगों को पहले असंतुलित करते हैं। अतः संबंधित अंगों की असंतुलित ऊर्जा को संतुलित कर आवेगों को नियन्त्रित कर स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है। जो अन्य चिकित्सा पद्धतियों में संभव नहीं होता है।

यिन क्रोध (क्रोधी स्वभाव)-

जो क्रोध लम्बे समय तक रहता है, परन्तु बहुत तीव्र नहीं होता। परन्तु व्यक्ति में उसकी बार-बार अभिव्यक्ति होती रहती है। लोक भाषा में हम ऐसे व्यक्ति को क्रोधी स्वभाव वाला कहते हैं। उसकी जड़े गहरी होती है तथा नियमित अभ्यास एवं सजगता से ही उसको रोका जा सकता है। क्रोध का पूर्वाभास हो जाता है। क्रोध का वायु ऊर्जा से सीधा संबंध होता है। क्रोध में मांसपेशियां सक्रिय हो जाती है। क्रोध विवेक को घटाता है। क्रोध का कारण वायु ऊर्जा की अधिकता और विवेक का संबंध नमी ऊर्जा से होता है। ऊर्जा सिद्धान्त के अनुसार भी वायु के बढ़ने से नमी घटती हैं। लीवर, स्पलीन (तिल्ली) को नियन्त्रित करता है। अतः जो क्रोधी स्वभाव के होते हैं, उनका लीवर और स्पलीन खराब होने की संभावना अधिक होती है। इसी कारण अधिकांश क्रोधी व्यक्ति दुबले पतले होते हैं। स्पलीन खराब हो जाने से रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है। अतः ऐसे व्यक्तियों के लीवर की वायु नियन्त्रित रखने से क्रोध से बचा जा सकता है।

क्रोध के प्रसंग उत्पन्न होने पर लीवर की शुष्कता और नमी आवश्यकतानुसार बढ़ाने अथवा वायु ऊर्जा को घटाने से क्रोधी स्वभाव को बदला जा सकता है। क्रोध और पीत्त का गहन संबंध होता है। पीत को उग्र करने वाले तामसिक पदार्थो के सेवन से भी क्रोध अधिक आता है। अतः क्रोध के नियन्त्रण हेतु उपर्युक्त उपचार के साथ-साथ सात्त्विक खान-पान अत्यन्त आवश्यक है।

यांग क्रोध (अस्थायी तीव्र क्रोध)-

कभी-कभी साधारण शांत रहने वाले व्यक्तियों, जिनका क्रोधी स्वभाव न होने पर भी अल्पकालीन तीव्र क्रोध आ सकता है जो अधिक खतरनाक हो सकता है। ऐसे क्रोध का पूर्वानुमान भी नहीं लगाया जा सकता है। क्रोध की तीव्रता के कारण व्यक्ति अपना विवेक गंवा देता है। कभी-कभी तो हिंसक एवं क्रूर बन, तोड़-फोड़ या अकरणीय कार्य करते हुए भी संकोच नहीं करता। क्रोध में कभी-कभी दूसरों की हत्या तक कर देता है, अथवा कभी-कभी स्वयं भी आत्महत्या कर सकता है। अतः ऐसे व्यक्तियों को यथा संभव उत्तेजित नहीं करना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों के पित्ताशय की वायु को नियन्त्रित करने से तुरन्त क्रोध शांत हो जाता है।

वायु ऊर्जा, नमी ऊर्जा को घटाती है और शुष्कता से नियन्त्रित होती है। नमी का संबंध विवेक और सजगता से होता है, तो शुष्कता का संबंध दुःख के आवेग से। रोने से अथवा विवेक जागृत होने से क्रोध पर सरलता से नियन्त्रण किया जा सकता है।

यिन निराशा अथवा उतावलपन-

प्रसन्नता के समय चेहरे पर मुस्कराहट अभिव्यक्त होती है। मुंह बंद रहता है। ऐसे व्यक्ति प्रायः तनावमुक्त होते हैं। वाणी में दुःख, भय, चिन्ता आदि की बहुत कम अभिव्यक्ति होती है। जब व्यक्ति की प्रसन्नता समाप्त हो जाती है तो, उसमें, निराशा, अधीरता अथवा हतोत्साह की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है, जिससे हृदय रोग होने की अधिक संभावना रहती है। ऐसे व्यक्तियों के हृदय की ताप ऊर्जा बढ़ाने से काफी लाभ होता है। प्रसन्नता जब बढ़ जाती है तो, व्यक्ति में संतोष आ जाता है। जिसका संबंध मस्तिष्क यानी पेरिकार्डियन से होता है। अतः जो व्यक्ति जीवन के प्रति निराश हो चुके हैं अथवा जिनके पति-पत्नी में आपसी संबंध संतोषप्रद नहीं होते, यदि उनके

पेरिकार्डियन अथवा उसके सहयोगी अंग मेरु दण्ड की आवश्यकतानुसार गर्मी ऊर्जा संतुलित कर दी जाये, तो चमत्कारी परिणाम आ सकते हैं।

यांग (अत्यधिक) निराशा या उतावलापन–

ऐसे व्यक्तियों को बहुत ज्यादा खुशी अथवा निराशा पैदा करने की बात एक दम नहीं कहनी चाहिये अन्यथा खुशी अथवा निराशा के अत्यधिक अनियन्त्रित आवेग के कारण व्यक्ति की कभी–कभी मृत्यु तक हो सकती है। बहुत से व्यक्ति बहुत अधीर होते हैं। ऐसे स्वभाव में परिवर्तन हेतु छोटी आंत की शुष्कता तथा मूत्राशय की ठण्डक आवश्यकतानुसार बढ़ानी चाहिये, जिससे अधीरता का आवेग मंद पड़ने लगता है।

यिन (दीर्घकालीन) संताप/तनाव–

ऐसे स्वभाव वाले प्रत्येक बात को बड़ी गम्भीरता से सोचते हैं। साधारण प्रतिकूल परिस्थितियों में भी तनावग्रस्त तथा बिना बात परेशान रहने से उनको गहरी निद्रा आने में बहुत कठिनाई होती है। ऐसे व्यक्तियों के तिल्ली संबंधी रोग (मधुमेह, एलर्जी, रक्त की खराबी आदि) होने की अधिक संभावना रहती है। इस आवेग का संबंध नमी ऊर्जा से अधिक होता है। अतः जिन व्यक्तियों को निद्रा आने में कठिनाई हों, उनके मस्तिष्क की आर्द्रता बढ़ाने से विवेक और सजगता उत्पन्न होने से अच्छे परिणाम आते हैं। जो सदैव तनावग्रस्त रहते हैं, उनके स्पलीन की, आर्द्रता बढ़ानी चाहिये और ठण्डक ऊर्जा कम करनी चाहिये।

यांग (तीव्र) संताप–

जिस तनाव का पूर्वाभास न हो, परन्तु यदि थोड़े समय के लिए भी अत्यधिक तीव्रता से आता हो तथा, ऐसा व्यक्ति यदि जीवन से उब चुका हो तो, व्यक्ति अपना आत्मविश्वास खो देता है। कभी–कभी तो आत्महत्या करने तक तैयार हो जाता है। व्यक्ति को उस स्थिति में खाना–पीना, मौज–शौक कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तिल्ली–आमाशय की नमी ऊर्जा को संतुलित करने से ऐसी परिस्थितियों को दूर किया जा सकता है।

यिन (दीर्घकालीन) दुःख–

ऐसे व्यक्ति हमेशा अपने दुःख का रोना रोता रहता है। पुरानी दुःखद घटनाओं की स्मृति होते ही दुःखी होने लगता है। उसका चित्त प्रायः नकारात्मक भावों वाला होता है। जिसकी अभिव्यक्ति चेहरे से स्पष्ट झलकती है। फेंफड़े की शुष्कता कम करने तथा ताप ऊर्जा बढ़ाने से स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है।

यांग (अस्थायी तीव्र) दुःख–

किसी निकट परिजन की मृत्यु अथवा वियोग से व्यक्ति फूट–फूट कर रोकर अपने दुःख की अभिव्यक्ति करता है ऐसी परिस्थिति को तुरन्त सांत्वना की आवश्यकता होती है और कभी–कभी वियोग का दुःख असहनीय होने तथा भविष्य अन्धकारमय लगने से व्यक्ति आत्महत्या तक कर लेता है। आंसू व्यर्थ ही नहीं आते। वे हमारे शरीर से हानिकारक पदार्थों को बाहर निकाल कर शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक सिद्ध होते हैं, जो मानसिक तनाव, दुःख चिंता आदि की स्थिति में शरीर में बनते हैं। कभी–कभी ऐसी परिस्थितियों में न रोने के कारण अनेक रोग भी हो सकते हैं। तनाव से निपटने की व्यवस्थाओं में रोना भी एक है। तनाव के समय रोने के लिये मौके की तलाश रहती है। जैसे ही किसी ने कुछ कहा, अथवा सुना या देखा रोना आ जाता है। परिस्थिति से निपटने का दूसरा उपाय बड़ी आंत की शुष्कता घटाने तथा ऊष्णता बढ़ाने से तुरन्त आवेग शांत होने लगता है।

यिन (दीर्घकालीन) भय–

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी भय से प्राय: सदैव त्रस्त रहता है। किसी को अपने मान प्रतिष्ठा की सुरक्षा का भय होता है तो अपराधी को कानून विरुद्ध कार्य करने का, रोगी और वृद्धों को मृत्यु का। अधिकांश रोगों का असाध्य बनने का कारण व्यक्ति में निर्भयता का अभाव और मन ही मन भयभीत रहने की प्रवृत्ति होती है। भय की स्थिति में उपचार प्रभावशाली नहीं हो सकता। अपितु रोग बढ़ता ही रहता है। इसी कारण किसी भी रोगी को मारणांतिक रोग का पता लग जाने के पश्चात् भी नहीं बतलाना चाहिये। ऐसे स्वभाव वालों के गुर्दो की ठण्डक ऊर्जा घटाने व उष्णता बढ़ाने से व्यक्ति में निर्भयता बढ़ने लगती है।

यांग (तीव्र) भय–

यह अचानक होता हैं तथा व्यक्ति को बीमार बनाता है, जैसे– कर निरीक्षक को देख व्यापारी को, पकड़े गये अपराधी को पुलिस से, मायावी आचरण का भेद खुलने पर प्रतिष्ठित व्यक्ति को, इसी कारण अत्यधिक भयावह स्थिति में व्यक्ति को पेशाब तक आ सकता है। अत: ऐसे व्यक्तियों के मूत्राशय की ठण्डक ऊर्जा घटायी जावे और छोटी आंत की ताप ऊर्जा बढ़ायी जाये तो भय की स्थिति में आशातीत सुधार हो सकता है।

सारे यिन मेरेडियन का एक किनारा हृदय के आसपास होता हैं। अत: जिन व्यक्तियों में उपरोक्त आवेगों में से कोई आवेग की आदत अथव स्वभाव बन गया हो, उस स्थिति में, साथ में हृदय की ऊर्जा को भी संतुलित करने से अच्छे परिणाम जल्दी और अच्छे आते हैं। ठीक उसी प्रकार सारी यांग मेरेडियन का एक किनारा मस्तिष्क में अवश्य होता है। अत: अस्थायी तीव्र रोगों में मस्तिष्क मेरुदण्ड में संतुलन भी करना आवश्यक होता है।

ऊर्जाओं द्वारा मानसिक उपचार

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। जैसे उसके भाव होते हैं, वैसा ही विचार उसके मस्तिष्क में होने लगता है। कुछ विचार मौलिक होते हैं तो, कुछ मात्र इच्छाओं और कामनाओं तक ही सीमित होते हैं। कुछ विचार अपनी क्षमताओं के अनुरूप अपनी प्रवृत्तियों के प्रति सजग और सचेत करने वाले होते हैं। चन्द व्यक्तियों के विचार और धारणायें आसानी से नहीं बदलती। जबकि चन्द व्यक्तियों के विचारों में बुद्धि, विवेक और अनुभव का समावेश होता है।

यिन–यांग सिद्धान्त के अनुसार जब ये विचार दीर्घकालीन होते हैं तो, मस्तिष्क पेरीकार्डियन मेरेडियन को विशेष प्रभावित करते हैं। जबकि यदि वे अल्पकालीन होते हैं तो हमारे नाड़ी संस्थान और मेरु दण्ड से संबंधित मेरेडियन को अधिक प्रभावित करते है। इन दोनों मेरेडियन की वायु ऊर्जा मौलिक विचारों को, उष्ण ऊर्जा इच्छा अथवा कामनाओं को, नमी ऊर्जा विवेक और सजगता को, शुष्क ऊर्जा दृढ़ एवं स्थिर विचारों को तथा ठण्डक ऊर्जा बुद्धि और अनुभव को संतुलित रखती है।

अत: जैसी हमारी मानसिक स्थिति होती है, उसके अनुरूप पंच ऊर्जाओं का संतुलन कर मानसिक स्तर पर रोगों का प्रभावशाली ढंग से उपचार किया जा सकता है। जीवन की अलग–अलग अवस्थाओं में व्यक्ति अलग–अलग मानसिक स्तर पर जीता है। बचपन में उसका मन सहज और सरल होता है। अत: बच्चों के प्रश्नों में बड़ी मौलिकता होती है।

परन्तु जब वे थोड़े बड़े हो जाते हैं तो उन्हें अपने जीवन में कुछ करने अथवा बनने की भावना बलवन्ती होने लगती है। अतः उनके विचारों में कामनाएँ और इच्छाओं का बाहुल्य होता है। उसके बाद की अवस्था में जब अपनी योग्यता एवं क्षमताओं का पता चल जाता है, तो व्यक्ति जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक सजग, सतर्क एवं सचेत अवस्था में जीने लगता है। जो कुछ उसने विद्या का उपार्जन किया है, उसके अनुरूप व्यवसाय को चुनना और अपने-अपने क्षेत्र में अधिकतम विकास करना अथवा उपलब्धियाँ प्राप्त करना ही उसका प्रमुख मानसिक सोच होता है। फिर वह चाहे राजनैतिक क्षेत्र हो या व्यावसायिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र ही क्यों न हों? अपनी योग्यता के अनुरूप विकास करते-करते उसे जीवन की वास्तविकता का बोध होने लगता हैं। उसकी शारीरिक क्षमता क्षीण होने लगती है। अतः उसके विचारों में स्थिरता आने लगती है। अनायास कुछ पाने के लिए चारों तरफ विचारों की दौड़ समाप्त होने लगती है, और अंत में वृद्धावस्था आने से उसे मृत्यु सामने दिखाई देने लगती है। अतः वह प्रत्येक कार्य बहुत सोच समझ कर ही प्रायः करता है। यह तो एक साधारण नियम है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में उपलब्ध ऊर्जाओं के अनुरूप प्रत्येक अवस्था में उपर्युक्त सिद्धान्त के विपरीत भी सोच और मानसिकता हो सकती है। अतः सकारात्मक विचारों को बढ़ा और नकारात्मक विचारों को घटा संतुलित कर मानसिकता से सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। पेरिकार्डियन अथवा मेरुदण्ड की शुष्क ऊर्जा को आवश्यकतानुसार कम करने तथा उष्ण ऊर्जा को बढ़ाकर नियन्त्रण करने से सकारात्मक सोच विकसित किया जा सकता है।

1. यदि कोई व्यक्ति उदास अथवा चिन्तित रहता हो तो, मस्तिष्क की वायु बढ़ाने से उसको नये-नये मौलिक विचार आने लगेंगे और उदासी कम होने लगेगी।
2. बहुत से व्यक्ति रात में सोते समय भी कुछ न कुछ चिन्तन करते रहते हैं। फलतः उन्हें अनिद्रा का रोग हो जाता है। अतः ऐसे व्यक्तियों के सोते समय मस्तिष्क की नमी बढ़ा दी जाये तो उनके मस्तिष्क में सजगता विकसित होने से व्यर्थ चिन्तन समाप्त होने लगेगा और निद्रा आने लग जायेगी। परन्तु जिन व्यक्तियों को भय के कारण निद्रा न आती हो तो सोते समय मस्तिष्क मेरुदण्ड की आवश्यकतानुसार ठण्डक ऊर्जा को कम करने से अच्छे परिणाम मिलने लगते है। यांग मेरेडियनों का एक छोर मस्तिष्क क्षेत्र में होता है। अतः यांग ऊर्जाओं की अधिकता से अनिद्रा का रोग हो सकता है, जबकि यिन ऊर्जाओं की अधिकता से अधिक निद्रा आ सकती है। अतः अनिद्रा अथवा अतिनिद्रा का कारण मालूम कर उसको दूर करना चाहिये।
3. यिन व्यक्तियों की मतिभ्रम हो जाती है अथवा सोच नकारात्मक हो जाता है तो, मस्तिष्क की ताप ऊर्जा को घटाने से अच्छे परिणाम मिलने लगते हैं।
4. यदि कोई पागल हो जाता है, तो उसमें बुद्धि और विवेक का अभाव हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों के मस्तिष्क की ठण्डक ऊर्जा को बढ़ाने से लाभ मिलता है।
5. जो लोग धूम्रपान करते हैं अथवा दुर्व्यसनों का सेवन करते हैं, उनमें दृढ़ संकल्प शक्ति का अभाव होता है, अतः ऐसे व्यक्तियों के मस्तिष्क की शुष्क ऊर्जा को बढ़ाया जाये और ताप ऊर्जा को घटाया जाये तो संतोषप्रद परिणाम मिलते हैं।

6. जिन व्यक्तियों को भय अधिक लगता है, उनके मस्तिष्क की ठण्डक ऊर्जा को संतुलित अर्थात् कम करने से अच्छे परिणाम आते हैं।
7. यदि कोई व्यक्ति बहुत ज्यादा बोलता है तो उसका कारण उसके मस्तिष्क में ताप ऊर्जा अधिक होती है। अतः आवश्यकतानुसार उस ऊर्जा को कम करने से तुरन्त लाभ मिलता है।
8. यदि कोई व्यक्ति हकलाता है और वह बच्चा है तो उसमें वायु ऊर्जा का असंतुलन होता है और यदि वह व्यक्ति बड़ा हो तो भय के कारण ऐसी स्थिति हो सकती है। अतः ऐसे बच्चों के मस्तिष्क की वायु कम करने और बड़ों के मस्तिष्क की ठण्डक ऊर्जा कम करने से संतोषजनक परिणाम मिलते हैं।

इस प्रकार मस्तिष्क की ऊर्जाओं को संतुलित कर मानसिक रोगों पर सरलता पूर्वक प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण किया जा सकता है। मानसिक स्तर पर किया गया उपचार प्रायः अन्य स्तरों पर किये गये उपचार से अधिक प्रभावशाली एवं लाभकारी होता है।

दसवां अध्याय

ऊर्जा संतुलन से कषाय शमन

क्रोध, मान (अहं), माया (छल-कपट) और लोभ आदि चार कषाय वृत्तियां कहलाती है। इनके कारण आत्मा कर्म बन्धनों से विकृत हो जाती है। अपने परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने हेतु उनका पूर्ण क्षय आवश्यक होता है। प्रायः प्रत्येक साधना, उपासना और आराधना का उद्देश्य कषायों को कम कर समाप्त करने का होता है। कषाय की उपस्थिति में मन, मस्तिष्क और भावों की स्थिति विकार ग्रस्त होती है। लेश्या और नकारात्मक भाव प्रबल होते हैं।

कषाय का संबंध मन के भावों से होता है। स्वाध्याय, ध्यान एवं साधना की विविध पद्धतियों के निरन्तर अभ्यास एवं सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा उनको शमन किया जा सकता है। कषाय की अभिव्यक्ति शरीर एवं वाणी के माध्यम से होती है। प्रत्येक कषाय की परिस्थिति उत्पन्न होने पर व्यक्ति के मस्तिष्क की ऊर्जा असंतुलित होने लगती है, जो बाद में शरीर के विभिन्न तंत्रों को प्रभावित करती है। यदि शरीर के तंत्र उस समय मस्तिष्क का सहयोग न करें अर्थात् कोई प्रतिक्रिया न करे तो कषाय पर सरलता से नियन्त्रण रखा जा सकता है। कषाय के भाव मस्तिष्क में पैदा होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिये ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

अतः उनको संचालित एवं नियन्त्रित करने वाली अथवा सहयोग देने वाली ऊर्जाओं को किसी भी विधि द्वारा नियन्त्रित कर दिया जाए तो कषाय भावों में मन्दता आ सकती है। नियमित प्रयास, अभ्यास और विवेक पूर्ण सम्यक् आचरण से संस्कारों को बदला जा सकता है। कम से कम कषाय बढ़ाने वाली परिस्थितियों को पूर्वाभास होने की स्थिति में तो निम्न प्रयोगों से लाभ उठाया जा सकता है।

क्रोध का शमन-

जब विवेक की कमी होती है और मस्तिष्क में गर्मी बढ़ती है, तो क्रोध आने की संभावना रहती है। विवेक का संबंध नमी ऊर्जा से तथा गर्मी का संबंध ताप ऊर्जा से होता है। ताप ऊर्जा बढ़ने से शुष्क ऊर्जा कम होती है,

जिसके परिणाम स्वरूप वायु ऊर्जा बढ़ती है। दूसरी तरफ नमी ऊर्जा की कमी से भी वायु ऊर्जा बढ़ जाती है। मस्तिष्क में गर्मी और वायु के बढ़ने से ही क्रोध आता है। वायु बढ़ने से ही मांसपेशियों में उत्तेजना आती है। अतः मस्तिष्क की वायु और ताप ऊर्जा को बटन चुम्बक का उत्तरी ध्रुव (N.Pole) स्पर्श कर कम कर दिया जाए अथवा नमी ऊर्जा और शुष्क ऊर्जा को बढ़ा दिया जाए तो क्रोध आने की संभावना कम हो जाती है। क्रोध आने की परिस्थितियों में यह प्रयोग हमारे सोच और चिंतन को बदल देता है तथा हम क्रोध से बच सकते है।

अहं का दमन–

जब व्यक्ति को घमण्ड आता है तो व्यक्ति अपने आपको दूसरों से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ समझ बहुत प्रसन्न होने लगता है। जिससे उसकी ताप ऊर्जा बढ़ने लगती है। उत्साह और जोश की अभिव्यक्ति प्रमुख होने से जीवन की वास्तविकता का बोध गौण होने से दुःख और भय अस्थायी रूप से दब जाता है। अर्थात् मस्तिष्क की ठण्डक और शुष्क ऊर्जा कम हो जाती है। अतः अहं अथवा घमण्ड का प्रसंग उपस्थित होने की संभावना वाली परिस्थितियों से पूर्व यदि मस्तिष्क की शुष्कता और ठण्डक बढ़ा दी जाए अथवा ताप ऊर्जा को कम कर दिया जाये तो अहं कम हो सकता है। मस्तिष्क में अहं के दुष्प्रभावों का चिंतन प्रारम्भ हो जाता है। उसका भय अहं पर ब्रेक लगाने का कार्य करता है।

माया का विसर्जन–

मायावी व्यक्ति को सदैव इस बात का डर रहता है कि कहीं उसकी पोल न खुल जाए। अर्थात् उस स्थिति में व्यक्ति की प्रायः ठण्डक ऊर्जा बढ़ने की संभावना रहती है। ठण्डक ऊर्जा नमी से नियन्त्रित होती है और ताप ऊर्जा को नियन्त्रित करती है। अतः मस्तिष्क की नमी और ताप ऊर्जा को संतुलित रखा जाए तो मनुष्य में विवेक जागृत होने से कपट, छल, मायावी आचरण बुरा लगने लगता है और माया कषाय मंद होने लगती है।

लोभ का प्रभाव–

लोभी व्यक्ति हमेशा अपने लाभ की बात सोचता है। स्वार्थी और असंतोषी होता है तथा प्रायः अकारण दुःखी रहता है। ये सारे लक्षण मस्तिष्क में शुष्क ऊर्जा की वृद्धि के सूचक होते हैं। अतः मस्तिष्क की शुष्क ऊर्जा घटाने से ताप ऊर्जा बढ़ती है जो सच्ची प्रसन्नता की सूचक होती है। इस प्रकार लोभ मनोवृत्ति कम होने लगती है।

प्रत्येक ऊर्जा विविध कार्य करती है। अतः ऊर्जा को संतुलित करते समय इस बात का विवेक आवश्यक है कि जिस कषाय की प्रधानता हो, उसको कम करने को प्राथमिकता देनी चाहिए। इस बात का विवेक रखे कि अन्य ऊर्जाओं में अनावश्यक असंतुलन न बढ़े। ऊर्जा संतुलन का प्रभाव तुरन्त पड़ने लगता है। नियमित अभ्यास एवं सजगता से कषाय वृत्तियों में सरलता से मन्दता लायी जा सकती है।

ग्यारवां अध्याय

महावीर का स्वास्थ्य चिन्तन

महावीर का दर्शन मौलिक रूप से स्वास्थ्य और चिकित्सा का दर्शन नहीं है, वह तो आत्मा से आत्मा का दर्शन है। परन्तु जब तक आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक, आत्मा शरीर के बिना रह नहीं सकती।

शरीर की उपेक्षा कर आत्म-शुद्धि हेतु साधना भी नहीं की जा सकती। महावीर की दृष्टि में शरीर का आत्म-साधना हेतु महत्त्व होता है, इन्द्रियों के विषय भोगों के लिए नहीं। उनका अधिकांश चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रख कर हुआ, परन्तु उन्होंने शरीर के निर्वाह हेतु केवल ज्ञान के आलोक में, जिस सम्यक् जीवन शैली का कथन किया, वह स्वतः मानव जाति के स्वास्थ्य का मौलिक बन गया। महावीर के स्वास्थ्य दर्शन को समझने के लिए उनके द्वारा कथित आत्मा और शरीर के संबंधों तथा एक दूसरे को प्रभावित करने वाले तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है।

आत्म-शुद्धि और चेतना का विकास-

महावीर की दृष्टि में शुद्धात्मा-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का स्रोत होती है तथा उस अवस्था की कोई समस्या नहीं होती। जितनी-जितनी उसकी मलिनता, उतनी-उतनी स्वास्थ्य की समस्या। परन्तु जब वह कर्मों के आवरणों से आच्छादित हो जाती है तो, आवरण के घनत्व के अनुसार उसकी सारी शक्तियां सीमित हो जाती है तथा वह मुख्य रूप से नरक, तिर्यच्च, मनुष्य और देग गति में भटकती रहती है। उसके जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है। कर्मों के अनुसार ही किसी भी योनि में उसे शरीर के साथ इन्द्रियाँ और मन उपलब्ध होते हैं। एकेन्द्रिय वाले जीव में मात्र स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् शरीर ही होता है। दो इन्द्रिय वाले जीवों में शरीर के साथ-साथ रसनेन्द्रिय, तीन इन्द्रिय जीवों को शरीर, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय (गंध का ज्ञान कराने वाली) मिलती है। चार इन्द्रिय वाले जीवों को स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय (नेत्र) प्राप्त होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों को चारों इन्द्रियों के साथ श्रवणेन्द्रिय (सुनने की शक्ति) मिलती है। चेतना का और अधिक विकास होने पर उसे पांचों इन्द्रियों के साथ मन मिलता है। इस दृष्टि से मानव कर्मों से युक्त आत्म-चेतना के विकास का सर्वोच्य स्तर होता है।

षट्द्रव्य का सिद्धान्त-

किसी भी पदार्थ के मौलिक गुण उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं। भले ही उनके अनुपात में घटत-बढ़त हो सकती है, परन्तु उनकी अवस्थाएं प्रति क्षण बदलती रहती हैं। पदार्थ के गुण एवं पर्याय (अवस्था) के योग को महावीर ने द्रव्य बतलाया। प्राणी मात्र की समस्त परिस्थितियों का निर्माण, विनाश, संचालन और नियन्त्रण जिन शाश्वत द्रव्यों के बिना संभव नहीं होता, ऐसे छः द्रव्यों का महावीर ने कथन किया, जो अपने-अपने गुणों के अनुसार इस लोक की सारी गतिविधियों के संचालन में सहयोग देते हें।

धर्मास्तिकाय-

जो द्रव्य हलन-चलन में सहायक होता है, जिसके अभाव में हलन-चलन संभव नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ धर्मास्तिकाय होता है वहीं तक जीव गमनागमन कर सकता है। मृत्यु के पश्चात् जीव एक योनि से दूसरी योनि में, इसी द्रव्य की सहायता से जाता है। स्थूल जगत में हलन-चलन में सहायक वायु उस अवस्था में प्रभावहीन हो जाती है। आधुनिक विज्ञान भी उस ऊर्जा को अभी तक नहीं खोज पाया, जिसका महावीर ने कथन किया।

अधर्मास्तिकाय-

यह द्रव्य हलन-चलन में अवरोध उत्पन्न करता है। अर्थात् वाहन में ब्रेक की भांति कार्य करता है। इसी द्रव्य के कारण शरीर में सारे अंग, उपांग, स्नायु, अस्थियाँ, इन्द्रियाँ आदि अपने -अपने स्थान पर स्थिर रह सकते हैं। जिसके लिए भी आधुनिक विज्ञान के पास भी कोई तर्क संगत स्पष्टीकरण नहीं है।

आकाशास्तिकाय-

यह द्रव्य अन्य सभी पदार्थो को स्थान देता है। इसी कारण हलन-चलन और तरंगों आदि का प्रवाह संभव होता है।

पुद्गलास्तिकाय-

शब्द, गंध, रस, स्पर्श एवं वर्ण पुद्गलों आदि से युक्त पदार्थ पुद्गल होता है। सारा लोक पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है। ये पुद्गल इन्द्रियों, मन आदि के द्वारा ग्राह्य होते हैं। जैसे- पुद्गलों को ग्राह्य किया जाता है, उसी के अनुरूप परिस्थितियों का निर्माण होने लगता हैं। एक ही स्थान पर बोया गया नीम और गन्ना, इसी कारण समान जल वायु, धरती, पानी, धुप एवं हवा के बावजूद, गन्ना मधुर रस वाला और नीम में कड़वा स्वाद विकसित होता है। शरीर में इन पुद्गलों का आवश्यक अनुपात न होना अथवा अनावश्यक पुद्गलों की अधिकता से होने वाली स्थिति से रोग उत्पन्न होते हैं।

गंध, स्पर्श, स्वाद, ध्वनि, त्राटक आदि चिकित्साएँ इन पुद्गलों के सिद्धान्तों पर कार्य करती है, तथा उन्हें संतुलन करने से ही प्रभावशाली बनती है। पुद्गलों के प्रसारण एवं पुनः आकर्षण के कारण ही सारे संचार माध्यम, इंटरनेट, टी.वी. टेलीफोन, कम्प्यूटर, रेडियों आदि कार्य करते हैं। सारे शारीरिक और मानसिक रोगों का कारण भी अशुभ कर्म के पुद्गल का उद्भव एवं असंतुलन से होता है। महावीर ने बिना किसी सूक्ष्म यंत्र इन पुद्गलों का कथन कैसे किया, आधुनिक विज्ञान के शोध का विषय है?

काल द्रव्य-

समय जो पुराने को नवीन और नवीन को पुराना बनाता है। समय, सैकण्ड, मिनट, घंटे, दिन, मास, वर्ष, दिन-रात आदि काल द्रव्य के सूचक होते हैं।

जीवास्तिकाय-

उपयोग युक्त चेतना मय तत्त्व जीव होता है। जिनमें ये दोनों गुण न हों, वे अजीव होते हैं। महावीर ने संसार के सारे पदार्थो का दो प्रकार से कथन किया। जीव या चेतन और अजीव अर्थात जड़ या अचेतन। जीव में अनुभव और संवेदन करने की क्षमता होती है। स्वास्थ्य का सारा चिन्तन और समस्याएँ जीव को ही होती है। मृत्यु के पश्चात् शरीर में से चेतना के निकल जाने के पश्चात, इसी कारण जड़ शरीर को जल्दी से जल्दी नष्ट कर दिया जाता है। क्योंकि मृत शरीर में जीव के लक्षण समाप्त हो जाते है। अजीव में संवेदन और अनुभव करने की क्षमता नहीं होती और न उनमें सजातीय पदार्थो को पैदा करने की क्षमता ही होती है। जीव सदैव अरूपी होता है, परन्तु उसका अनुभव किया जा सकता है। परन्तु अजीव रूपी और अरूपी दोनों हो सकते हैं। जो स्थूल दृष्टि अथवा भौतिक यंत्रों से देखे जा सकते हैं, उन्हें रूपी पदार्थ, परन्तु जिनको इन माध्यमों से देखना संभव नहीं होता, वे अरूपी पदार्थ कहलाते हैं। सभी जीवों में आत्मा समान होती है, परन्तु कर्मो के आवरण के अनुसार चेतना के

विकास में अन्तर होता है। इसी आधार से प्रथम पांच द्रव्य अजीव की श्रेणी में आते हैं, जबकि छठा द्रव्य जीव होता है। सभी द्रव्य एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

महावीर की शरीर संबंधी अवधारणा–

महावीर की दृष्टि से जब जीव मानव योनि में आता है तो, उसे पाँच प्रकार के शरीर मिल सकते हैं।

1. **औदारिक या स्थूल शरीर**– जो पंच द्रव्यों और सप्त धातुओं (अवयवों) से बनता है।
2. **वैक्रिय शरीर**– जिसको इच्छानुसार घटाया, बढ़ाया अथवा छोटा–बड़ा किया जा सकता है।
3. **आहारक शरीर**– जिसकी संरचना उच्च साधकों द्वारा संकल्प की तरंगों से की जा सकती है। साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता।
4. **तेजस शरीर (विद्युत शरीर)**– यह सूक्ष्म शरीर होता है।
5. **कार्मण अथवा कर्म शरीर**– सूक्ष्मतम शरीर होता है, जो कर्म पुद्‌गलों से बनता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर की प्राप्ति मानव जीवन में चेतना की उत्कृष्ट स्थिति वाले साधकों को साधना द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः मोटे रूप में प्रत्येक मानव को स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर ही प्राप्त होते हैं। तेजस् और कार्मण शरीर आत्मा की मलीन अवस्था में सदैव उसके साथ रहते हैं तथा मृत्यु के समय जब तक आत्मा पूर्ण रूप से शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो जाती, स्थूल शरीर ही नष्ट होता है, सूक्ष्म शरीर समाप्त नहीं होता। परन्तु अधिकांश आधुकिन प्रचलित चिकित्सा पद्धतियां उपचार को मात्र स्थूल शरीर तक ही सीमित रखती है। रोग के मूल कारण कर्मो तक उनका सोच प्रायः नहीं होता। इसी कारण जन्मजात रोगों एवं मृत्यु का रहस्य उनके पूर्ण समझ में नहीं आ पाता।

इन तीनों शरीरों का स्वास्थ्य के साथ गहरा संबंध होता है। शक्तिशाली सूक्ष्म दर्शक यंत्रों की खोज से भी स्थूल शरीर के रहस्यों को तो जाना जा सकता है। परन्तु सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर को अभी भी नहीं देखा जा सकता। फिर भी उनका शरीर पर प्रभाव पड़ता है। जिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। कर्म शरीर में जितने स्पन्दन होते हैं, वे स्थूल शरीर में अपना संबंध स्थापित करते हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का संवादी होता है।

चित्त, भाव, मन, वाणी और शरीर का संबंध–

भगवान महावीर ने आत्मा के अस्तित्व से जुड़े चित्त, मन, भाव, वाणी, शरीर, इन्द्रियों आदि का जितना स्पष्ट तथ्यपरक विवेचन किया, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जीवन से हमारा परिचय शरीर, वाणी और कार्यो के माध्यम से होता है। जिसका आधार मन और चित्त से भी परे हमारी आत्मा है। हमारी चैतन्य का एक सूर्य के समान होती है और उसकी एक किरण का नाम होता है। चित्त चैतन्य मय होता है तथा सूक्ष्म शरीर द्वारा संचालित होता है। अतः भाव, मन और वाणी चित्त द्वारा संचालित होते हैं। चित्त मन की भांति अस्थायी नहीं होता है। दीर्घ जीवी होता है। हमारी सारी चेतना का प्रवाह चित्त से ही होता है। चित्त मन की भांति अस्थायी नहीं होता है। दीर्घ जीवी होता है। हमारी सारी चेतना का प्रवाह चित्त से ही होता है। सूक्ष्म शरीर का दूसरा उत्पाद होता है। हमारा स्थूल शरीर एवं इन्द्रियाँ। हमारे मन का कोई भाव हम छिपाकर नहीं रख पाते। वह किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है। परोक्ष रूप से छिपे हुए भाव भी हमारे अन्दर निरन्तर क्रियाशील रहते हैं और अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग

खोज निकालते है। शरीर में पनपने वाले असाध्य रोग भी हमारी छिपी भावनाओं को ही अभिव्यक्त करते हैं। हमारी अन्तःश्रावी ग्रन्थियाँ भाव के अनुसार ही शरीर में हारमोन्स अथवा रसायनों का निर्माण करती है। फलस्वरूप हम अच्छी या बुरी, करणीय अथवा अकरणीय प्रवृत्तियाँ करने लगते हैं। अतः अधिकांश रोगों का मूल कारण प्रायः भावनात्मक स्तर पर होता है। और जब तक उसमें परिवर्तन नहीं आता, आरोग्य लाभ नहीं मिल सकता। क्षणिक आने वाले भाव तो हमें बहुत प्रभावित नहीं करते, परन्तु लम्बे काल तक बना रहने वाला भावात्मक असंतुलन संस्कार बन गहरा प्रभाव दिखाता है।

सूक्ष्म शरीर से कर्म विपाक के अनुसार जो स्पन्दन आते हैं, वे चित्त को प्रभावित करते हैं। जिससे चित्त मस्तिष्क के साथ कार्य करने वाले भावों का निर्माण करता है तथा उन भावों की अभिव्यक्ति के लिये दो सहयोगी तंत्रों का निर्माण करता है और वे होते हैं, मन और वाणी। इस प्रकार मस्तिष्क-चित्त और स्थूल शरीर का संगम स्थल होता है। अतः मन और चित्त एक नहीं, अलग-अलग होते हैं। मन चंचल होता है। चित्त बुद्धि और विवेक से उस पर नियन्त्रण रखने की क्षमता रखता है। मन कुछ भी नहीं होता और सब कुछ भी होता है। मन का कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता परन्तु जब अस्तित्व में होता है तो सब कुछ बन जाता है, परन्तु यदि हम मन को पैदा न करें तो मन कुछ भी नहीं होता। मन को विराम दिया जा सकता है। स्वास्थ्य का संबंध मन के साथ बहुत कुछ जुड़ा होता है। मन स्वस्थ तो शरीर स्वस्थ और मन अस्वस्थ तो शरीर अस्वस्थ।

प्राण ऊर्जा और ऊर्जा के स्रोत-

भगवान महावीर के सिद्धान्तानुसार मानव का जीव जब गर्भ में आता है तो, उसे अपने-अपने कर्मो के अनुसार आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन रूपी छः प्रयाप्तियाँ मूल ऊर्जा के स्रोत (Bio Potential Energy Source) प्राप्त होते हैं। प्रत्येक पर्याप्ति अपने-अपने गुणों के अनुसार पृद्गलों को आकर्षित कर मानव शरीर का विकास करती है। जिन्हें ये शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्राप्त होती है, उनका सम्पूर्ण एवं संतुलित विकास होता है तथा जिन्हें ये पर्याप्तियाँ आंशिक रूप से प्राप्त होती हैं उनका विकास आंशिक ही होता है।

महावीर के चेतना के विकास में इन्द्रियाँ के स्वतंत्र अस्तित्व का कथन किया। जबकि अन्य दर्शनों एवं चिकित्सा वैज्ञानिकों ने उनकी शरीर के एक अवयव तक ही कल्पना की। उनका सम्बन्ध पंच तत्त्वों में से किसी तत्त्व अथवा अंग तक ही सीमित कर दिया। ये जीवनी शक्तियाँ कार्य के अनुसार मुख्य रूप से दस भागों में रूपान्तरित हो मानव की समस्त गतिविधियों का संचालन करती है। जिन्हें प्राण भी कहते हैं। प्राण जीवन शैली को शक्ति प्रदान करती है। प्रत्येक प्राण अपने लिये आवश्यक पुद्गलों को आसपास के वातावरण से ग्रहण कर अपने-अपने कार्य कर सकते हैं।

श्रोतेन्द्रिय बल प्राण- जिससे सुनने योग्य पुद्गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।
चक्षु इन्द्रिय बल प्राण- जिससे देखने योग्य पुद्गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।
घ्राणेन्द्रिय बल प्राण- जिससे गंध योग्य पुद्गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।
रसनेन्द्रिय बल प्राण- जिससे स्वाद योग्य पुद्गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।
स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण- जिससे स्पर्श योग्य पुद्गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।
श्वासोच्छ्वास बल प्राण- जिससे श्वसन योग्य पुद्गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।

मन बल प्राण– जिससे मनोवर्गणा योग्य पुद्‌गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।

वचन बल प्राण– जिससे भाषा वर्गणा योग्य पुद्‌गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।

काय बल प्राण– जिससे हलन–चलन योग्य पुद्‌गलो को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।

आयुष्य बल प्राण– जिसके कारण जीव निश्चित अवधि तक किसी योनि में रह सकता है।

सारी प्राण शक्तियाँ आपसी सहयोग और समन्वय से कार्य करती हैं, परन्तु एक दूसरे का कार्य नहीं कर सकती। आंख सुन नहीं सकती, कान बोल नहीं सकता, नाक देख नहीं सकता इत्यादि। सबमें आयुष्य बल प्राण मुख्य होता है तथा उसके समाप्त होते ही अन्य प्राण रक्तः प्रभावहीन हो जाते हैं। आयुष्य बल प्राण का प्रमुख सहयोगी श्वासोच्छवास बल प्राण होता है।

प्राण ऊर्जा का जितना सूक्ष्म एवं तर्क संगत विश्लेषण महावीर दर्शन में है उतना, आधुनिक चिकित्सा पद्धति में नहीं किया गया। परिणाम स्वरूप उन्हें आंख, नाक, कान आदि जड़ उपकरणों की खराबियों को दूर करने में तो आंशिक सफलता मिली, परन्तु जिनमें प्राण ऊर्जा का मौलिक प्रवाह ही नहीं हो, उनको सुधार पान में अभी तक सफलता नहीं मिलती।

संयम ही जीवन है–

स्वास्थ्य की दृष्टि से इन पर्याप्तियों और प्राणों का बहुत महत्त्व है। अतः महावीर ने पर्याप्तियों के संयम एवं सदुपयोग को सर्वाधिक महत्त्व दिया। जहां जीवन है वहां प्रवृत्ति तो निश्चित रूप से होती ही है। अतः पर्याप्तियों और प्राणों के संयम का मतलब हम उनका अनावश्यक दुरुपयोग अथवा अपव्यय न करें, अपितु अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे कर्मों से छुटकारा पाने हेतु सदुपयोग द्वारा सम्यक पुरुषार्थ करें।

आहार संयम– जीवन चलाने के लिये जितना आवश्यक हो भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक रख कर आहार–पानी आदि ग्रहण करना।

शरीर का संयम– शरीर का अनावश्यक प्रवृत्तियों से बचना एवं सम्यक् पुरुषार्थ करना।

इन्द्रियों का संयम– इन्द्रियों से क्षमता से अधिक तथा अनावश्यक कार्य न करना। वीर्य का नियन्त्रण रखना अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना। इन्द्रिय विषयों को उत्तेजित करने वाली प्रवृत्तियों एवं वातावरण से यथा संभव दूर रहना।

श्वास का संयम– मन्द गति से दीर्घ श्वास लेना तथा पूरक और रेचक के साथ–साथ कुम्भक कर श्वास को अधिकाधिक विश्राम देना। जितना अधिक श्वास का संयम होगा, उतना व्यक्ति संवेगों, से सहज बच जाता है। इससे शरीर और मन को बहुत आराम मिलता है। आवेग नहीं आते हैं। आवेग से शरीर में असंतुलन और राग होने की संभावनाएँ बढ़ जाती है।

भाषा का संयम– वाणी का विवेक एवं यथा संभव मौन रखना, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर मधुर बोलना। अनावश्यक बोलने से जीवनी शक्ति क्षीण होती है। वाणी के प्रकम्पन हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। ध्वनि और मंत्र चिकित्सा का यही आधार होता है। वाणी शरीर और मन दोनों को प्रभावित करती है।

मन का संयम– मन से अनावश्यक मनन, चिन्तन, स्मृति और कल्पनायें न करना अर्थात् मन की सम्यक् प्रवृत्ति करना। मनोबल कमजोर करने वाले दृश्यों को न तो देखना और न सुनना मन का संयम होता है। हिंसा, क्रूरता, घृणा, कामुकता, भय इत्यादि मनोबल कमजोर करने वाले वातावरण में रहना, मन का असंयम होता है।

उपर्युक्त सभी का आचरण अर्थात् संयम महावीर के अनुसार स्वास्थ्य की कुंजी होता है, सभी रोगों का कारण पर्याप्तियों के असंयम से होने वाले प्राणों का असंतुलन ही होता है। पर्याप्तियों के संयम से शरीर में रोग उत्पन्न होने की संभावनाएँ काफी कम हो जाती है और रोग की स्थिति हो भी जाती है तो पर्याप्तियों, के संयम से पुनः शीघ्र स्वास्थ्य को प्राप्त किया जा सकता है। यही महावीर के शरीर स्वास्थ्य का मूलाधार है।

सम्यक् प्रवृत्ति अनिवार्य–

वृत्ति के बिना मन उत्पन्न नहीं हो सकता। जितनी ज्यादा वृत्तियाँ होती हैं, उतनी ही मन की चंचलता अधिक होती है। मन, वाणी और काया (शरीर) के द्वारा ही जन्म से मृत्यु तक हमारी सारी गतिविधियाँ होती है। भगवान महावीर ने तीनों के आलम्बन को योग कहा। जैसा भाव और वातावरण होता है, वैसा ही मन में चिन्तन, मनन, कल्पनाएँ होने लगती हैं। मन पांचों इन्द्रियों के विषयों को भी प्रभावित करने की क्षमता रखता है। अतः जब उस पर बुद्धि और विवेक का नियन्त्रण रहता है, तब तक मन पांचों इन्द्रियों और शरीर को सद्प्रवृत्तियों में लगाता है, परन्तु जब अज्ञान और अविवेक होता है तो व्यक्ति अकरणीय, अनावश्यक प्रवृत्तियाँ करने लगता है, जिससे सारा संतुलन गड़बड़ा जाता है, और स्वास्थ्य एवं अन्य समस्याएँ पैदा होने लगती हैं।

जब तक जीवन है, तब तक हम बिना प्रवृत्ति नहीं रह सकते। महावीर ने विवेक को सर्वाधिक महत्त्व दिया। कैसे प्रवृत्ति करना, और कैसे प्रवृत्ति नहीं करना, तथा कब कौनसी प्रवृत्ति करना और कब कौनसी प्रवृत्ति नहीं करना। इन बातों का जितना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक, स्वावलम्बी, अहिंसक, संयमित, जीवन शैली का सूक्ष्म एवं तार्किक चिन्तन महावीर ने प्रस्तुत किया, ऐसी दिन चर्या एवं रात्रि चर्या का विस्तृत वर्णन अन्य दर्शनों में प्रायः कम मिलता है। अतः जो भी प्रवृत्ति करे उसमें विवेक आवश्यक होता है। महावीर ने पांच प्रकार की सम्यक् प्रवृत्ति की आराधना करने तथा तीन प्रकार की अशुभ दूष्प्रवृत्तियों से बचने अर्थात् मन, वाणी और काया को अशुभ से अलग रखने का जो साधक को मार्ग दर्शन किया, उसे आठ प्रवचन माताओं के रूप में जाना जाता है। जैसे– कैसे चलना, कैसे बोलना, कैसे प्रवृत्ति करना आदि। भगवान महावीर ने आत्म–विकास हेतु समता अर्थात् सामायिक को आवश्यक बताया। सामायिक में मन, वचन और काया की स्थिरता पर विशेष बल दिया, जो साधना की प्रारम्भिक भूमिका होती है। बिना काया की स्थिरता और मन के संयम, अन्तर्मुखी नहीं बना जा सकता।

क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, वासना, क्रूरता आदि। जैसी भावनाएँ होती हैं, मन और वाणी उसके अनुरूप बन प्रवृत्ति करने लगते हैं। महावीर का दर्शन मानव को योग से अयोग की तरफ एवं प्रवृत्ति से निवृत्ति की तरफ ले जाने वाला राजमार्ग है। जहां पहुँचने के पश्चात कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यदि महावीर के निर्देश के अनुसार जीवन शैली अपनायी जाये तो रोग होने की संभावनाएं क्षीण हो जाती है। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है। रोग होने की स्थिति में रोगी की सहनशक्ति बढ़ जाती है। अतः व्यक्ति पुनः जल्दी स्वस्थ हो जाता है। महावीर के सिद्धान्तों एवं कथनों का जितना–जितना ईमानदारी पूर्वक पालन किया जाता है, उतना–उतना

व्यक्ति स्वस्थ होता है तथा जितनी-जितनी उसकी उपेक्षा की जाती है, उतनी-उतनी रोग होने की संभावना बढ़ जाती है।

भगवान महावीर का कर्म सिद्धान्त और स्वास्थ्य-

सम्पूर्ण स्वास्थ्य की दृष्टि से रोग पैदा करने वाले कारणों से बचना, रोग पैदा न हों, ऐसी जीवन शैली जीना तथा जो रोग पहले से जमें हुए हों उनका विरेचन अथवा सफाई आवश्यक होती है। महावीर की दृष्टि में हमारे कर्म ही सबसे बड़े शत्रु हैं। जीवन की सारी समस्याओं के सूत्रधार कर्म ही होते हैं। अतः उससे छुटकारा पाने के लिये उन्होंने तीन मार्ग बतलाये तथा उस हेतु आश्रव, संवर और निर्जरा जैसे अलग-अलग पारिभाषिक शब्दों का कथन किया।

भगवान महावीर ने कर्मो का कथन आठ प्रकार से किया। जो कर्म आत्मा के मूलगुणों का घात अथवा प्रभावित करते हैं, उनको घाती कर्म और जिनका संबंध मात्र शरीर से होता है, उन्हें अघाती कर्म कहा है। इस आधार पर ज्ञानावरणीय (ज्ञान पर आवरण करने वाले), दर्शनावरणीय कर्म (सम्यक् दर्शन को आच्छादित करते हैं) मोहनीय कर्म (रागद्वेष पैदा कर वीतराग अवस्था में बाधक बनते हैं) अन्तराय (आत्मा के अनन्त बल को सीमित करने वाले अथवा जिसके प्रभाव से व्यक्ति अपनी क्षमताओं का सम्यक् एवं पूर्ण उपयोग नहीं कर सकता) कर्म घाती कर्म कहलाते हैं। जबकि वेदनीय (जिस कर्म के अनुसार शरीर को सुख-दुःख की संवेदना हों), नाम (जिस कर्म के अनुसार किसी योनि में शरीर का रंग, रूप, आकार आदि मिलता है), गौत्र (जिस कर्म के अनुसार जीव का उच्च अथवा नीच कुल में जन्म होता है और प्रारम्भिक संस्कार मिलते हैं) आयुष्य (जिसके प्रभाव से जीव को निश्चित अवधि तक किसी योनि में रहना पड़ता है) ये क्षय होता है, उतन-उतने आत्म-गुण प्रकट होते हैं। और शरीर को उसके अनुसार उपलब्धियाँ प्राप्त होती है। ज्ञानावरणीय कर्म के पूर्ण क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के पूर्ण क्षय से अनन्त सत्य दर्शन, मोहनीय कर्म के पूर्ण क्षय से अव्याबाध (सदैव रहने वाला) सुख एवं अन्तराय कर्म के पूर्ण क्षय होने से अन्नत शक्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में जीव संसार के सूक्ष्मतम पदार्थो को देखने एवं वर्तमान, भूत एवं भविष्य में घटित होने वाले सभी तथ्यों को जानने में सक्षम बन जाता है। ये चार कर्म ही आत्म गुणों की घात करते हैं। इनके भय होने के पश्चात् बाकी चार वेदनीय, आयु नाम और गौत्र कर्म जिनका संबंध तो मात्र शरीर से होता है। शरीर के साथ स्व्यं नष्ट हो जाते हैं। यही महावीर का शरीर स्वास्थ्य का आधार है तथा आत्मा और शरीर को प्रभावित करने वाले कर्मो की भेद रेखा।

महावीर का नव तत्त्वों का सिद्धान्त-

भगवान महावीर के दर्शन की दूसरी विशेषता है उनका अनेकान्त दृष्टिकोण। अतः महावीर ने मुख्य रूप से संसार के सभी पदार्थो का जीव और अजीव के रूप में कथन किया। आत्मा और शरीर के संबंधों को प्रभावित करने वाले अन्य सार भूत पदार्थो के विशेष गुणों का महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध (कर्मो का आत्मा से बंधना) और मोक्ष (आत्मा की परम शुद्धावस्था) जैसे नव मूल तत्त्वों का कथन किया। भगवान महावीर ने मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं उसकी प्राप्ति हेतु पाप, आश्रव और बंध से बचने तथा संवर और निर्जरा युक्त प्रवृत्ति करने का कथन किया।

आश्रव- वे सारे अकरणीय कार्य अथवा पाप की प्रवृत्तियाँ, जो अशुभ कर्मो को आकर्षित कर हमारी चेतना को दुर्बल करती है। जिन्हें मुख्य रूप से पांच भागों में विभाजीत किया जा सकता है।

1. मिथ्यात्व, 2. अव्रत अथवा असंयम, 3. प्रमाद (आलस्य अथवा गलत कार्यो में पुरुषार्थ) 4. कषाय (आत्मा को मलिन करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि) 5. अशुभ योग।

मिथ्यात्व- मिथ्यात्व अथवा गलत दृष्टिकोण का मूल कारण सम्यक् ज्ञान का अभाव होता है। जिसके कारण व्यक्ति असत्य अथवा आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान तथा असत्य को सत्य मान आचरण करने लगता है। जब दृष्टिकोण ही गलत हों तो, आचरण कैसे सम्यक् हो सकता है। अज्ञान और अविवेक के कारण उसका खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि शरीर में रोग एवं आत्मा को विकारी बनाने में अहं भूमिका निभाते हैं।

अव्रत (असंयम)- असंयमी व्यक्ति स्वछन्द होने से अपना भला बुरा नहीं सोच पाता। जीवन की आवश्यकताओं एवं लक्ष्य का सही चयन नहीं कर पाता। जीवन की प्राथमिकताओं एवं लक्ष्य का सही चयन नहीं कर पाता तथा स्वाद के वशीभूत होकर आहार का विवेक न रखने से रोगों को आमन्त्रित करता है। इन्द्रियों का उपयोग विषय भोगों में करता है। उसका जीवन अनियन्त्रित, अनियमित एवं प्राथमिकताओं की उपेक्षा करने से लक्ष्य हीन हो जाता है।

प्रमाद- आलस्य अथवा गलत अनावश्यक कार्यो में पुरुषार्थ। यदि व्यक्ति श्रम नहीं करता है तो, शरीर के अंग-उपांग बराबर कार्य नहीं करने से रोग की समस्या उत्पन्न होती है। ठीक उसी प्रकार, जो व्यक्ति अनावश्यक अथवा कम उपयोगी अप्राथमिक कार्यो में पुरुषार्थ कर अपनी प्राण ऊर्जा को खर्च करते हैं, ऐसे व्यक्ति भी प्रमादी की श्रेणी में आते हैं। ऐसे सारे कार्य, जो आत्मा को मलिन बनाते हैं, कर्म बंधन में सहयोगी होते हैं, प्रमाद की श्रेणी में ही आते हैं।

कषाय- अर्थात् आत्मा को कलुषित करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेष बढ़ाने वाले तत्त्व। सबसे पहले रोग की उत्पति भावों में होती है। अतः जब क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष में व्यक्ति उलझ जाता है तो तनाव, भय, चिन्ता, दुःख आदि, जो रोग के मूल कारण होते हैं, बढ़ने लगते हैं तथा स्वास्थ्य अस्त-व्यस्त होने लगता है।

अशुभ योग- अर्थात् मन, वचन, और काया से अनावश्यक प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों के विपरीत पाप की दुष्प्रवृत्तियाँ करना, करवाना और करने वालों का अनुमोदन करता है, दूसरों से करवाता है और जो दुरुपयोग करते हैं, उनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनुमोदन कर सहयोग करता है तो उसकी प्राण ऊर्जा अनावश्यक क्षीण होने से, वे स्वास्थ्य के लिये समस्याएँ पैदा करने वाली हो जाती है। साथ ही आत्मा कर्मो से भारी हो जाती है।

संवर- आत्मा पर नये विकारों को जमा न होने देने अर्थात् नवीन कर्म बंधनों से बचने हेतु जिस जीवन शैली को अपनाया जाता है, उसे महावीर ने संवर बतलाया। महावीर ने अहिंसा, संयम और तप मय जीवन प्रवृत्ति को स्वास्थ्य हेतु आवश्यक बतलाया।

व्यक्ति का विचार और चिन्तन हर क्षण सम्यक् नहीं होता, अतः जब भी उसके मन में शुभ संकल्प जागृत हों, उसकी क्रियान्विति का संकल्प अथवा प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) ले लेनी चाहिए, जिससे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी नियमों के पालन में दृढ़ता और स्थिरता रहती है।

संवर आश्रव का प्रतिपक्ष होता है। जिसमें मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक् दृष्टिकोण, सही सोच को प्रधानता दी जाती है। जीवन में स्वछन्द मनोवृत्ति को यम-नियम एवं व्रत-प्रत्याख्यान द्वारा संयमित रखा जाता है। प्रमाद के स्थान पर साधक सम्यक् पुरुषार्थ हेतु सजग रहता है। राग-द्वेष एवं क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषायों से बचने हेतु अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समता रखने का तथा मन, वचन और काया की दुष्प्रवृतियों को शुभ में लाने का प्रयास किया जाता है। साधु को जीवन पर्यन्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पूर्ण रूप से तथा श्रावकों को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षेत्र की मर्यादा, उपयोग की वस्तुओं के सीमित उपभोग, अनावश्यक अथवा अप्राथमिक कार्यो से बचने एवं सामायिक, पोषध एवं सम्यक् दान जैसे बारह व्रतों का अधिकाधिक पालन करने का निर्देश दिया। उन्होंने भोजन में अभक्ष्य, तामसिक पदार्थो के सेवन का, रात्रि भोजन एवं सचित्त पानी जिसमें जीवों के उत्पन्न होने की संभावना हो, ऐसा पानी उपयोग करने का निषेध किया। रात्रि में किया गया भोजन तामसिक और विकारी बन जाता है। अतः शरीर में रोगों का कारण बनता है। इसी कारण जैन साधक जीवन पर्यन्त उबला हुआ अथवा अचित्त पानी जिसमें जीवों की उत्पति की संभावना न हो, पीते हैं। आज पर्यावरण और प्रदूषण के युग में पानी की शुद्धता संदिग्ध है। भोजन और पानी जीवन की मूलभूत आवश्यकता है तथा उनके सम्यक् सेवन से रोग होने की संभावना बहुत कम हो जाती है।

'संवर' वास्तव में पर्याप्तियों और प्राणों का संयम ही होता है। जिससे शरीर, मन और वाणी संतुलित रहने लगते हैं। नये रोगों के आने की संभावनाएँ कम हो जाती है। संवर से प्राण ऊर्जा का अपव्यय नहीं होता।

निर्जरा- कर्म विरेचन का साधन- भगवान महावीर के अनुसार जीवन एवं स्वास्थ्य की सभी समस्याओं का मूलाधार कर्म होता है। कर्मो के प्रभाव से ज्ञान-अज्ञान हो जाता है, दर्शन मिथ्या हो जाता है। अतः जब तक आत्मा पर कर्मो का आवरण रहता है, तब तक सम्पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। न मालूम कब वे कर्म उदय में आकर व्यक्ति को रोगी बना दे, कहा नहीं जा सकता। अतः आत्मार्थी साधकों के लिये एक तरफ जहाँ आश्रव से बचने का कथन किया तो दूसरी तरफ संवर में प्रवृत्ति करने का कथन किया।

महावीर का योग शास्त्र-

महावीर ने संचित कर्मो को क्षय करने हेतु विविध प्रकार के बारह तप एवं साधना हेतु सम्यक् पुरुषार्थ को आवश्यक बतलाया, जिसे महावीर दर्शन का द्वादशांग योग कहते हैं। कर्मों को क्षय करने अथवा उनको आत्मा से निर्जरित करने की प्रक्रिया को निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार सोना अग्नि में तप कर शुद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सम्यक् तप की आराधना से आत्मा कर्मो के विकारों से मुक्त हो शुद्ध बन जाती है। छः तप कर्म बन्धन के बाह्य कारणों को क्षय करने के साथ-साथ शरीर और रोग के स्थूल कारणों को दूरकर शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। अतः उन्हें बाह्य तप कहते हैं। ये तप दूसरों को प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। बाह्य तप के आचरण से शरीर के प्रति आसक्ति, स्वादलोलुपता, कष्ट सहिष्णुता एवं खान-पान की आसक्ति छूट जाती है। साधक भूख-प्यास पर विजय पा लेता है। ये सब साधना के विघ्न हैं, जो देह के प्रति आसक्ति,

विलासिता और प्रमाद को बढ़ाते हैं। बाह्य तप आभ्यन्तर तप में सहायक होते हैं। आभ्यंतर तपों से हमारे भावों और चित्त की शुद्धि होती है। अतः वे हमारे मानसिक स्वास्थ्य को सुधारते हैं तथा आत्म-बल और मनोबल में वृद्धि करते हैं। आभ्यन्तर तप में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती। इनका प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तःकरण पर पड़ता है।

आत्म-शुद्धि की साधना के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, और सम्यक् चारित्र तीन मूल आधार स्तम्भ होते हैं। पातंजलि योग की भांति महावीर के योग की आधार शिला भी यम-नियम के पालन से होती है। आत्म-शुद्धि की साधना की चाहे जो अवस्था हो, साधक को साधना से पूर्व अहिंसा, सत्य-अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह आदि पांच नियमों का पालन करना महावीर ने अत्यन्त आवश्यक बतलाया। इन नियमों को धारण किये बिना की जाने वाली साधना को महावीर ने अज्ञान तप की संज्ञा दी। अपने बल पुरुषार्थ के अनुसार साधक दो प्रकार से साधना कर सकता है। प्रथम जिसमें यमों का पूर्ण तथा जीवन पर्यन्त पालन कर साधु जीवन स्वीकार करना तथा दूसरा आंशिक रूप से अथवा कुछ समय के लिये नियमों को स्वीकार कर गृहस्थ जीवन जीते हुए आत्म-शुद्धि करना। बिना यम-नियम साधना विकसित नहीं हो सकती।

बाह्य तप-

भूख-प्यास पर विजय पाने के लिये अनशन तप का कथन किया। इसमें सीमित समय के लिये अन्न-जल का पूर्ण अथवा आंशिक त्याग किया जाता है। इसका कारण यह है कि जब भूख पर विजय प्राप्त कर लेते हैं तब बाकी सभी इन्द्रियां शांत होने से स्वतः नियन्त्रित और अनुशासित होने लगती है। अनशन से पाचन संबंधी रोगों का नाश होता है। इच्छा शक्ति अर्थात् मनोबल बढ़ाने के लिये भूख से कम खाना, अपने कषायों को सीमित करना ऊणोदरी तप का उद्देश्य होता है। ऊणोदरी तप से वात, पित्त, कफादिजनित दोषों का शमन होता है। विकार बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों से बचने हेतु वृत्ति संक्षेप तप का प्रावधान है। वृत्ति संक्षेप तप से भोज्य वस्तुओं की इच्छा का निरोध एवं भोजन की चिन्ता पर नियन्त्रण होता है। भोजन में रस लोलुपता त्यागने के लिये स्वादिष्ट भोजन को छोड़ना त्याग कहलाता है। रस परित्याग तप से इन्द्रिय निग्रह, निद्रा विजय, स्वाध्याय और ध्यान में रुचि बढ़ती है। जिन पदार्थो से जीभ और मन दोनों विकृत होते हैं तथा जो व्यक्ति को स्वाद लोलुप और विषयोलोलुप बनाते है, महावीर ने ऐसे पदार्थों को विगय कहा तथा साधकों को उसके सेवन का यथा संभव निषेध किया। मांस, मधु, मद्य और मक्खन को महावीर ने महा विगय तथा दूध, दही, घी, तेल और मीठे पदार्थो को विगय बताया। आधुनिक चिकित्सक भी प्रायः इन सभी पदार्थो के कम से कम उपयोग का परामर्श देते हैं। स्वाद विजय के लिए महावीर ने बिना विगय वाले आहार की तपस्या को आयंबिल तप कहा। स्वास्थ्य की दृष्टि से आयंबिल तप से रक्त की शुद्धि, पाचन शुद्धि होती है और मोटापा जैसे अनेक रोग नहीं होते। शरीर को कष्ट सहन करने का अभ्यास करवाने हेतु प्रतिकूलता में समत्व रखना, शरीर को कठिन स्थिर आसनों और मुद्राओं का अभ्यास करना, काया क्लेश तप कहलाता है। यह तप शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान कराने में सहायक होता है। जैन श्रमणों को आचरणीय बाईस परिषह अपनी इच्छा से कर्मो की निर्जरा हेतु प्रतिकूलताओं को अपनाना एवं उन्हें शान्त भाव से सहन करना काया क्लेश तप का ही प्रयोगात्मक पक्ष होता है। स्वयं भगवान महावीर स्वामी ने सारी साधना विभिन्न कठोर आसनों में की। जब उन्हें केवल ज्ञान हुआ तब वे गोदुहासन में ही थे। अन्तर्मुखी बनने और पांचों

इन्द्रियों और मन को वश में करने वाले तप मको प्रतिसंलीनता तप कहते हैं। इस तप में मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, शब्द, स्पर्श द्वारा विषयों से मन चलित नहीं होता तथा अमनोज्ञ में रागद्वेष नहीं करता। ये छः बाह्य तप कहलाते हैं।

आभ्यन्तर तप–

प्रायश्चित से पुराने दोषों की शुद्धि होती है तथा भविष्य में उनसे बचने हेतु सजगता बढ़ती है। असजगता ही अविवेक का कारण है और अविवेक से ही सारी समस्याएँ पैदा होती है। अहंकार हमारी बुद्धि, ज्ञान और विवेक को नष्ट करता है। अतः जिस पर विजय पाने के दूसरे आभ्यन्तर तप के रूप में महावीर ने विनय तप की आराधना का कथन किया। विनय से अनेक गुण विकसित होते हैं। प्रज्ञा विकसित होती है। आदर करने वालों को स्वतः सम्मान और सुख मिलता है। बिना विनय शिष्य गुरु का विश्वासपात्र नहीं बन सकता, जिस आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। प्राणी मात्र के प्रति करुणा, मैत्री, अनुकंपा का भाव विकसित करने के लिए, दुःखियों का दूख दूर करने के लिए महावीर ने सेवा को भी तप बतलाया। सम्यक् ज्ञानार्जन के लिए स्वाध्याय तप का कथन किया। स्वाध्याय का मतलब अपने आप का अध्ययन करना। हमारी आत्मा ही सदैव हमारे साथ रहने वाली है। अनित्य, अशरण, अशुचि, एकत्व आदि बारह भावना के माध्यम से स्वरूप का चिन्तन, निरीक्षण एवं समीक्षा करते रहना, आत्म-शुद्धि हेतु आवश्यक होता है। रोग का प्रारम्भ भावों से ही होता है और भावों की सभी आत्मिक एवं मानसिक शुद्धि से प्रज्ञा निर्मल होती है, विवेक जागृत होता है। स्वाध्याय से विकथा एवं व्यर्थ का वाद-विवाद और प्रमाद छूट जाता है। व्यक्ति रोग के मूल कारणों के प्रति सजग हो जाता है। यही स्वास्थ्य का राजमार्ग है। मन को एकाग्र कर आत्म साक्षात्कार हुते महावीर ने धर्म एवं शुक्ल (शुभ) ध्यान का कथन किया एवं आर्त्त और रौद्र ध्यान का निषेध किया। आत्म-रमणता के लिये कायोत्सर्ग तप का कथन किया। शरीर में रहते हुये भी शरीर के प्रति ममत्व न होने का नाम कार्योत्सर्ग होता है। इस प्रकार प्रायश्चित, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग छः प्रकार के आभ्यंतर तप होते हैं।

महावीर के दर्शन में बाह्य तप और आन्तरिक तप का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता हैं उन सभी बाह्य क्रियाओं, जिनसे आत्मा दूषित होती है, बाह्य तप से ठीक कर दिया जाता है। इसी प्रकार आत्मिक दोषों को आभ्यंतर तप से ठीक किया जाता है। बाह्य तप का उद्देश्य साधक की आभ्यन्तर तप हेतु भूमिका तैयार करना होता है। बिना आभ्यंतर तप बाह्य तप का कोई महत्व नहीं होता। बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों ही प्रकार के सम्यक् तप के सामजंस्य पूर्ण साधना से ही आत्म शुद्धि होती है।

कषाय की मंदता-साधना एवं स्वास्थ्य का मापदण्ड–

साधक कितना ही उग्र तप करें परन्तु उसमें यदि कषाय मंद न हों अर्थात् क्रोध का शमन, अहंकार का दमन, माया से मुक्ति और लोभ अथवा आसक्ति कम न हों, फिर चाहे वह पैसे के प्रति हों अथवा परिजनों अथवा यश, कीर्ति, अहं पोषण की प्रवृत्तियाँ के प्रति, तब तक तप की साधना हितकर नहीं होती।

जब तक आत्मा मन, वचन और काया से युक्त होती है, तब तक चित्त स्थिर नहीं रह सकता। अतः प्रवृत्ति करने का भाव पैदा होता रहता है, क्योंकि आत्मा के परिस्पन्दन से ऊर्जा पैदा होती है। यदि उस ऊर्जा का सम्यक् उपयोग नहीं किया जा रहा है तो, आत्मा अशुभ प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप कर्म बन्धन कर विकार ग्रस्त बन जाती है। परन्तु उसी ऊर्जा का उपयोग बाह्य और आभ्यन्तर तप में करके साधक पहले संयमित जीवन जीने लगता

है। फिर उसका सम्यक् पुरुषार्थ से प्रमाद छूटने लगता है। अर्थात् उसकी प्राथमिकताएँ बदल जाती है। जीवन में विवेक बुद्धि और सजगता का प्रादुर्भाव होने से संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता, हानि-लाभ में समभाव रहने लगता है। पर दोष दृष्टि समाप्त हो जाती है। समभाव की साधना का विकास जब पूर्ण रूप से हो जाता है तो, साधक रागद्वेष से पूर्ण विजय प्राप्त कर वीतरागी बन जाता है। साधना का विकास यात्रा का जितना क्रमबद्ध तर्क संगत विवेचन 14 गुणस्थानों के स्तरों के माध्यम से महावीर ने किया वैसा, अन्यत्र प्रायः नहीं मिलता। आत्म-साधकों को बिना पूर्वाग्रह उसका अवश्य चिन्तन, मनन और अध्ययन करना चाहिये।

महावीर के अनुसार आध्यात्मिक योगी सत्य का खोजी होता है। स्वावलंबी होता है। परावलंबी सत्य की अनुभूति नहीं कर सकता। स्वतंत्र साधक ही अपने चारों तरफ उपस्थित अज्ञात रहस्यों को जानने के लिए चेतना के सूक्ष्म स्तरों से गुजरता है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो जाये, जहाँ सत्य को मात्र जाना ही नहीं जाता अपितु जीया जाता है, तब तक उसकी साधना चलती रहती है।

साधक शरीर का तभी तक ख्याल रखता है, जब तक शरीर आत्म-विकास की साधना में सहयोग देता है। दूसरी बात साधना का आधार आत्मा होने से आत्मार्थी साधक शरीर को स्वस्थ रखने के लिये आत्मा को कर्मो से बोझिल नहीं बनाता, उपचार हेतु यम-नियम की उपेक्षा करना साधक को मंजूर नहीं होता। अतः उसका उपचार पूर्ण अहिंसक एवं अन्य दोषों से यथा संभव मुक्त होता है। साधक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सम्यक् उपयोग करता है। अर्थात् चारों की शुद्धि का विशेष ख्याल रखता है।

जो चिकित्सा पद्धतियाँ कर्म बन्धन में सहयोगी होती है, महावीर ने उनका पूर्ण निषेध किया। रोग का मूल कारण अप्राकृतिक जीवन शैली, अनियन्त्रित, स्वच्छन्द, असंयमित-मन, वचन, काया की प्रवृत्तियाँ ही होती है। अतः महावीर ने प्राकृतिक स्वावलम्बी जीवन शैली और मन, वचन और काया के संयम को सर्वोच्य प्राथमिकता दी। जितनी ईमानदारी से उनका पालन किया जाता है, उतना ही व्यक्ति स्वस्थ होता है तथा पूर्व संचित असातावेदनीय कर्म के कारण रोग की स्थिति बन भी जाती है तो वह हाय-हाय नहीं करता, परेशान नहीं होता। वह शरीर को आत्मा से अलग, नष्ट और विध्वंसन होने वाला मानता है। अतः उसकी प्राथमिकता शरीर पर नहीं रहती। शरीर से ध्यान के हटते ही शरीर के दर्द, पीड़ा आदि कष्ट नहीं पहुँचा सकते। जहाँ रोग का आदर सत्कार नहीं होता, वहां रोग अधिक दिनों का मेहमान नहीं रह सकता।

महावीर का चिन्तन पूर्णतः वैज्ञानिक-

महावीर का चिन्तन सुना-सुनाया, रटा-रटाया अथवा चुराया हुआ चिन्तन नहीं है, परन्तु अनुभूति पूर्ण सत्य पर आधारित है, जिसका उन्होंने स्वयं साक्षात्कार कर प्रतिपादन किया। इस आलेख में तो उनके स्वास्थ्य संबंधी चन्द बिन्दुओं का ही स्पर्श किया गया है।

सारी चर्चा के विश्लेषण का सारांश यही है कि महावीर का स्वास्थ्य दर्शन पूर्ण रूप से मौलिक एवं वैज्ञानिक है। अहिंसा का आधार मानकर, अनेकान्त दृष्टि से उसमें स्वास्थ्य का विवेक पूर्ण सनातन सिद्धान्तों को स्वीकारते हुए चिंतन किया गया है। महावीर ने जहाँ एक तरफ प्राण और पर्याप्तियों के संयम को स्वास्थ्य का आधार कहा, वहीं दूसरी तरफ अशुभ कर्मो एवं आश्रवों से बचने की स्पष्ट प्रेरणा दी तथा उन्हें ही रोग हेतु जिम्मेदार बतलाया। सम्यक् प्रवृत्ति एवं संवर युक्त जीवन शैली का कथन कर, महावीर ने जनमानस को स्वस्थ

जीवन जीने का राजमार्ग बतलाया। पूर्व में उपार्जित अशुभ कर्मो के रूप में होने वाले रोग के कारणों के उपचार हेतु बारह प्रकार के तपों की सम्यक् आराधना का सुझाव दिया, जिससे न केवल आत्म-शुद्धि ही होती है अपितु अधिकांश पुराने शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्ति मिलती है। शरीर के निर्माण का कारण पंच तत्त्वों को ही मानने वालों के लिये महावीर ने षट् द्रव्यों तथा नव तत्त्वों की व्याख्या कर जन्म और मृत्यु द्वारा आत्मा के विविध योनियों में भ्रमण का कारण और जीवन पर पड़ने वाले जड़ और चेतन के प्रभावों का जितना तार्किक विवेचन किया है, जो स्वास्थ्य विज्ञान की अमूल्य निधि है।

शरीर एवं रोगों की अपेक्षा रोग के मूल कारणों को दूर करने पर उन्होंने जो जोर दिया वह आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान के लिये चिन्तनीय है। अतः उनके दर्शन पर जितनी अधिक शोध की जायेगी उतने-उतने स्वास्थ्य के प्रति नये आयाम सामने आते जायेंगे। महावीर का दर्शन अपने आप में परिपूर्ण है। अतःउसकी उपेक्षा करने वाला आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान अपने आपको पूर्ण वैज्ञानिक मानने का दावा नहीं कर सकता।

सांराश यही है कि महावीर का दर्शन, अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह रूपी त्रिवेणी का समग्र जीवन्त दर्शन है, अलौकिक दर्शन है। उन्होंने आचरण में अहिंसा और व्यवहार में अनेकान्त का समावेश कर सभी दर्शनों को समुचित स्थान दिया।

महावीर की दृष्टि अनाग्रहपूर्ण थी। भाषा में पूर्ण विवेक था। साधना में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावना की सम्यक् शुद्धि का जितना महावीर ने चिन्तन किया, वैसा अन्यत्र प्रायः नहीं मिलता। साधना के मार्ग में कदम बढ़ाने की भावना रखने वाला कोई जिज्ञासु जब उनकी सेवा में उपस्थित होता, तब भी वे उसे सीधी प्रेरणा देने के बजाय यही कहते, तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, परन्तु साधना में प्रमाद मत करो। उनकी कथनी करनी में एक रूपता थी। इसी कारण उनका प्रमुख शिष्य गणधर गौतम तब तक केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका, जब तक गौतम को भगवान के प्रति राग था। अन्य दर्शनों में ऐसा दृष्टान्त शायद ही मिलता है। कहने का तात्पर्य यही है कि महावीर का दर्शन पूर्णतः राग-द्वेष से मुक्त, निष्पक्ष, सम्यक् एवं सनातन सिद्धान्तों पर आधारित होने से जीवन के प्रत्येक पक्ष की समस्याओं के समाधान का सामर्थ्य वाला है।

वैज्ञानिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सापेक्षवादी होता है और पूर्वाग्रही नहीं होता। वह स्वविवेक से रोग के मूल कारणों को समझते हुए दूर कर अपने आपको अथवा दूसरों को स्वस्थ रखने में समर्थ होता है। महावीर के जैसे सनातन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में ज्ञानी का ज्ञान, पंडित का पांडित्य, विद्वान् की विद्वत्ता, धार्मिक का धर्माचरण, भक्तों की भक्ति, चिकित्सकों की चिकित्सा, वैज्ञानिकों का वैज्ञानिक शोध, चिन्तकों का चिन्तन, लेखकों का लेखन अधूरा होता है। जो सनातन सत्य हो, यह आवश्यक नहीं है। महावीर के सिद्धान्तों से मतभेद रखना, उन्हें अस्वीकारना, चिन्तशील, प्रज्ञावान, विवेकवान व्यक्ति के लिए संभव नहीं फिर वह जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हों? सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् आचरण उसका राजमार्ग है एवं स्वस्थ जीवन उसका लक्ष्य।

बारहवां अध्याय

प्रभावशाली स्वावलम्बी अहिंसात्मक उपचार पद्धतियाँ

क्या स्वास्थ्य हेतु समान मापदण्डों का निर्धारण सम्भव है?

दुनियाँ में कोई भी दो व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से एक जैसे नहीं हो सकते हैं? तब दो रोगी एक जैसे कैसे हो सकते हैं? बाह्य लक्षणों में समानता लगने के बावजूद सहयोगी परोक्ष रोगों का परिवार अलग-अलग होता है। क्या उनके जीवन का लक्ष्य, प्राथमिकताएँ, कर्त्तव्य, आवश्यकताएँ, समस्याएँ आदि एक जैसी ही होती है? अतः बाह्य रूप से कुछ लक्षणों में समानता होने के बावजूद एक जैसी दवा अथवा उपचार करना, किसी एक रोग के नाम से रोगी का परिचय करना, सहयोगी रोगों की उपेक्षा करना कहाँ तक उचित है? जो चिन्तनशील व्यक्तियों के सम्यक् चिन्तन की अपेक्षा रखता है।

जितनी और जैसी रोग की स्थिति, उसके अनुरूप ही समाधान होता है। जिसकी जितनी बुद्धि, विवेक, पात्रता, समझ और क्षमता होती है, उसको उसी के अनुरूप समाधान अथवा परामर्श दिया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, आवास-प्रवास, आयु, व्यवसाय, कर्त्तव्य, जिम्मेदारियाँ, रूचि, स्वभाव, सहनशक्ति, सोच, शारीरिक और मानसिक क्षमता, पारिवारिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियाँ, रीति-रिवाज, धार्मिक संस्कार और मान्यताएँ, मौसम की स्थिति और बदलाव, सहयोगी एवं द्वेषी लोगों का योग आदि दैनिक जीवन में ऐसे अनेकों कारण होते हैं जो व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, व्यक्ति में तनाव अथवा प्रसन्नता का कारण बनते हैं।

क्या हमारी भावनाओं, संकल्पों, विकल्पों, आवेगों, संवेदनाओं, इन्द्रियों के विषयों की ग्रहण शक्ति की विभिन्नता का स्वास्थ्य से संबंध होता है? क्या हमारा मनोबल, सहनशक्ति, उत्साह, सकारात्मक सोच, खुशी के प्रसंग आदि स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं? विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण किए गए एक जैसे विषय जैसे- देखना, सुनना, बोलना, स्वाद, सुगन्ध, स्पर्श सभी व्यक्तियों पर एक-सा प्रभाव क्यों नहीं डालते? उनके प्रति रूचि अथवा अरुचि क्या हमारे स्वास्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं करती? कहने का आशय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उपर्युक्त बातों का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है, जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग होता है। दूसरी बात कुछ व्यक्ति वर्तमान में तो लगभग स्वस्थ होते हैं। जो व्यक्ति लम्बे समय से रोगी होते हैं, उनकी प्राथमिकताएँ होती हैं। रोग का फैलाव रोकना तथा आंशिक स्वस्थता अथवा राहत प्राप्त करना। जो व्यक्ति मरणासन पर है, असाध्य भयंकर अथवा संक्रामक रोगों से पीड़ित है अथवा किसी भी प्रकार की विकलांगता से ग्रस्त हैं, रोगों की भीषणता में आंशिक सुधार से ही वे खुशी का अनुभव कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य के अलग-अलग स्तर पर जीता है और उनके स्वास्थ्य के अपने-अपने अलग-अलग मापदण्ड होते हैं। अलग-अलग आवश्यकताएँ, प्राथमिकताएँ एवं सोच होता है। अतः स्वास्थ्य हेतु सभी के लिए एक जैसा मापदण्ड, परामर्श, निर्देश और आचरण न तो उचित ही होता है और न सम्भव।

परन्तु आज स्वास्थ्य का परामर्श देते समय अथवा रोग की अवस्था में निदान करते समय प्राय: अधिकांश चिकित्सक अथवा स्वास्थ्य विशेषज्ञ व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले प्रभावों का समग्रता से विश्लेषण नहीं करते।

पूर्ण सत्य की पूर्णत: अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। वह तो व्यक्ति के स्वयं की अनुभूति का विषय होता है। जो भी देखा जाता है, सुना जाता है, यंत्रों अथवा परीक्षणों से पता लगाया जाता है, वह सत्यांश ही होता है। ऐसा अधूरा निदान और परामर्श कैसे शत-प्रतिशत सत्य और पूर्ण हो सकता है, अपने आपको स्वस्थ रखने की कामना रखने वालों से सम्यक् चिन्तन की अपेक्षा रखता है। अत: स्वस्थ रहने हेतु व्यक्ति के स्वयं की सजगता, विवेक, बुद्धि स्वावलम्बन जीवन पद्धति तथा स्वयं द्वारा नियमित समीक्षा पूर्ण स्वस्थता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य होती है। पराधीन अथवा दूसरों पर आश्रित रहने वाला व्यक्ति स्थायी स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं कर सकता है।

स्वास्थ्य हेतु चिकित्सा के विभिन्न दृष्टिकोण-

रोग की अवस्था में आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर में वात, पित्त और कफ का असन्तुलन होने लगता है। आधुनिक चिकित्सक को मल, मूत्र, रक्त आदि के परीक्षणों में रोग के लक्षण और शरीर में रोग के कीटाणुओं तथा वायरस दृष्टिगत होने लगते हैं। प्राकृतिक चिकित्सक ऐसी स्थिति से शरीर के निर्माण में सहयोगी पंच तत्त्व-पृथ्वी, हवा, अग्नि और आकाश का असन्तुलन अनुभव करते हैं। चीनी एक्यूपंक्चर एवं एक्यूप्रेशर के विशेषज्ञों के अनुसार शरीर में यिन-यांग का असंतुलन हो जाता है। एक्यूप्रेशर के प्रतिवेदन बिन्दुओं की मान्यता वाले थेरेपिष्टों को व्यक्ति की हथेली और पगथली में विजातीय तत्त्वों का जमाव प्रतीत होने लगता है। सुजोक बायल मेरेडियन सिद्धान्तानुसार रोगी के शरीर में पंच ऊर्जाओं (वायु, गर्मी, ठण्डक, नमी और शुष्कता) का आवश्यक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। चुम्बकीय चिकित्सक शरीर में चुम्बकीय ऊर्जा का असन्तुलन अनुभव करते हैं। ज्योतिष शास्त्री ऐसी परिस्थिति का कारण प्रतिकूल ग्रहों का प्रभाव बतलाते हैं। आध्यात्मिक योगी ऐसी अवस्था का कारण पूर्वार्जित अशुभ असाता वेदनीय कर्मों का उदय मानते हैं। होम्योपेथ और बायोकेमिस्ट की मान्यतानुसार शरीर में आवश्यक रासायनिक तत्त्वों का अनुपात बिगड़ने से ऐसी स्थिति उत्पन्न होने लगती है। आहार विशेषज्ञ शरीर में पौष्टिक तत्त्वों का अभाव बतलाते हैं। शरीर में अम्ल-क्षार, ताप-ठण्डक का असन्तुलन बढ़ने लगता है। कहने का आशय यही है कि विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार शरीर में इन विकारों की उपस्थिति को रोग अथवा अस्वस्थता का कारण मानते हैं। जो जैसा कारण बतलाता है, उसी के अनुरूप उपचार और परहेज रखने का परामर्श देते हैं। सभी को आंशिक सफलताएँ भी प्राप्त हो रही है तथा सफलताओं एवं अच्छे परिणामों के लम्बे-लम्बे दावे अपनी-अपनी चिकित्सा पद्धतियों के सुनने को मिल रहे हैं। विज्ञान के इस युग में किसी पद्धति को बिना सोचे-समझे अवैज्ञानिक मानना, न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना अवश्य है कि अधिकांश चिकित्सा पद्धतियाँ रोग के मूल कारणों को समझने एवं दूर करने में अपने-आपको असमर्थ पा रही है। क्योंकि उनके चिन्तन में समग्रता का अभाव होता है। जिसका जितना ज्यादा विज्ञापन, प्रचार-प्रसार होता है, उस पद्धति का बिना सोचे समझे रोग की अवस्था में रोगी और उसके परिजनों की असजगता, अधीरता, अज्ञानवश उपचार हेतु प्राय: अन्धानुकरण हो रहा है। परिणाम स्पष्ट है कि डॉक्टरों और

अस्पतालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि के बावजूद रोग और रोगियों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो रही है, जो स्वास्थ्य के प्रति हमारी अदूरदर्शिता, गलत चिन्तन, अप्राकृतिक जीवन शैली, अज्ञान, अविवेक एवं गलत सोच का सूचक है।

आज उपचार के नाम पर रोग के कारणों को दूर करने के बजाय अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर रोग के लक्षण मिटाने का प्रयास हो रहा है। उपचार में समग्र दृष्टिकोण का अभाव होने से तथा रोग का कारण पता लगाये बिना उपचार किया जा रहा है। अर्थात् रोग से राहत ही उपचार का लक्ष्य बनता जा रहा है। अतः अच्छा स्वास्थ्य रखने वालों को स्वास्थ्य के मूलभूत सनातन प्राकृतिक साधारण नियमों का ईमानदारीपूर्वक सजगता एवं स्वविवेक से पालन करना चाहिये। जितना-जितना हमारा प्रकृति के सात तालमेल होगा, उतना-उतना हम स्वस्थता के समीप होते जाएंगे। आकस्मिक दुर्घटनाओं को छोड़ अन्य परिस्थितियों में रोग का सही कारण जानने का भी प्रयास करना चाहिये, ताकि रोग की पुनरावृत्ति और उपचार के दुष्प्रभावों से स्वयं को बचाया जा सके।

उपचार की आवश्यक प्राथमिकताएँ-

स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है कि हम स्वाभाविक प्राकृतिक जीवन जीएँ। रोग उत्पन्न करने वाले कारणों से यथा सम्भव बचने का प्रयास करें। शरीर, मन और आत्मा के विकास में जो सहायक हैं, ऐसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण के संवर्द्धन हेतु सतत प्रयत्नशील रहें। शरीर, मन और आत्मा पर जो विकार हैं, उन्हें प्राथमिकता के आधार पर दूर करने का सम्यक् पुरुषार्थ करने से ही हम स्थायी स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी रोग उत्पन्न हो जायें तो उपचार करते अथवा करवाते समय इस बात का अवश्य विवेक रखें कि उपचार यथासंभव अहिंसक हो, स्वावलम्बी हो, प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने वाला अथवा उनकी स्वाधीनता का हस्तक्षेप करने वाला न हो। यदि उपर्युक्त मापदण्डों की उपेक्षा की जायेगी तो शरीर अथवा मन का उपचार आत्मा को कर्म बंधनों से जकड़ देगा, जिसका भविष्य में अधिक दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा। ऐसा प्रयास कर्जा चुकाने के लिये ऊँचे ब्याज पर कर्जा लेने के तुल्य होगा। नौकर को सेठ से अधिक महत्त्व देने के समान अविवेकपूर्ण होगा। अतः शरीर का उपचार करते समय आत्मा की उपेक्षा न हों, इस बात का विशेष ख्याल रखना चाहिये। ऐसे ही उपचारों का संक्षिप्त सैद्धान्तिक विवरण और चन्द विधियाँ यहाँ बतलाई जा रही है-

उपचार प्रारम्भ करने से पूर्व बाह्य शारीरिक संतुलन जैसे-पैरों, गर्दन, नाभि, मेरुदण्ड आदि का आवश्यक होता है। इन असंतुलनों को दूर किये बिना कोई भी उपचार स्थायी और प्रभावशाली नहीं हो सकता। तत्पश्चात् पूर्ण सजगता के साथ रोग का सही निदान आवश्यक है।

निदान संबंधी चिन्तन योग्य बातें

जितना निदान आंशिक अथवा अधूरा होगा उतना ही उपचार भी अपूर्ण होगा जो भविष्य में अधिक हानिकारक हो सकता है। ऐसा उपचार मात्र रोग, दर्द, पीड़ा में तात्कालिक राहत दिला सकता है, पूर्ण रोग मुक्ति नहीं। निदान हेतु रोगी की सजगता, चिकित्सक से रोग के कारणों पर सम्यक् तर्क पूर्ण चर्चा आवश्यक है। क्योंकि आधुनिक चिकित्सक भी रोग में रोगी के मानसिक और भावात्मक कारणों को समझने में असमर्थ होने के कारण उनकी पूर्ण उपेक्षा करते प्रायः पाये गये हैं।

क्या आधुनिक निदान पूर्ण और सही होता है ?

शरीर में पंच तत्त्व का अपना-अपना परिवार होता है तथा उस तत्त्व अथवा उससे संबंधित ऊर्जा के असंतुलन से परिवार के सभी सदस्य किसी न किसी रूप में प्रभावित होते हैं। ठीक उसी प्रकार जब पंच तत्त्वों के अनुपात में द्रव्य, काल और भाव की आवश्यकतानुसार असंतुलन हो जाता है तो, रोग होने की संभावना बढ़ती है। हमारे शरीर में पांच इन्द्रियाँ, मन और मस्तिष्क उस असंतुलन से अलग-अलग ढंग से प्रभावित होते हैं। जो हमारे चित्त, स्वभाव और जीवन शैली का निर्धारण करते हैं। रोग का निदान करते समय क्या आधुनिक चिकित्सक उन प्रभावों को महत्त्व देते हैं ? मानसिक स्थिति को समझे बिना नादान कैसे सही हो सकता है, चिन्तन का प्रश्न है ?

क्या शरीर में अकेला रोग हो सकता है ?

हमारे शरीर में प्रायः सैकड़ों रोग होते हैं। जिनकी उपस्थिति का हमें आभास तक नहीं होता है। हम तब तक रोग को रोग नहीं मानते, जब तक उनके लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो जाते या हमें परेशान करने नहीं लग जाते अथवा रोग हमारी सहनशक्ति से परे नहीं होने लगता है।

रोग के जो लक्षण बाह्य रूप से प्रकट होते हैं, अथवा पेथालोजिकल टेस्टों एवं यंत्रों की पकड़ में आते हैं, वे लक्षण तो सामान्य ही होते हैं, जिनके आधार पर प्रायः रोगों का नामकरण किया जाता है। चिकित्सा पद्धतियाँ के अधिकांश चिकित्सक भी अपने सिद्धान्तों के अनुरूप निदान करने के स्थान पर उसी निदान को शत-प्रतिशत सही मान अपने-अपने ढंग से उन रोगों का उपचार करते हैं। पुराने अनुभवी वैद्य रोगी की नाड़ी देखकर रोग का सही निदान करने में समक्ष थे। परन्तु आज आयुर्वेद में भी निदान का वह आधार गौण होता जा रहा है। इसी कारण उसका प्रभाव भी दिन प्रतिदिन घटता जा रहा है। ठीक उसी प्रकार एक्यूप्रेशर की सुजोक अथवा रिफ्लेक्सोलोजी के अनुसार हथेली और पगथली के जिन स्थानों पर दबाव देने से दर्द होता है, वे सारे स्थान शरीर में रोग के पारिवारिक सदस्य होते हैं, जितना अधिक दर्द उतना रोग निवारण हेतु प्रभावशाली बिन्दू। परन्तु आज अधिकांश एक्यूप्रेशर चिकित्सक भी सहज, सरल, सही निदान के तरीकों से दूर हट, आधुनिक निदान के आधार पर प्रदर्शित रोग का ही उपचार करते हैं। परिणाम स्वरूप उपचार की प्रभावशीलता न केवल कम हो जाती है, अपितु उपचार आंशिक होने से लम्बा भी हो जाता है।

क्या समान लक्षणों वाले दो रोगी एक जैसे हो सकते हैं ?

कहने का तात्पर्य यही है कि दुनिया में जब दो व्यक्ति एक जैसे नहीं हो सकते, तब दो रागियों और उनका निदान एक जैसा कैसे हो सकता है ? वास्तव में आज लक्षणों पर जिन रोगों का नामकरण किया जाता है, वे अनेक रोगों के समूह के नेता की भांति होते हैं। जिन्हें सैकड़ों अप्रत्यक्ष रोगों का सहयोग प्राप्त होता है। जनतन्त्र में नेता को हटाने का सरलतम उपाय है कि उसके सहयोगियों को उनसे अलग करना। सहयोगियों को अलग किये बिना नेता को हटाना सरल नहीं होता। ठीक उसी प्रकार निदान करते समय, यदि अप्रत्यक्ष रोगों की उपेक्षा करें तो, निदान और उस पर आधारित उपचार आंशिक अथवा अधूरा ही होता है।

क्या भाव निदान को प्रभावित करते है ?

निदान में भावों और मानसिक स्थिति के अनुसार ही अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ अपने हारमोन्स पैदा करती हैं, इसी कारण एक ही व्यक्ति के अलग-अलग समय पर किये जाने वाले मल, मूत्र, ई.सी.जी. आदि पथालोजिकल

टेस्ट सदैव एक जैसे नहीं होते। आधुनिक चिकित्सा पद्धति के निदान का यहीं मूलाधार होता है। जब रोग का आधार ही बदलता रहे तो ऐसे निदान कैसे विश्वसनीय, सही, प्रभावशाली और वैज्ञानिक हो सकते हैं?

निदान में आयु का महत्त्व–

कोई भी रोग रातों–रात अपना विकराल रूप धारण नहीं करता। जिस प्रकार बीज धीरे–धीरे वृक्ष का रूप लेता है उसी प्रकार रोग भी धीरे–धीरे अपना प्रभाव दिखाता है। शरीर में वायु, गर्मी, नमी, शुष्कता और ठण्डक का जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अलग–अलग अनुपात होता है। जिस अवस्था में रोग होता है, रोग के कारणों में उस अवस्था से संबंधित ऊर्जा की प्रभावी भूमिका होती है। जैसे बच्चा चंचल न हो, युवाओं में जोश न हों, तो असंतुलन के कारण माने जाते हैं। अतः एक ही प्रकार की लक्षणों से परिभाषित रोगों के कारण अलग–अलग होते हैं। उनका अलग–अलग अंगों की मुख्य अथवा सहायक ऊर्जा से भी अलग–अलग संबंध होता है। अतः सही निदान करते समय व्यक्ति की आयु के प्रभाव का भी महत्त्व होता है।

मौसम का प्रभाव–

अलग–अलग जलवायु में अलग–अलग ऊर्जाएँ प्रभावशाली होती है। अतः रोग का निदान करते समय उस जलवायु से संबंधित प्रमुख अंग में ऊर्जा असंतुलन की रोग के कारणों में मुख्य भूमिका होती है। एक जैसे बाह्य लक्षण वाले रोगों में बसन्त ऋतु में, यकृत–पित्ताशय, गर्मी में हृदय–छोटी आंत, वर्षा अथवा बदलते मौसम में तिल्ली–आमाशय, सर्दी की मौसम में गुर्दे–मूत्राशय आदि में असंतुलन रोग का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कारण हो सकता है।

शारीरिक ध्वनियाँ और रोग–

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर से अलग–अलग प्रकार की आवाजें निकलती हैं। जैसे कोई निद्रा में खर्राटें लेता है। तो किसी को डकारें, जम्भाईयाँ, हिचकियाँ, छीकें, खांसी आती है। किसी की आवाज बदल जाती है तो, किसी के आवाज के साथ गैस विसर्जित होती है। किसी की आवाज मधुर सुरीली होती है तो, किसी की कर्कश और मोटी क्यों? शरीर में इन ध्वनियों के स्पन्दन का नियन्त्रण कौन और कैसे करता है? क्या इन ध्वनियों का हमारे स्वास्थ्य से कोई संबंध होता है? क्या इन ध्वनियों को मन चाहें घटाना, बढ़ाना संभव होता है? क्या निदान में इनकी समीक्षा होती है?

रंग और रोग–

कोई काला तो कोई गोरा या अन्य रंग वाला क्यों? कभी–कभी शरीर के कुछ भाग काले, नीले या लाल क्यों हो जाते हैं? कभी–कभी त्वचा का रंग क्यों उड़ जाता है? क्या आधुनिक परीक्षणों में इस परिवर्तन के कारणों का निदान संभव होता है? क्या इन परिवर्तनों का रोग से कोई संबंध होता है? इन रंगों के परिवर्तन में कौन से अंग की प्रभावी भूमिका होती है? इसके अतिरिक्त किसी को लाल तो किसी को पीला, हरा, नीला आदि रंग अच्छे या बुरे क्यों लगते हैं? रंगों की पसन्द या नापसन्द का स्वास्थ्य से संबंध होता है? क्या निदान करते समय इस तथ्य की उपेक्षा तो नहीं होती?

स्वाद और रोग– किसी व्यक्ति को खट्टा तो किसी को मीठा, किसी को नमकीन तो किसी को चटपटा, क्यों अच्छा लगता है? क्या इन स्वादों की पसन्द या अरुचि का स्वास्थ्य से कोई संबंध होता है? मधुमेह वालों को मिठाई और

रक्तचाप के रोगियों को नमक छोड़ने की क्यों सलाह दी जाती है? शरीर में उन स्वादों का नियन्त्रण कौन करता है? कया अपनी इच्छानुसार जब चाहें स्वादों के प्रति लगाव बदला जा सकता है? स्वादों की रूचि या अरूचि का भी रोग से संबंध होता है।

गंध और रोग–

चन्द व्यक्ति अत्यधिक सुगन्ध प्रिय होते हैं। चन्द तनिक भी दुर्गन्ध सहन नहीं कर सकते। कुछ व्यक्तियों को दूर में कुछ भी जल रहा हो, सहज आभास हो जाता है, तो कुछ लोगों को समीप में जलने का भी आभास नहीं होता। किसी के शरीर से एक प्रकार की गंध आती है और अन्य के शरीर में दूसरे प्रकार की। ऐसा क्यों? क्या शरीर से निकलने वाली तथा बाहिर से आने वाली गन्धों के प्रति रुचि अथवा अरुचि के भाव का स्वास्थ्य से कोई संबंध नहीं होता है? क्या गन्ध का नियन्त्रण एक मात्र नाक से संबंधित है? क्या गन्ध के प्रति हमारी प्रकृति को दवा द्वारा मन चाहा बदलना संभव है? गंध निदान को प्रभावित करती है?

शरीर से विसर्जित होने वाले तरल पदार्थों की रोग निदान में भूमिका–

किसी व्यक्ति को बैठे–बैठे ही पसीना आता है तो अन्य को कठिन परिश्रम अथवा दौड़ने के बावजूद भी नहीं आता। ऐसा क्यों? किसी की आंखों में बिना कारण आंसू आ जाते हैं। किसी के थूक, कफ अथवा पसीना ज्यादा आता है, तो वैसे ही लक्षणों वाले अन्य रोगी को कभी–कभी कम भी पसीना आता है? क्या हम जैसा चाहें, जिस मार्ग में चाहें, तरल विजातीय पदार्थों का विसर्जन अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं? क्या विजातीय तरल विभिन्न द्रवों के विसर्जन तरीकों का आपसी संबंध होता है? क्या पेथलोजीकल अथवा अन्य परीक्षणों द्वारा उनके कारणों का पूर्ण निदान संभव होता है?

निदान में अंगों में प्रभावित होने वाली ऊर्जा प्रवाह के क्रम की भूमिका–

शरीर में स्थित मेरेडियनों में ऊर्जा के प्रवाह का एक निश्चित क्रम होता है। प्रत्येक मेरेडियन में प्रवाह किसी अन्य मेरेडियन से आता है और किसी दूसरी मेरेडियन में आगे जाता हैं। अतः रोग की अवस्था में संबंधित अंग में ऊर्जा प्रवाह को संतुलित करते समय उसके आगे और और उसके बाद में आने वाले अंगों पर पड़ने वाले रोग के लक्षणों की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये ताकि निदान सही हो सके। जैसे फेंफड़े मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह तिल्ली मेरेडियन से आता है और आगे बड़ी आंत मेरेडियन में जाता है। अतः दमा अथवा फेंफड़ों से संबंधित अन्य रोगों में तीनों मेरेडियनों में ऊर्जा प्रवाह नियमित और संतुलित प्रायः होता है। अन्य प्रकार के पुराने दमा का कारण प्राय: बड़ी आंत मेरेडियन में ऊर्जा प्रवाह का असंतुलन भी हो सकता है।

हृदय मेरेडियन में ऊर्जा गुर्दे मेरेडियन से आती हैं और छोटी आंत मेरेडियन में जाती हैं। अतः तीनों एक दूसरे से संबंधित होते हैं। इस प्रकार पेरीकार्डियन मेरेडियन में ऊर्जा लीवर मेरेडियन से आती है और ट्रीपल वार्मर मेरेडियन में जाती हैं। स्पलीन मेरेडियन पित्ताशय मेरेडियन से आती है और फेंफड़े में जाती हैं। इसी कारण प्राणायाम और पाचन तंत्र के संतुलन से मधुमेह जो स्पलीन से विशेष संबंधित होता है, नियन्त्रित किया जा सकता हैं। गुर्दे मेरेडियन में प्रवाह मूत्राशय से आता हैं और हृदय में जाता हैं। लीवर मेरेडियन में प्रवाह आमाशय मेरेडियन से आता है और पेरीकार्डियन मेरेडियन में जाता हैं। अतः पुराने रक्तचाप और हृदय रोग का कारण गुर्दे मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह का असंतुलन भी हो सकता है।

निदान में रोग के समय की भूमिका-

रोग का निदान करते समय काल का भी बहुत अधिक महत्व होता है। जब रोग तीव्र अवस्था में होता है उस समय कौनसी मेरेडियन में ऊर्जा का सर्वाधिक प्रवाह होता है और कौनसी मेरेडियन में न्यूनतम। यदि रोग का कारण अंग की निष्क्रियता हों तो जब उस मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम होता है, रोगी अधिक परेशान होता है। परन्तु जब रोग का कारण अंग की अत्यधिक सक्रियता से होता है तो, जब उससे संबंधित मेरेडियन में ऊर्जा का अधिकतम प्रवाह होता है तब रोगी को अधिक बैचेनी होती है।

शरीर में चौबीसों घंटें सभी मेरेडियनों में ऊर्जा प्रवाह की एक जैसी स्थिति नहीं रहती। अतः दिन अथवा रात में जब किसी अंग में ऊर्जा का प्रवाह सर्वाधिक अथवा न्यूनतम होता है उस क्रम में आगे और पीछे आने वाले अंगों पर भी प्रत्यक्ष रूप से रोग का प्रभाव पड़ता हैं। जैसे फेंफड़े में सर्वाधिक ऊर्जा का समय प्रातः 3 बजे से 5 बजे तक का लगभग होता हैं। फेंफड़े से पूर्व लीवर में रात्रि एक बजे से तीन बजे ऊर्जा का सर्वाधिक प्रवाह और बड़ी आंत में प्रातः 5 बजे से 7 बजे के मध्य होता हैं। अतः फेंफड़े संबंधित रोगों का यकृत और बड़ी आंत के कार्यो पर भी प्रभाव पड़ सकता है। दूसरी बात जब फेंफड़ों में निम्नतम ऊर्जा का प्रवाह दोपहर 3 बजे से 5 बजे के लगभग होता हैं, उसी समय गुर्दे में अधिकतम ऊर्जा का प्रवाह होने से रोग की स्थिति में फेंफड़े और गुर्दो में असंतुलन भी बिगड़ सकता है। कहने का तात्पर्य यही है कि निदान करते समय चिकित्सक का दृष्टिकोण जितना व्यापक और समग्र होगा उतना ही निदान सही होता है।

निदान को प्रभावशाली बनाने में सहयोगी-सामान्य जानकारी-

असाध्य एवं पुराने संक्रामक रोगों का उपचार करने से पूर्व उपर्युक्त चर्चित अन्य बातों के साथ-साथ यदि चिकित्सक द्वारा निम्न बातों की भी जानकारी लेने से निदान अधिक सही एवं सरल हो जाता है।

1. रोगी के रोग का पिछला इतिहास- जन्म से अथवा उसके बाद भूतकाल में घटित दुर्घटना अथवा विशेष रोग संबंधी जानकारी।
2. रोगी की मुख्य शिकायते।
3. पैतृक रोग एवं अन्य परिजनों के रोग संबंधी जानकारी।
4. व्यवसायिक वातावरण एवं कार्य संबंधी जानकारी।
5. शौक अथवा दुर्व्यसनों के सेवन संबंधी जानकारी।
6. पारिवारिक स्थिति।
7. आवास व्यवस्था।
8. भूख, प्यास, मल एवं मूत्र त्याग संबंधी सामान्य जानकारी।
9. खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, चिन्तन-मनन, सजगता स्वभाव, संस्कारों, निर्णय लेने की क्षमता एवं विवेक संबंधी जानकारी।
10. दृढ़ता, मनोबल की स्थिति, तर्क शक्ति आदि की जानकारी।

उपर्युक्त बातों की जितनी सही जानकारी प्राप्त होती है, उतना ही निदान प्रमाणिक और विश्वसनीय हो जाता हैं। अतः निदान करते समय चिकित्सक का स्वविवेक, अनुभव और समग्र दृष्टिकोण की अहं भूमिका होती है।

एक जैसे लक्षणों का संबंध शरीर के अलग-अलग अंगों से हो सकता है-

जब तक रोग के मूल कारण को मालूम नहीं किया जाता है, तब तक निदान कैसे विश्वसनीय और सही हो सकता है? ऐसा उपचार स्थायी एवं प्रभावशाली कैसे हो सकता है? ऐसे ही कुछ लक्षणों से विभिन्न अंगों के संबंध का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है-

	रोग के लक्षण	**सम्बन्धित अंग**
1.	मूत्र संबंधी रोग गुर्दे-	मूत्राशय में गड़बड़ी के कारण
2.	मल त्याग संबंधी रोग-	फेंफड़े -बड़ी आंत अथवा यकृत-पित्ताशय में गड़बड़ी के कारण।
3.	नाड़ी की गति सम्बन्धी रोग-	हृदय-छोटी आंत, पेरीकार्डियन-ट्रिपल वार्मर में गड़बड़ी के कारण।
4.	श्वसन संबंधी रोग-	फेंफड़े-बड़ी आंत में गड़बड़ी के कारण।
5.	पसीना संबंधी रोग-	हृदय-छोटी आंत अथवा फेंफड़े-बड़ी आंत या गुर्दे-मूत्राशय में गड़बड़ी के कारण।
6.	भूख संबंधी रोग-	यकृत-पित्ताशय अथवा तिल्ली-पेन्क्रियाज/आमाशय में गड़बड़ी के कारण।
7.	वजन संबंधी रोग-	यकृत-पित्ताशय या तिल्ली-पेन्क्रियाज/ आमाशय अथवा पेरिकार्डियन-ट्रिपल वार्म में गड़बड़ी के कारण।
8.	भावनाओं संबंधी रोग-	हृदय-छोटी आंत अथवा पेरिकार्डियन-मेरूदण्ड (ट्रिपल वार्मर) में असंतुलन के कारण।

क्या आधुनिक निदान पूर्णतः वैज्ञानिक है?

कहने का तात्पर्य यही है कि उपर्युक्त सारे तथ्य शरीर में असंतुलन पैदा कर रोग उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। सम्पूर्ण आरोग्य के लिये रोग का सही और पूर्ण निदान आवश्यक होता हैं। किसी भी चिकित्सा पद्धति द्वारा एक पक्षीय सिद्धान्तों पर आधारित निदान आंशिक, अधूरा, अपूर्ण ही होता है। ऐसे निदानों को वैज्ञानिक मानना कितना अदूरदर्शिता पूर्ण है? जो प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी के लिये चिन्तन का विषय है। अतः निदान करते समय हमें अनेकान्त और समग्रता का दृष्टिकोण रखना होगा ताकि निदान सही और उपचार प्रभावशाली हो।

स्वावलम्बी चिकित्सा प्रभावशाली क्यों?

मानव शरीर अपने आप में परिपूर्ण है। इसमें अपने आपको स्वस्थ रखने की पूर्ण क्षमता होती है। हम अनुभव करते हैं कि चेतनाशील प्राणियों में मनुष्य जाति का प्रतिशत तो एक से भी कम होता है। बाकी 99 प्रतिशत जीव अपना सहज जीवन जीते हैं। वे उपचार हेतु न तो किसी चिकित्सक से परामर्श ही करते हैं तथा न किसी प्रकार की दवा भी लेते हैं। हमें चिन्तन करना होगा कि जो शरीर अपनी कोशिकाएँ, रक्त, मांस, मज्जा,

हड्डियाँ, चर्बी वीर्य आदि अवयवों का निर्माण स्वयं करता है, जिसे आधुनिक विकसित विज्ञान पूरी कोशिश के बावजूद नहीं बना पाया। ऐसे स्वचालित, स्वनिर्मित, स्वनियन्त्रित शरीर में, स्वयं के रोग को दूर करने की क्षमता न हों, यह कैसे संभव हो सकता है?

परन्तु आज हमें चिकित्सक और दवा पर जितना विश्वास है, उतना ही अपने आपकी क्षमताओं पर नहीं है। जिसका दुष्परिणाम है कि साधारण से रोगों में हम स्वयं को अपने अविवेक, अज्ञान, असजगता के कारण चिकित्सकों की प्रयोगशाला बनाते तनिक भी संकोच नहीं करते। शरीर अविभाज्य है। अतः शरीर के किसी भाग की खराबी अथवा असंतुलन से पूरा शरीर प्रभावित होता है। अतः रोगी का उपचार लक्षणों पर आधारित रोगों के स्थान पर पूर्ण शरीर का होना चाहिये। इस दृष्टि से आज अधिकांश चिकित्सकों की सोच मात्र सत्यांश ही होती है। उसमें समग्र दृष्टिकोण का अभाव होने से उपचार स्थायी होता है। आरोग्य शास्त्र में तन, मन और चित्त, तीनों का एक साथ उपचार होता है, अर्थात् समग्रता से विचार किया जाता है। शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति कम न हों, इस बात को प्राथमिकता दी जाती है। जबकि रोग शास्त्र में रोग के कारणों की अपेक्षा कैसे राहत मिले, प्रमुख होता है।

शरीर का विवेक पूर्ण सजगता के साथ उपयोग करने की विधि स्वावलम्बी जीवन की आधारशिला होती है। मानव की क्षमता, समझ और विवेक जागृत करना उसका उद्देश्य होता है। उपचार में रोगी की भागीदारी मुख्य होती है। अतः रोगी उपचार से पड़ने वाले प्रभावों के प्रति अधिक सजग रहता है, जिससे दुष्प्रभावों की सम्भावना प्रायः नहीं रहती। ये उपचार बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, शरीर विज्ञान की विस्तृत जानकारी न रखने वाला साधारण व्यक्ति भी आत्म-विश्वास से स्वयं कर सकता है।

अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियाँ हिंसा पर नहीं अहिंसा पर, विषमता पर नहीं समता पर, साधनों पर नहीं साधना पर, दूसरों पर नहीं स्वयं पर आधारित होती है। वे व्यक्ति को सजग और स्वाधीन बनाती है। उससे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, दृश्य-अदृश्य रोगों का उपचार एक साथ सरलता से किया जा सकता है। एक जैसे लक्षणों का संबंध अलग-अलग अंगों से हो सकता है।

अतः निदान करते समय इस बात की सजगता और विवेक रखना आवश्यक होता है कि बाह्य रूप से प्रकट होने वाले लक्षणों का संबंध कौन से अंग से होता है? आजकल चिकित्सकों के समग्र चिन्तन का अभाव होने से, मात्र पसीना आने अथवा छाती में दर्द के कारण कभी-कभी रोगी का हृदय ठीक होने पर भी उसे, हृदय रोगी बतला दिया जाता है, जिससे रोगी की मानसिकता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। निदान करते समय सम्पूर्ण शरीर को एक इकाई के रूप में समझने से ही निदान सही हो सकता है।

तेरहवां अध्याय

मस्तिष्क शोधन की क्रिया

(Mind Cleansing Exercise)

स्वास्थ्य और मस्तिष्क का सीधा संबंध होता है। मस्तिष्क में शरीर के प्रत्येक भाग के प्रतिनिधि होते हैं। चेतना के केन्द्र भी वैसे तो सारे शरीर में फैले हुए रहते हैं परन्तु मुख्य केन्द्र मस्तिष्क में ही होते हैं। अतः शल्य चिकित्सा करते समय मस्तिष्क को संवेदन शून्य बना दिया जाता है, जिससे दर्द की अनुभूति नहीं होती। हमारी सभी जीवनी शक्तियों के संचालन में मस्तिष्क की अहं भूमिका होती है। हमारा चित्त सर्व प्रथम मन और भाव के माध्यम से मस्तिष्क को प्रभावित करता है। मन के कार्य कलापों, जैसे- स्मृति, कल्पना, चिन्तन, मनन में भी मस्तिष्क के संतुलन और स्वच्छता की आवश्यक होती है। अतः यदि किसी विधि द्वारा मस्तिष्क का शोधन कर दिया जाये तो विस्मृत स्मृतियाँ पुनः ताजा हो सकती है। प्राण ऊर्जा के प्रवाह में आने वाले अवरोध दूर हो सकते हैं तथा मन में शांति, निर्भयता, तनाव मुक्ति जैसी उपलब्धियाँ सहज प्राप्त होने लगती हैं। पूर्वाग्रह समाप्त होने लगते हैं एवं व्यक्ति बच्चे के समान सरल और निस्पृह होने लगता है।

इस प्रक्रिया में सोऽहं के उच्चारण के साथ अलग-अलग अवधि तक लयबद्ध ढंग से अलग-अलग गति के साथ श्वास-निःश्वास का अभ्यास किया जाता है। इस हेतु पहले केसट में 2-3 मिनट के लिये बारी-बारी से धीरे-धीरे तो कभी मध्यम गति से तो कभी तेज, तो कभी बहुत जल्दी से सोऽहं का उच्चारण भर लिया जाता है। उच्चारण बदलने का कोई निश्चित क्रम नहीं होता। अर्थात् 2-3 मिनट के लिए पहले धीरे-धीरे, तो कभी तेज, तो कभी मध्यम, कभी बहुत तेज तो फिर एक दम धीमा। इस प्रकार लगभग आधा घंटें के लगभग सोऽहं उच्चारण का टेप भर लिया जाता है।

मस्तिष्क शोधन करने हेतु प्रातःकाल का समय श्रेष्ठ होता है। परन्तु खाना खाने के 2-3 घंटे बाद इसे कभी भी किया जा सकता है। सो के उच्चारण के साथ श्वास लिया जाता है। और हम् के उच्चारण के साथ पूर्ण निःश्वास किया जाता है। हृदय और दमा के रोगियों के लिए तेज एवं बहुत तेज गति से सोऽहं के साथ-साथ लयबद्ध ढंग से श्वास और निःश्वास करने का प्रारम्भ में निषेध किया गया है। परन्तु धीमी और मध्यम गति से इस क्रिया को किया जा सकता है।

इस प्रक्रिया हेतु शांत, एकान्त, स्वच्छ वातावरण में आराम से शिथिलिकरण की अवस्था में लेट जाना चाहिये। फिर टेप की केसट को चालू करके सोऽहं की ध्वनि के साथ श्वास को लयबद्ध ढंग से लेना प्रारम्भ करें। श्वास लेते समय पेट पूरा फूलना चाहिये और निःश्वास के समय पेट को अधिक से अधि अन्दर की तरफ सिकोड़ना चाहिये। यदि लय टूट जाये तो पुनः लयबद्ध होने हेतु सजगता से प्रयास करना चाहिये। जैसे ही सोऽहं उच्चारण की लय बदले, उसी के अनुरूप श्वास की गति बदल देनी चाहिये। इस प्रकार श्वास और सोऽहं के उच्चारण में तालमेल होने से व्यक्ति का ध्यान श्वास पर केन्द्रित होने लगता है। परिणाम स्वरूप प्राण ऊर्जा के प्रवाह में आने वाले अवरोध तथा विजातीय तत्त्व मस्तिष्क में अपना स्थान छोड़ने लगते हैं। आधा घंटें पश्चात् जब केसट में भरा सोऽहं का उच्चारण बंद हो जाता है तों, शिथिलिकरण की मुद्रा में पुनः आ जाना चाहिये। इस

प्रक्रिया से व्यक्ति के मन में जो भी नकारात्मक भाव होते हैं, वे सघन हो मस्तिष्क में जमा हो जाते हैं तथा व्यक्ति की कुछ करने की इच्छा प्रबल होने लगती है। अतः उस समय उन भावनाओं को दबाने के बजाय, मन जो करना चाहे, कर लेना चाहिये। अर्थात् हँसने की इच्छा हो तो खुलकर हँसना चाहिये और रोने की इच्छा हो तो बिना संकोच रो लेना चाहिये। चिल्लाने अथवा अन्य कोई भी इच्छा अथवा भावना हो, उसे नहीं दबाना चाहिए। जैसी इच्छा हो उसकी स्वयं के माध्यम से पूरा करने से मस्तिष्क एक दम शांत, तनाव मुक्त और स्वच्छ हो जाता है जिससे, स्मृतियाँ ताजा होने लग जाती है, व्यक्ति के अन्दर में नये जीवन का संचार होने लगता है। अतः बहुत से योगी इस प्रक्रिया को पुनर्जन्म वाला व्यायाम (Rebirth exercise) भी कहते हैं।

नियमित रूप से इस क्रिया को करने से व्यक्ति मानसिक रोगों से त्रस्त होने की संभावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं और शरीर में यदि रोग हों तो, वे शीघ्र दूर होने लगते हैं।

चौदहवां अध्याय

शरीर के लिए उपयोगी खाद्य पदार्थों के परीक्षण की विधि

प्रायः हम अनुभव करते हैं कि सभी व्यक्तियों को सभी वस्तुएँ अनुकूल नहीं होती। किसी को किसी वस्तु से एलर्जी होती है अथवा ताकत मिलती है, जबकि उसी पदार्थ से अन्य व्यक्ति में वैसा लाभ नहीं होता। किसी को दूध लाभप्रद होता है, जबकि किसी अन्य को दूध का पाचन भी कठिन होता है। ऐसा क्यों? प्रत्ये व्यक्ति के शरीर में उपलब्ध अवयवों की मात्रा का अनुपात अलग-अलग क्यों होता है?

कौनसी वस्तु किसके लिये कितनी लाभप्रद अथवा हानिकारक होती है, यदि इस बात का पता चल जाये, तो अनुपयोगी पदार्थो के सेवन से सहज ही बचा जा सकता है जो स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक है।

आज का युग तरंगों के प्रभाव से पूर्ण परिचित है। प्रत्येक पदार्थ से उसके गुण धर्म के आधार पर तरंगें निकलती है। यदि उन तरंगों से शरीर की ताकत बढ़ती है तो, वे पदार्थ हमारे लिये उपयोगी हैं। परन्तु जो तरंगें हमारी शक्ति घटाती हैं, वे पदार्थ हमारे लिये अनुपयोगी होते हैं। जो व्यापारी अपने व्यवसाय में हेराफेरी करते हैं, यदि उनके दूकान के बाहर कोई इंकमटेक्स अथवा सेल्स टेक्स ऑफिसर की गाड़ी ठहरती है तो, उन्हें तनाव क्यों हो जाता है? पुलिस को देखते ही अपराधी क्यों घबराने लगता है? जितना प्रेम माता को अपने बच्चे से होता है, भले ही उसका रूप कैसा ही क्यों न हो, उतना प्रेम अन्य बच्चों से क्यों नहीं होता? हमारे शरीर के चारों तरफ आभा मंडल अथवा चुम्बकीय क्षेत्र होता है। जिस पदार्थ की तरंगें उस आभा मंडल के अनुकूल होती है, उसे शक्तिशाली बनाती है, वे वस्तुएँ और प्रवृत्तियाँ मानव के लिए हितकारी होती है। परन्तु जिस तरंगों से आभा मंडल विकृत और अशुद्ध बनता है, वे पदार्थ और क्रियाऐं हमारे लिए अनुपयोगी और अकरणीय होती है। जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसकी प्राप्ति कर प्रसन्नता क्यों होती है? जो वस्तु आवश्यक न हो, हानिकारक हो, उसको हम क्यों स्वीकार करते? कारण स्पष्ट है जो पदार्थ की तरंगें हमारे आभा मंडल अथवा शरीर के चारों तरफ स्थित चुम्बकीय क्षेत्र को ताकतवर बनाती है। वे पदार्थ हमारे लिये उपयोगी होते हैं तथा जो तरंगें शरीर की तरंगों से मिल

उसके प्रभाव को कम कर देती हैं, वे पदार्थ हमारे लिये उपयोगी नहीं हो सकते। इसी सिद्धान्त के आधार पर हम खाद्य पदार्थों एवं दवाओं का परीक्षण कर सकते हैं।

प्रयोग– एक वजन करने वाली मशीन लें। फिर अपनी बायीं हथेली को हृदय की धड़कन वाले स्थान से स्पर्श कर, दूसरी हथेली से वजन करने वाली मशीन पर जितना ज्यादा से ज्यादा दबाव दे सकते हैं, दे और अपनी ताकत को मशीन से मांप लें। अब जो वस्तु अथवा दवा जिसका परीक्षण करना है, उसे बायीं हथेली में लेकर अथवा कागज में लेकर पुनः धड़कन वाले स्थान पर हल्का सा दबाव से स्पर्श करें। तरल पदार्थ का परीक्षण करना हो तो कांच के बर्तन में लेकर धड़कन वाले स्थान पर स्पर्श करें तथा दाहिनी हथेली को पहले की भांति वजन तोलने वाली मशीन पर अधिकतम दबाव देकर पुनः अपनी ताकत का मांप करें। अगर आपकी ताकत में वृद्धि होती है तो जिस वस्तु का आप बायें हाथ में परीक्षण कर रहे हैं, वह वस्तु आपके लिये स्वास्थ्यवर्द्धक होती है। परन्तु इसके विपरित यदि आपको शक्ति पहले से कम होती है तो, वह खाद्य वस्तु खाना हानिकारक होता है। हमारा हृदय शरीर में सबसे संवेदनशील अंग है तथा उसकी धड़कन बायीं हथेली में जो पदार्थ है, उनसे निकलने वाली तरंगों के लिए एण्टिना का कार्य करती है। जो पदार्थ की तरंगें पेट में जाने से पहले ही व्यक्ति की ताकत घटा दे, उन खाद्य पदार्थों और दवाईयों का सेवन निश्चित रूप से हानिकारक होता है। यह प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि परीक्षण करते समय हमारे शरीर की स्थिति एक जैसी ही होनी चाहिए। दोनों समय मशीन पर एक जैसा अधिकतम दबाव डालना चाहिए। अलग-अलग दबाव डाला गया अथवा शरीर की स्थिति (Posture) बदला गया हो तो इस प्रयोग के परिणाम प्रमाणिक नहीं होंगे।

कोई भी दवा अथवा पदार्थ कितना भी लाभप्रद क्यों न हो, उपयोगी क्यों न हों, उसका सीमित प्रयोग ही उपयोगी होता है। जैसे प्यास लगने पर पानी अच्छा लगता है। परन्तु वही पानी प्यास समाप्त हो जाने के बावजूद पीया जायें तो शरीर उसे स्वीकार नहीं करता है। भूखे को भोजन अच्छा लगता है, परन्तु भूख मिट जाने के पश्चात् अधिक भोजन करना हानिकारक होता है। अतः यह जानना आवश्यक है कि किसी दवा अथवा खाद्य पदार्थ का कितना उपयोग किया जाये ?

किसी पदार्थ का प्रथम बार परीक्षण करने के पश्चात् जो पदार्थ अथवा दवा उपयोगी है उसकी निर्धारित मात्रा का सेवन करने के आधा घंटे पश्चात् पूरे प्रयोग को पुनः दोहरावे। जब तक परीक्षण में ताकत बढ़ती है, तब तक उस दवा अथवा पदार्थ का सेवन उपयुक्त होता है। इस विधि द्वारा न केवल दवाईयों और खाने-पीने की वस्तुओं, अपितु उन सभी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का भी सरलता से पता लगाया जा सकता है, जो हमारे लिए उपयोगी, अनुपयोगी अथवा लाभ या हानि वाली होती है। जैसे प्रार्थना, ध्यान, स्वाध्याय, निद्रा आदि के पश्चात् ऊर्जा बढ़ती है तो ही उसका फल प्राप्त होता है। क्रोध, चिड़चिड़ापन, उत्तेजना, घृणा, तनाव, भय आदि नकारात्मक प्रवृत्तियों से निश्चित रूप से ऊर्जा कम होती है। अतः स्वास्थ्य प्रेमियों को ऐसी सभी गतिविधियों से अपने आपको अलग रखना चाहिए, जो शक्ति का अपव्यय करती है, घटाती है।

पन्द्रवां अध्याय

संतुलन और स्वास्थ्य

रोग का प्रारम्भ स्वयं की असजगता से-

जिस प्रकार यदि परिवार का कोई सदस्य छोटी-मोटी भूलें करता हैं तो परिवार का मुखिया उसको बाहर प्रचारित नहीं करता। ठीक उसी प्रकार शरीर भी रोगों के लक्षणों को प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य रूप से प्रकट नहीं करता। परन्तु हमारे अज्ञान, असजगता एवं शरीर में होने वाले असंतुलन की लगातार उपेक्षा के कारण जब रोग व्यापक रूप धारण कर लेता है, तब ही रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और हम उपचार की आवश्यकता समझते हैं। बाह्य रूप से प्रगट होने के पूर्व रोग के लक्षण अपनी-अपनी भाषा में बार-बार चेतावनी देते है। परन्तु असजग व्यक्ति उन्हें सुनने तथा समझने का प्रयास ही नहीं करते, अपितु पूर्ण उपेक्षा के साथ गौणकर देते हैं। असजगता उस व्यक्ति की मूर्खता से किसी भी प्रकार कम नहीं है, जो नाँव में यात्रा कर रहा है और जिसे यह ज्ञात हो कि नांव में छिद्र हो गया है, फिर भी जो निश्चित रहता है, परवाह नहीं करता। परन्तु जब नांव पानी में डूबने लगती है तो सहायता के लिए हल्ला-गुल्ला करता है, चिल्लाता है, शोर मचाता है तथा संकट से बचने के लिए हर संभव प्रयास करता है। यदि वह छिद्र होते ही संभल जाता तो ऐसी विकट स्थिति नहीं बनती। ठीक उसी प्रकार जब तक दर्द, पीड़ा या कमजोरी के रूप में रोग के अन्य लक्षण अनुभव नहीं होते, तब तक व्यक्ति रोग को रोग ही नहीं मानता। अपने आपको पूर्ण स्वस्थ मानता है।

शरीर के असन्तुलन से सबसे पहले चित्त की प्रसन्नता कम होती है। उसके पश्चात् मन और मस्तिष्क में नकारात्मक सोच आने लगती है। तत्पश्चात् रोग के लक्षण शरीर में प्रगट होने लगते हैं। शरीर की तुलना हारमोनियम अथवा वीणा से की जा सकती है। यदि हारमोनियम व वीणा का कोई तार ढ़ीला या तंग हो तो स्वर बेसुरा निकलता है। ठीक उसी प्रकार जब तक चित्त, मन और शरीर सन्तुलित नहीं होता, पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जब शरीर में जो आवश्यक हो उसका अभाव और जो अनावश्यक हो उसमें वृद्धि होने लगती है तो, असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है। शरीर अविभाज्य है। अतः शरीर के किसी भाग की खराबी अथवा असंतुलन से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पूरा शरीर प्रभावित होता है।

हमारे तंत्र, ग्रन्थियाँ और ऊर्जा चक्र, अवयव अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पाते, परिणामस्वरूप शरीर की शक्ति क्षीण होने से असंतुलन अथवा अस्वस्थता पैदा होने लगती है। शरीर की चाल बदल जाती है और बाह्य शारीरिक विकास असंतुलित होने लगता है। जैसे मोटापा अथवा शरीर का बेढंगा होना। उठने, बैठने, खड़े रहने, सोने अथवा चलने-फिरने के गलत ढंग से शरीर की प्रक्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

यदि किसी साधारण बुद्धिमान व्यक्ति के पास राष्ट्र के उत्थान की कोई विशेष योजना हो और यदि ऐसा व्यक्ति राष्ट्र के सबसे बड़े नेता को अपनी योजना से अवगत कराना चाहे तो, साधारणतया उस व्यक्ति को मिलने नहीं दिया जाता और यदि वह बुद्धिमान व्यक्ति जबरदस्ती नेता से मिलने का प्रयास करें तो, उसको पागल समझ कैद कर लिया जाता है। भले ही वह व्यक्ति मूर्ख अथवा पागल न भी हों। देश के सर्वोच्च नेता तक अपनी बात

पहुँचाने की साधारण सी प्रक्रिया होती है। जिसमें नीचे से ऊपर क्रमबद्ध ढंग से योजना बतलायी अथवा समझायी जाती है। ठीक उसी प्रकार रोग के नेता का सीधा उपचार करना कभी-कभी असंगत और तुरन्त प्रभावकारी नहीं भी हो सकता है।

शारीरिक क्रियाओं का वर्गीकरण-

जीवित शरीर मुख्य रूप से दो प्रकार की क्रियाओं से संचालित होता है। प्रथम तो वे क्रियाएँ जो स्वतः संचालित होती है, जिन पर हमारा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण नही होता। ये क्रियाएँ चाहे हम निद्रा में हो अथवा जागृत अवस्था में शरीर में चलती रहती है। जैसे हृदय का धड़कना,रक्त का परिभ्रमण, श्वसन, पाचन, शारीरिक अंगों की कार्यप्रणाली, शरीर में आवश्यक अवयवों एवं कोशिकाओं का निर्माण, अनावश्यक विजातीय तत्त्वों का पूर्ण विसर्जन। जैसे आंख, कान, नाक के मल, पसीना, कफ, मल-मूत्र का विजर्सन आदि। दूसरे शरीर की वे क्रियाएँ जिन्हें व्यक्ति अपनी इच्छाओं द्वारा जागृत अवस्था में कुछ नियन्त्रित कर सकता है। जैसे हलन-चलन, उठना-बैठना, देखना-सुनना, बोलना, हँसना, रोना, खाना-पीना आदि।

संतुलन ही स्वास्थ्य का मूल आधार-

हमारा शरीर अपने आप में परिपूर्ण होता है। उसमें रोग से बचने एवं रोग से लड़ने की अपूर्व क्षमता होती है। आवश्यकता है अपनी क्षमताओं को पहचानने समझने तथा उनका सही उपयोग करने की। जितना-जितना हम अपनी क्षमताओं एवं प्राण ऊर्जा का अपव्यय अथवा दुरुपयोग करते हैं, उतने-उतने हम रोगों को आमन्त्रित करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। प्रायः हम शरीर की भाषा को समझने का प्रयास नहीं करते। अपने आपको ध्यान से नहीं देखते। शरीर की बाह्य आकृति को समझने का प्रयास नहीं करते। हमारी चाल कैसी है? हमारे शरीर का कोई भाग आवश्यकता से अधिक ठंडा अथवा गर्म तो नहीं है? शरीर के किसी भाग की त्वचा का रंग तो नहीं बदल गया है? हमें भूख-प्यास, निद्रा नियमित और आवश्यकता के अनुरूप आती है अथवा नहीं? हमारा मल-मूत्र विसर्जन बराबर है अथवा नहीं? तथा उसमें कोई परिवर्तन तो दृष्टिगत नहीं होता आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो शरीर की आन्तरिक स्थिति का हमें संकेत देती है।

हमारा शरीर बायां-दायां, बाह्य रूप से एक-सा क्यों? सिर में बाल और हाथ-पैरों की अंगुलियों के नाखून ही जीवनभर क्यों बढ़ते रहते है? हाथ और पाँव की बनावट में एकरूपता क्यों? हमारे कान की आकृति गर्भावस्था में गर्भस्थ बालक के शरीर की स्थिति के अनुसार मिलती-जुलती क्यों? चित्र में हथेली का आकार सारे शरीर की बनावट कैसे इंगित करता है?

शरीर के प्रत्येक अंग-उपांग अथवा भाग की आकृति का विशेष महत्त्व होता है परन्तु हमारा चिन्तन उस तरफ प्रायः नहीं जाता। शरीर का प्रत्येक भाग और अवयव शरीर के संचालन में सहयोग करता है। जब तक उसमें आपसी सन्तुलन, तालमेल बना रहता है, तभी तक हम स्वस्थ होते हैं। ''संतुलन स्वास्थ्य का कवच है, तो असंतुलन रोगों का प्रवेश द्वार''। जितना-जितना असन्तुलन व असहयोग बढ़ता जाता है, उतने-उतने स्वास्थ्य से व्यक्ति भटक जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर, मन, भाव वह विचारों में होने वाले सूक्ष्मतम परिवर्तनों का चिंतन करना चाहिये और जहाँ कहीं असहयोग अथवा असन्तुलन की स्थिति ध्यान में आती है, उसे सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा दूर करने का तुरन्त प्रयास करना चाहिये।

विभाव अवस्था असन्तुलन का प्रतीक है-

शरीर के संचालन में विभिन्न अंगों, उपांगों, इन्द्रियों, ग्रन्थियों, ऊर्जा चक्रों आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जब तक ये सक अपना कार्य सन्तुलित रूप से करते हैं, तब तक ही व्यक्ति स्वस्थ रहता है। असन्तुलन चाहे अशुभ कर्मो के उदय से हो अथवा असंयमित, अनियन्त्रित, अप्राकृतिक जीवन शैली आदि से ही क्यों न हो, जब तक उसे दूर नहीं किया जाता भविष्य में असंतुलन पैदा करने वाले कारणों से नहीं बचा जाता, तब तक पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति स्वप्न में भी संभव नहीं हो सकती। शरीर के असन्तुलन से शारीरिक रोग और मानसिक असन्तुलन से मानसिक रोग होते हैं।

असंतुलनों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ-

शरीर में जब कोई रोग उत्पन्न होता है, तो उसके संकेत बाह्य रूप से अभिव्यक्त होने लगते हैं। जैसे- भूख न लगना अथवा बहुत अधिक लगना, अनिद्रा अथवा अति निद्रा आना, शरीर से खांसी, हिचकियाँ, डकारें, गैस बनना, हाँफने की आवाज, निद्रा में खर्राटे भरने जैसी ध्वनियाँ निकलना, जल्दी बोलना अथवा हकलाना, हाथ पैर अथवा शरीर के किसी भाग में कम्पन्न होना, शरीर का ठण्डा अथवा गरम हो जाना, बहुत अधिक पसीना आना, चेहरे पर तनाव, भय अथवा दुःख की अभिव्यक्ति होना, मोटापा, गंजापन, समय से पूर्व बालों का सफेद हो जाना आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों की क्षमता कम हो जाना, मल-मूत्र का विसर्जन नियमित न होना इत्यादि, तो असंतुलन की ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन्हें हम रोग समझ उपचार द्वारा स्वस्थ करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे असंतुलन होते हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः हम शरीर में उपस्थिति को प्रायः रोग का कारण नहीं मानते। इसी कारण प्रायः अधिकांश चिकित्सा पद्धतियों में उनका संतुलन करना पूर्णतया उपेक्षित होता हैं, परन्तु जिनको बहुत ही सरल ढंग से संतुलित किया जा सकता है। जैसे- पगथली का ठण्डा रहना। उठते-बैठते, चलते-फिरते पीड़ा की अनुभूति होना। एक पैर का बड़ा अथवा दूसरे का छोटा हो जाना। गर्दन और नाभि केन्द्रों का अपने स्थान से हट जाना। रीढ़ के मणकों के आस-पास अवरोध आ जाने से नाड़ी संस्थान संबंधी रोगों का प्रकट होना। मानसिक तनाव, अपाचन, अनिद्रा, थकान, कमजोरी अथवा अन्य किसी भी रोग का हो जाना आदि। जब तक इन असन्तुलनों को पुनः संतुलित नहीं किया जाता तब तक कोई भी चिकित्सा पद्धति पूर्ण प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकती। जिस प्रकार फूटे हुए घड़े को भरने से पूर्व उसका छिद्र बन्द करना आवश्यक होता है। बिना छिद्र बंद किये, कितना ही पानी क्यों न डाले, घड़ा स्थायी रूप से भरा हुआ नहीं रह सकता। मोटर कार को चलाने से पूर्व उसके चक्कों में हवा का उचित दबाव आवश्यक होता है। गाड़ी बहुत ही अच्छी हो, चालक भी बहुत अनुभवी हो, परन्तु जैसे चक्कों में वायु का दबाव बराबर न हों, ऐसी गाड़ी में निर्विघ्न यात्रा कर गन्तव्य स्थान पर पहुँचना संदिग्ध होता है। ठीक उसी प्रकार शारीरिक और मानसिक संतुलन के अभाव में कोई भी उपचार स्थायी और प्रभावशाली नहीं हो सकता। जिस प्रकार खेती में बीज होने से पूर्व खेत की सफाई एवं उस पर हल जोतना तथा खाद देना आवश्यक होता है। ठीक उसी प्रकार उपचार से पूर्व कुछ सरल शारीरिक संतुलन से उपचार प्रभावशाली और स्थायी हो जाता है। कभी-कभी तो असंतुलन दूर होते ही रोगी को तत्काल जो राहत मिलती है वह अच्छी से अच्छी दवा से भी ज्यादा होती है। स्वस्थ अवस्था में भी नियमित निरीक्षण कर संतुलन बनाये रखने से रोग होने की संभावना कम हो जाती है।

तापक्रम का असंतुलन–

शरीर सबसे बड़ा प्राकृतिक वातानुकूलित संयंत्र है। बाहर चाहे जितनी गर्मी एवं सर्दी क्यों न हो वह अपने को निश्चित ताप पर नियन्त्रित रखता है। यदि वह ताप अनियन्त्रित हो जावे तो हम रोग ग्रस्त हो जाते हैं। शरीर पर आन्तरिक ताप के असंतुलन की अभिव्यक्ति बुखार अथवा कमजोरी के रूप में होती है। बाह्य ताप के प्रभाव से भी हमारा संतुलन बिगड़ जाता है। गर्मी एवं सर्दी सम्बन्धी रोगों की उत्पत्ति इन्हीं का परिणाम है। अतः गर्मी के प्रकोप से होने वाले रोगों को चन्द्र नाड़ी (बांयें नथूने) से श्वास लेकर ठीक किया जा सकता है। ऐसे रोगियों को दाहिना नथूना बंद कर श्वास लेना चाहिये। दाहिनी करवट सोना चाहिये। इसके विपरीत जिन्हें सर्दी के प्रकोप से रोग हो जाय उन्हें सूर्य नाड़ी (दाहिने नथूनें) से श्वास लेनी व बांयी करवट सोने से रोग मुक्त होने में सहायता मिलती है।

शरीर गर्म अथवा ठण्डक की भाषा समझता है। अतः स्थानीय पीड़ाओं में शरीर का जो भाग रोग–ग्रस्त है उसका निरीक्षण करें। यदि वहां उष्णता अथवा गरमाश हो तो ठीक उसके दूसरी तरफ उसी स्थान पर रगड़ने, गर्म सेंक करने अथवा बाह्य अन्य किसी भी प्रक्रिया द्वारा शरीर में गर्मी पहुँचाकर दोनों तरफ संतुलन करने से रोग में राहत मिलती है। इसी प्रकार यदि रोग ग्रस्त भाग ठण्डा हों तो उसके ठीक विपरीत भाग में ठण्डे पानी, बर्फ या अन्य किसी विधि द्वारा शरीर में ठण्डक पहुँचाने से रोग में राहत मिलती हैं।

शारीरिक असंतुलनों के परीक्षण एवं उपचार की विधियाँ

असंतुलन के लक्षण–

व्यक्ति की पगथली शरीर के अन्य भागों से ज्यादा ठण्डी नहीं होनी चाहिये। जिस पगथली पर सारे शरीर का वजन आता है वही ठण्डी हो, इसका मतलब शरीर में रक्त का प्रवाह विशेष रूप से पैरों में बराबर नहीं होता। अगर पगथली ठण्डी हो तो सर्व प्रथम, हथेली से पगथली को इतना रगड़े कि उसकी ठण्डक दूर हो जाये। इससे हथेली की ऊर्जा भी पगथली को मिल जावेगी। जिससे रोगी के शरीर में रक्त का प्रवाह सुव्यवस्थित हो जायेंगा तथा उसमें स्फूर्ति आने से उपचार प्रभावशाली हो जायेगा। यदि पगथली को हथेली से रगड़ना संभव न हो तो नायलोन के ब्रुश या अन्य विधि द्वारा रगड़ कर भी पगथली को गर्म किया जा सकता है, परन्तु जितना हथेली से रगड़ने पर लाभ नहीं होगा। क्योंकि भौतिक उपकरणों में चेतना का अभाव होता है। हमने प्रायः अनुभव किया है कि जो रोगी मरणासन पर होते हैं उनके हाथ पैर ठण्डे पड़ने लगते हैं। अतः यदि उनके परिजन थोड़ा विवेक रख एवं पगथली को गर्म करने का प्रयास करें तो व्यक्ति को जीवनदान मिल सकता है। इसलिये तो हमारे यहाँ लोकोक्ति प्रसिद्ध है– **''पैर गर्म, पेट नर्म और सिर ठण्डा, फिर डॉक्टर आवे तो मारों डण्डा''** अर्थात् ऐसा व्यक्ति प्रायः स्वस्थ होता है।

हमारा शरीर दाहिने एवं बांये बाह्य दृष्टि से एक जैसा लगता है। परन्तु उठने–बैठने–खड़े रहने, सोने अथवा चलते–फिरते समय प्रायः और दाहिने भाग पर बराबर वजन नहीं देते। जैसे खड़े रहते समय किसी एक तरफ थोड़ा झुक जाते हैं। बैठते समय सीधे नहीं बैठते। सोते समय हमारे पैर सीधे और बराबर नहीं रहते। स्वतः किसी एक पैर को दूसरे पैर की सहायता और सहयोग लेना पड़ता है। फलतः पैर के ऊपर दूसरा पैर चला जाता है। ऐसा क्यों होता है ? हम किसी भी एक आसन में लम्बे समय तक स्थिरता पूर्वक क्यों नहीं बैठ सकते ? इसका मतलब हमारा

शरीर असंतुलित होता है। हमारे पूर्ण नियंत्रण में नहीं होता है। हम सीधे क्यों नहीं सो सकते? बार-बार करवटें क्यों बदलनी पड़ती हैं? निद्रा में पैर के ऊपर पैर क्यों चला जाता है?

शरीर को संतुलित रखने के लिये हमें अपने दोनों पंजों पर शरीर का पूरा वजन देकर जितनी देर बिना कोई सहारा लिए ताड़ासन में खड़े रहने का अभ्यास करना चाहिए। व्रजासन में बैठने से वीर्य विकार संबंधी सारे रोग दूर होते हैं। वासना एवं कामेच्छा नियंत्रित रहती है। महिलाओं में सफेद प्रदर नियंत्रित रहता है। सुखासन, पद्मासन, वज्रासन तथा गोदुहासन जैसे संतुलित आसनों में अधिकाधिक देर तक सीधी कमर रख कर बैठने का अभ्यास करना चाहिये। प्रारम्भ में हमें कुछ समय बैठने के पश्चात् पीड़ा और दर्द की अनुभूति हो सकती है। परन्तु यदि अभ्यास करते-करते हम जितना अधिक इन आसनों में बिना परेशानी बैठ सकें तो हमारा शरीर स्वतः संतुलित हो जायेगा। बिना शारीरिक संतुलन ऐसा संभव नहीं हो सकता। शरीर के संतुलित होते ही हमारी रोग प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ जायेगी और हम स्वस्थ बन जायेंगे। अतः प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को नियमित रूप से अपने शरीर को ऐसी स्थिति में रखने का अभ्यास करना चाहिये। काया की स्थिरता ध्यान साधना का प्रथम चरण हैं। जब तक काया का हलन-चलन स्वच्छंद ढंग से होगा, अनियंत्रित अस्थिर होगा, ध्यान साधना नहीं हो सकती।

अपने आपको संतुलित करने का एक तरीका और भी है। हम बारी-बारी से बिना किसी सहारे एवं परेशानी के थोड़ी देर तक एक-एक पैर पर खड़ा रहने का अभ्यास करें। जब हम बारी-बारी से लम्बे तक एक के बाद एक पैर पर बिना किसी दर्द, पीड़ा खड़े रहने का अभ्यास कर लेंगे तो हमारा शरीर संतुलित हो जायेगा, परन्तु इस बात की अवश्य सावधानी रखें कि शरीर के साथ किसी प्रकार की जबरदस्ती न हों। आसन सहज होने चाहिये। जिससे शारीरिक और मानसिक तालमेल न बिगड़े। परन्तु ऐसा अभ्यास स्वस्थ व्यक्ति ही कर सकते हैं। रोगावस्था में पहले दूसरे संतुलन कर रोग से राहत पाना आवश्यक होता है।

पैरों को संतुलन करने की विधि-

हम प्रतिदिन हजारों कदम चलते हैं। यदि हमारे दोनों पैर बराबर न हुये एक पैर बड़ा और दूसरा छोटा हुआ तो निश्चित रूप से एक पैर अधिक दबाव पड़ेगा। फलतः हमारे शरीर का दाहिना बांया संतुलन बिगड़ने लगेगा। अतः उपचार करते समय या स्वस्थ रहने हेतु दोनों पैरों को संतुलित करना जरूरी होता है।

आज स्वास्थ्य के संबंध में अधिकांश व्यक्तियों का चिन्तन प्रायः नगण्य अथवा अविवेक पूर्ण और सही नहीं होता। हमारी अधिकतर गतिविधियाँ देखा-देखी, सुनी-सुनाई, विज्ञापन पर आधारित भीड़ से प्रभावित होती है। प्रायः उसके साथ सम्यक् चिन्तन न होने से कभी अच्छी प्रवृतियां भी हानिकारक हो सकती है। जैसे जिस व्यक्ति का एक पैर लम्बा और दूसरा पैर छोटा होता है, यदि ऐसा व्यक्ति पैरों का संतुलन किये बिना प्रतिदिन घूमने जाता है, तो उसके लिये घूमना लाभ के स्थान पर हानिकारक भी हो सकता है। शरीर के किसी भाग पर अनावश्यक दबाव लगातार पड़ते रहने से वह भाग रोग ग्रस्त हो जाता है। अतः घूमने से पहले शरीर का संतुलन (Aligment अथवा Balance) आवश्यक होता है।

रोगी को सीधा सुलावे। दोनों पैरों के अंगूठे एवं टखने को पास में रख कर देखें कि दोनों अंगूठे बराबर हैं अथवा नहीं, दोनों टखनों के केन्द्र बराबर हैं अथवा नहीं। यदि दोनों अंगूठे अथवा टखनों के केन्द्र बराबर न हों तो दोनों पैर बराबर नहीं होंगे। जिस पैर का अंगूठा छोटा हो, उस अंगूठे को खींच कर बराबर किया जा सकता है।

परन्तु बहुत बार ऐसी स्थिति आती है कि उस अंगूठे को खींचना उचित संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में हमें निम्न प्रक्रिया द्वारा दोनों पैरों को बराबर कर सकते है। जिस पैर को बराबर करना हों, उस घुटने को चित्र नं में दर्शाये अनुसार पेट से स्पर्श करने का प्रयास करें। अगर ऐसा करना संभव न हों तो, घुटने को पेट के जितना नजदीक बिना किसी दर्द ले जा सकते हैं, ले जावें। अब यदि छोटे पैर को बड़ा करना हों तो उस पैर की पिण्डली को पकड़ते हुये पैर को अन्दर की तरफ चित्र में दर्शाये अनुसार रोगी का चेहरा देखते हुए जितना सहन हो सके ले जायें। ऐसा करने से छोटा पैर बड़ा हो जाता है। यदि व्यक्ति के किसी पैर में चोट, पीड़ा अथवा अन्य किसी कारण तकलीफ हो तो उस पैर को नहीं मोड़ना चाहिए। यदि किसी कारणवश छोटे पैर को घुमाना संभव न हों तो बड़े पैर को छोटा करने के लिये पिण्डलियों से पैर को चित्र में दर्शाये अनुसार बाहिर की तरफ मोड़े जितना रोगी सहन कर सकें। इस प्रक्रिया से छोटा पैर बड़ा तथा बड़ा पैर छोटा किया जा सकता है। अतः छोटे पैर को अन्दर करने से छोटा पैर बड़ा तथा लम्बे पैर को बाहर करने से बड़ा पैर छोटा किया जा सकता है।

शरीर में मेरू दण्ड का महत्त्व–

मेरुदण्ड का संतुलन करने के पहले यह जानना और समझना आवश्यक है कि मेरुदण्ड क्या है? वह शरीर में कहाँ स्थित है तथा उसके क्या-क्या कार्य है। जो उसके असंतुलन से प्रभावित हो सकते हैं। रीढ़ की हड्डी (मेरुदण्ड) शरीर के पिछले मध्य भाग में होती है। जो खोपड़ी से शुरु होकर नितम्ब तक एक श्रृंखला के रूप में कार्य करती है। इसमें कुल 33 हड्डियों के जोड़ होते हैं। जिन्हें मणके, कशेरूकायें, वरटेबरा आदि नामों से पुकारा जाता है। ये मणके साईकल की चैन के समान एक दूसरे के साथ समान दूरी पर जुड़े हुये रहते हैं। जब किन्हीं दो मणकों के बीच की दूरी कम या अधिक हो जाती है अथवा एक दूसरे से चिपक जाते हैं तो मेरुदण्ड का लोच समाप्त हो जाता है। उनमें तनाव उत्पन्न हो जाता है और असंतुलन होने से विकृति आ जाती है। परिणामस्वरूप सरवायकल स्पोंडोलाईसस, स्लिप डिस्क जैसी अनेक मेरूदण्ड से संबंधित बीमारियाँ हो सकती है। नाड़ी संस्थान संबंधी अधिकांश रोगों का भी मेरूदण्ड में असंतुलन मुख्य कारण होता है।

तेतीस मणकों में 24 मणके अलग-अलग तथा गति वाले होते है। जिसमें मेरूदण्ड के सबसे ऊपर गर्दन के भाग में सरवायकल के सात, छाती वाले भाग में थोरोसिक के बारह तथा उसके नीचे पेट वाले भाग में लम्बर के पांच मणके होते हैं। बाकी 9 मणको में कुल्हें को जोड़ने वाले पांच मणके मिलकर सैक्रम तथा अन्त में बहुत पतली पूंछ के समान चार मणके मिलकर कोसिक्स का भाग बनते हैं।

ऊपर के गतिशील 24 मणकों के बीच में कुछ खाली स्थान होता है। जिसमें गद्दी सी होती है, जो शोकर अथवा स्प्रिंग का कार्य कहती है। ताकि झटका लगने पर, मुड़ने पर, टेढ़ी अथवा खिंचाव होने पर, ये गद्दियाँ मेरुदण्ड को टूटने, फिसलने अथवा विकृत होने से बचाती है। रीढ़ हमारे शरीर की मुख्य धुरी होती है। जो शरीर को लचकता प्रदान करती है। इसी कारण हम दांये-बायें, आगे-पीछे मुड़ सकते हैं। नीचे झुक सकते हैं। ऊपर देख सकते हैं। पीठ की सारी मांसपेशियाँ भी मेरू दण्ड के सहारे टिकी रहती है।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय संस्थान का मुख्य भाग भी मेरु रज्जु (Spinal cord) रीढ़ की हड्डी में स्थित होता है। मेरु रज्जु के दोनों तरफ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर स्नायु नाड़ियों के जोड़े निकलते हैं। स्नायु संस्थान शरीर के समस्त संस्थानों एवं अंगों का नियन्त्रण और संचालन करता है। मस्तिष्क को मिलने वाले सारे संदेश और मस्तिष्क द्वारा

प्रतिक्रिया स्वरूप भेजे गये आवश्यक निर्देश और आदेश की पालना नाड़ी संस्थान के माध्यम से ही संभव होती है। चित्र में मेरुदण्ड से संबंधित विभिन्न मणकों और उनसे निकलने वाली स्नायु नाड़ियां दर्शायी गयी है, जो मेरु दण्ड के सारे शरीर से संबंधों को स्पष्ट करती है। शरीर का प्रत्येक अंग ज्ञान तन्तु द्वारा संचालित होता है और ये सभी ज्ञान तन्तु या अप्रत्यक्ष रूप से रीढ़ की हड्डी से जुड़े होते हैं।

मेरुदण्ड-

मेरुदण्ड का नाड़ी संस्थान से गहरा सम्बन्ध होता है। हमारी सारी संवेदनाओं का आदान-प्रदान रीढ़ के माध्यम से होता है। सीधी कमर न बैठने, वजन उठाने, झुककर चलने अथवा अन्य किसी कारण से मेरुदण्ड के किसी भाग में ज्यादा खिंचाव आ जाने से रीढ़ असंतुलित होती है। सरवायकल स्पोन्डोलायसिस, साईटिका, स्लीप डिस्क, जोड़ों का दर्द आदि रोगों का कारण मेरुदण्ड का असंतुलन ही होता है। रीढ़ में असंतुलन कितना है? कितने प्रतिशत है? इस बात की जानकारी निम्न विधि द्वारा मालूम की जा सकती है।

रोगी को सीधा सुलावें तथा उसकी दोनों हथेलियों को आपस में गर्दन के नीचे चित्र में दिखाये अनुसार रखावें। रोगी को पालकी आसन में सुलावें।

रोगी को कमर के बल बिना कोई सहारा लिये बैठने का कहें। यदि इस स्थिति में रोगी बैठ जायें तो उसका मेरु दण्ड काफी अच्छा समझना चाहिये और ऐसी स्थिति में रीढ़ का कोई रोग ज्यादा पुराना नहीं होता। अगर रोगी न उठ सकें तो मेरुदण्ड में 15 प्रतिशत असंतुलन समझना चाहिये।

दूसरी स्थिति में पैरों को सीधा करके हथेलियों को गर्दन के नीचे रखते हुये चित्र में दर्शाये अनुसार बिना सहारा दिये उठने को कहें। यदि रोगी इस स्थिति में भी न उठ सकें तो मेरुदण्ड में 20 प्रतिशत से 30 प्रतिशत असंतुलन समझना चाहिये।

तीसरी स्थिति में दोनों हाथों को जमीन से स्पर्श करते हुए चित्र में दर्शाये अनुसार सिर से ऊपर पूरा ले जाते हुये रोगी को सोने को कहें। यदि इस स्थिति में भी बिना सहारा रोगी न बैठ सकता हो तो असंतुलन 30 प्रतिशत से भी अधिक समझना चाहिए। तत्पश्चात् रोगी की दोनों पिण्डलियों को चित्र में दर्शाये अनुसार दूसरा व्यक्ति दबाये रखें, फिर भी रोगी न बैठ सकें तो मेरुदण्ड में 40 प्रतिशत से 50 प्रतिशत असंतुलन समझना चाहिये। यदि रोगी के दोनों घुटनों को दबाये रखने के बावजूद भी रोगी न बैठ सकें तो मेरुदण्ड में 50 से 60 प्रतिशत खराबी समझनी चाहिए।

जितना अधिक असंतुलन होगा, रोग उतना ही पुराना, संक्रामक होगा और उपचार में समय भी उसके अनुपात में अधिक लगेगा। मेरुदण्ड का असंतुलन निम्न विधि द्वारा सरलता से दूर किया जा सकता है।

मेरुदण्ड को संतुलित करने की विधि-

सरवायकल का संतुलन- रोगी को उल्टा सुलावें। रोगी के दोनों हाथ शरीर से स्पर्श करते हुये रखें। फिर चिकित्सक को अपनी दोनों हथेलियों को रोगी के दानों कानों से लगाते हुये, गर्दन को जमीन से थोड़ा उठाते हुये चित्र में दर्शाये अनुसार बांयें-दाहिने जितनी गर्दन घूम सके धीरे-धीरे पांच-सात बार गर्दन को धीरे-धीरे ऊपर-नीचे चित्र में दिखायें अनुसार जितनी घूमा सकते है, घूमावें। फिर उसी के साथ एक हल्का सा झटका बायें

दाहिने दें। ताकि कोई जकड़न हों तो आसानी से निकल जाती है। गर्दन को झटका देते समय इतना ध्यान रखें कि गर्दन पहले जितनी दायें बायें घूम रही थी उससे आधा से ज्यादा न घूमावें।

इस प्रक्रिया से सरवायकल स्पोण्डोलायसिस में शीघ्र आराम मिलता है। चार-पांच दिन लगातार ऐसा उपचार करने से वर्षो पुराना रोग दूर हो जाता है।

मेरूदण्ड के नीचे के भाग का संतुलन- उसके पश्चात् रोगी की रीढ़ के दोनों तरफ उसको सहन हो सकें उसके अनुरूप ऊपर नीचे पूरी मेरुदण्ड तक पहले दोनों हथेलियों से, उसके पश्चात् हथेलियों को बंद कर दोनों मुटिठयों और अंगुठे का दबाव देते हुये तथा अन्त में रीढ़ के दोनों तरफ एक-एक मणके पर पांच-पांच बार अंगूठे से घूमावदार दबाव देवें। तदुपरान्त दोनों पगथलियों की एडियों को घुटनों पर दबाव देते हुये पुट्ठों को स्पर्श करावें। फिर बारी-बारी से एक पगथली को टखने से पकड़ पांच-पांच बार उल्टा सीधा, बायें-दाहिने, आगे-पीछे घूमावें। उसके पश्चात् दोनों पैरों के अंगूठों और अंगुलियों को पांच-पांच बार गोल-गोल उल्टा सीधा घूमावें तथा झटका देते हुये हथेली को छोड़े। फिर अंगूठे को एक हथेली में तथा बाकी चार अंगुलियों को दूसरी हथेली में पकड़ आगे-पीछे पांच-पांच बार घूमावें। इसी प्रकार एक हथेली में एक-एक कम करते हुये पांच-पांच बार घूमावें। इस प्रक्रिया से पूरे शरीर की नाड़ी संस्थान में आये अवरोध दूर होने लगते है। विशेष रूप से स्लीप डिस्क, साईटिका तथा ऐडी से लगाकर गर्दन के सभी प्रकार के रोगों में शीघ्र आराम मिलता है। पुराने से पुराने स्लीप डिस्क के रोगी जिन्हें डॉक्टर पूर्ण आराम की सलाह देते है और महिनों आराम के बाद भी ठीक नहीं हो पाते, मेरुदण्ड को संतुलित करने की इस सरल विधि से पांच-सात दिनों में प्रायः स्वस्थ हो जाते हैं। यह विधि इतनी सरल है कि कोई भी व्यक्ति इसको आसानी से सीख सकता हैं। मेरुदण्ड के संतुलन करने के पश्चात् शरीर में हल्कापन आ जाता है तथा दर्द में तुरन्त आराम का आभास होने लगता है। इस प्रक्रिया के पश्चात् किसी भी पद्धति द्वारा किया गया उपचार अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता है।

मेरुदण्ड के घुमावदार व्यायाम-

योग महर्षि स्वामी देवमूर्ति जी द्वारा अन्वेषित मेरुदण्ड के घुमावदार आसनों से रीढ़ के मणकों में आया तनाव, खिंचाव और विकृति सरलतापूर्वक दूर की जा सकती है। इन आसनों को स्त्री पुरुष, बच्चे-बूढ़े, स्वस्थ और रोगी सभी आसानी से कर सकते हैं। इनके नियमित अभ्यास से रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। स्वस्थ निरन्तर स्वस्थ बने रह सकते हैं।

मनुष्य को छोड़कर सभी प्राणियों की रीढ़ की हड्डी क्षितिज के समानान्तर होती है। अतः चलने-फिरने में उनके मणके स्वयं हलचल में आ जाते हैं। परिणाम स्वरूप इसमें सुषुम्ना नाड़ी की सुप्त शक्तियाँ स्वयं जागृत हो जाती है। यही कारण है कि अन्य जीवों को मनुष्य की अपेक्षा स्नायु सम्बन्धी कष्ट कम होते हैं। यदि मनुष्य भी रीढ़ के घुमावदार आसनों का नित्य अभ्यास करें तो स्नायु संबंधी रोगों के होने की संभावनाएँ बहुत कम हो जाती है।

हम देखते हैं कि घोड़ा दिन भर बोझा खिंचता है, जिससे उसकी रीढ़ के मणके आपस में चिपक जाते हैं। शाम को घोड़ा जमीन पर लेटकर मस्ती से अपने शरीर को दांये-बांयें करता है, जिससे मणकों में आया तनाव और खिंचाव दूर हो जाता है, उसकी सारी थकान दूर हो जाती है। यदि हम भी घोड़े की तरह रीढ़ की हड्डी को

सुबह-शाम 'ठोडी दायें तो घुटना बायें' और 'घुटना दायें तो ठोडी बायें' घुमाना प्रारम्भ कर दें तो मेरुदण्ड में आई विकृतियाँ दूर हो जाती है।

रीढ़ के घुमावदार व्यायाम करने के लिये सर्वप्रथम दोनों हाथ कन्धों के बराबर फैलाकर एक दम सीधा जमीन पर लेट जाना चाहिए। इस व्यायाम की विविध स्थितियाँ होती है, जिनमें पैरों की ही स्थितियाँ अलग-अलग ढंग से बदली की जाती है। गर्दन को घुमाने का एक ही तरीका और नियम होता है। जब पैरों को बांयी तरफ घुमाया जाता है तो गर्दन को दाहिनी तरफ मोड़ टोड़ी को कंधों से स्पर्श किया जाता है। जब पैरों को दाहिनी तरफ घुमाया जाता है तो गर्दन को उसी ढंग सं बांयी तरफ घुमाया जाता है।

प्रथम स्थिति में पैरों की दोनों एडियों के बीच पगथली के बराबर दूरी रखी जाती है तथा एक पगथली की अंगुलियों को बारी-बारी से दूसरे पैर को ऐडी से स्पर्श किया जाता है तथा गर्दन को उसके विपरीत दिशा में घुमाया जाता है।

दूसरी स्थिति में दोनों पगथलियों को पास-पास में रख अंगुलियों को एक बार बांयी, फिर दाहिनी तरफ बारी-बारी से जमीन को स्पर्श किया जाता है तथा साथ ही साथ गर्दन को विपरीत दिशा में घुमाया जाता है।

ठीक इसी प्रकार तीसरी स्थिति में एक पगथली के ऊपर, दूसरी पगथली रखकर चौथी स्थिति में पैर के अंगूठे और उसके पास वाली अंगुलि के बीच दूसरे पैर की ऐडी को बारी-बारी से रख, पांचवी स्थिति में दोनों घुटनों को पास-पास खड़ा कर मिलाते हुये रख बारी-बारी से बांयें-दायें जमीन को स्पर्श कराया जाता है। पांचवें आसन को क्वीन एक्सरसाइज (रानी आसन) भी कहते हैं।

इसी प्रकार छट्ठी स्थिति में दोनों घुटनों को कुछ दूरी पर खड़ा रख पैर बांयें दाहिने घुमाते हुये एक घुटने को जमीन तथा दूसरे को पहले पैर की ऐडी से स्पर्श बारी-बारी से कराया जाता है। इस आसन को किंग एक्सरसाइज (राजा आसन) भी कहते हैं।

सातवीं स्थिति में एक पैर को सीधा रख दूसरे पैर की पगथली को उसके घुटने के पास रखकर, दूसरे पैर के घुटने को दूसरे पैर की दिशा में जमीन से बारी-बारी स्पर्श कराया जाता है। आठवीं स्थिति में दोनों घुटनों को छाती से स्पर्श करते हुये बांयी-दायें तरफ पैरों वे गर्दन को घुमाया जाता है।

दसवीं स्थिति में पवन मुक्तासन की स्थिति में दोनों हथेलियां से घुटनों का पकड़ छाती से चिपकाते हुए बांयें दाहिने पैरों और अंत में सीधा पवन मुक्तासन किया जाता है।

व्यायाम करते समय ध्यान रखने योग्य सावधानियाँ-

प्रत्येक आसन के पश्चात् कुछ समय शवासन करना चाहिये। प्रत्येक आसन को कम से कम पांच बार करना चाहिये। इन आसनों का अभ्यास प्रायः मल त्याग के पश्चात् खाली पेट करना चाहिए। परन्तु जिन्हें कब्ज की शिकायत रहती है, उन्हें उषापान करने के पश्चात् इन आसनों को करना अधिक गुणकारी होता है। महिलाएं मासिक धर्म के दिनों में एवं गर्भावस्था के तीन मास पश्चात् तथा व्यक्ति को शल्य चिकित्सा के तुरन्त पश्चात् अथवा फ्रेक्चर होने की स्थिति में इन आसनों को नहीं करना चाहिये। प्रत्येक व्यायाम श्वास भरकर करने से अधिक लाभकारी होता है, परन्तु जिन्हें इसमें कठिनाई हो, वे साधारण स्थिति में भी इन आसनों को हर सकते हैं। आसन करते समय शरीर के साथ किसी प्रकार की जोर जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। जितना सहजता एवं

सरलता से शरीर घुमाया जा सकता है, उतना ही घुमाना चाहिए। घुमाते समय धीरे-धीरे दांयें-बांयें जाना चाहिये अर्थात् किसी प्रकार का झटका नहीं देना चाहिए। घूमाते समय शरीर की जिन मांसपेशियों में दर्द हों, वे मांसपेशियाँ शरीर में रोगों से संबंधित होती है। उन मांसपेशियों का आगे के अध्याय में बतलाए गये तरिकों से उपचार करने से रोग में तुरन्त आराम मिलता है। नियमित इन आसनों के करने से बोने बच्चों की लम्बाई-बढ़ने लगती है। नाभि अपने स्थान पर आ जाती है। कब्ज, गैस, थकावट, आलस्य, अनिद्रा, मोटापा, मधुमेह एवं स्नायु सम्बन्धी अन्य रोगों में लाभ होता है।

सोलहवां अध्याय

खिंचाव चिकित्सा

(Suction Vaccum / Cupping Therapy)

मांसपेशियों पर विजातीय तत्त्वों के जमा हो जाने के कारण शरीर के उस भाग पर प्राण ऊर्जा के प्रवाह में अवरोध होने लगता है। फलतः रक्त का प्रवाह बराबर नहीं हो पाता एवं व्यक्ति को दर्द या पीड़ा के रूप में रोग की अनुभूति होने लगती है। उस भाग का हलन-चलन प्रभावित होने लगता है। जितना ज्यादा अवरोध होता है, उतनी ही अधिक समस्याएँ होने लगती है।

अतः यदि किसी भी विधि द्वारा उन जमें हुये विकारों को दूर कर दिया जाय तो पुनः प्राण ऊर्जा और रक्त का प्रवाह आवश्यकतानुसार होने लगता है और पीड़ा में आराम मिलने लगता है। मांसपेशियों पर जमें विजातीय तत्त्वों को दूर करने का एक सरल तरिका शरीर के उस संबंधित भाग की मांसपेशियों का किसी भी विधि द्वारा हलन-चलन करना। अर्थात् उस भाग को सिकोड़ना और फैलाना, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दांये-बांये जितना घुमाया जा सके, कुछ देर तक धीरे-धीरे घुमाने का प्रयास करना। ऐसा करने से वहां पर जमें विकार हटने लगते हैं और रोगी स्वस्थ हो जाता है।

कपिंग चिकित्सा-

परन्तु शरीर में बहुत सी मांसपेशियां ऐसी है, जिनका हलन-चलन इच्छानुसार करना आसान नहीं होता। ऐसी मांसपेशियों पर हल्का-हल्का मसाज कर विकारों को हटाया जा सकता है। उन विकारों को दूर करने का एक सरल तरिका और भी है, जो खिंचाव (Suction) के सिद्धान्त पर आधारित है। टेनिस की गेंद के दो बराबर भाग करने से कप के आकार के दो भाग हो जाते हैं। उपचार हेतु ऐसे कपों का प्रयोग करने से उपचार की इस विधि को कपिंग चिकित्सा भी कहते हैं।

किसी भी स्थान की सफाई करने के लिए प्रायः आंगन पर झाड़ू लगाया जाता है। विशेष अवसरों पर अधिक स्वच्छता हेतु आंगन को पानी, साबुन अथवा अन्य रसायनों द्वारा स्वच्छ किया जाता है। परन्तु जहाँ ऐसा करना संभव नहीं होता वहाँ वायु के दबाव द्वारा सफाई की जाती है। परन्तु आंगन पर बिछे गलीचे, फेल्ट, दरी आदि पर जमीं धूल को हटाने के लिये आजकल वेक्यूम क्लीनर से खिंचाव द्वारा मिट्टी को दूर किया जाता है। इसी प्रकार जिन मांसपेशियों पर विकार जमा हो जाते हैं, वहां गेंद के कपों को त्वचा पर रख, दबाने से उनके अन्दर की वायु निकल जाती है। कप के अन्दर शून्यता हो जाने से कप त्वचा पर चिपक खिंचाव पैदा करने लगता

है। उस स्थान पर खिंचाव बढ़ने से प्राण ऊर्जा और रक्त का प्रवाह बढ़ने लगता है। अवरोध के कारण रक्त वाहिनियाँ जो सिकुड़ जाती है, पुनः फैलने लगती है। परिणाम स्वरूप विजातीय तत्त्व उस स्थान से दूर होने लगते हैं और रोगी स्वस्थ होने लगता है।

कमर, घुटनों, हाथ-पैर, संबंधी रोगों में यह उपचार बहुत प्रभावशाली एवं शीघ्र राहत दिलाता है। मेरुदण्ड संबंधी रोग विशेष कर स्लीप डिस्क एवं साईटिका में लाभदायक होता है। वात संबंधी रोगों में कपिंग उपचार से शीघ्र आराम मिलने लगता है। फंसी हुई वायु अथवा गैस शीघ्र अपना स्थान छोड़ देती है। वात रोगों में कप द्वारा खिंचाव रोगी को प्रायः अच्छा लगता है। जो विजातीय तत्त्व दबाव और मसाज द्वारा दूर नहीं होते उन्हें दूर करने में खिंचाव से अच्छे परिणाम आते हैं।

सीने पर इस प्रयोग से फेंफड़े मजबूत होते हैं। उन पर जमा कफ दूर होने लगता है। प्रारम्भ में 5 से 7 मिनट तक कप लगाकर उसके प्रभाव का अनुभव करना चाहिए। स्वस्थ अवस्था में प्रतिदिन हृदय और डायाफ्राम पर कप उपचार करने से हृदय और डायाफ्राम की कार्यक्षमता बढ़ती है। खिंचाव उतना ही दे जो सहनीय हो।

सावधानियां- कोई भी उपचार करते समय रोगी की अवस्था एवं उपचार से होने वाली प्रतिक्रिया का विवेक एवं सजगता पूर्वक ध्यान आवश्यक होता है। उसके अभाव में उपचार से अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते। उपचार करते समय रोगी को उपचार का सिद्धान्त समझाने से उसका आत्म-विश्वास श्रद्धा और सजगता बढ़ जाती है और उपचार अधिक प्रभावशाली बन जाता है। अश्रद्धा और अनचाहा जबरदस्ती किया गया उपचार अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकता। त्वचा पर कप लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उस स्थान पर बाल न हों। बाल होने से कप में वायु की शून्यता न हो सकेगी। फलतः कप आवश्यक खिंचाव पैदा नहीं कर सकेगा। अतः बाल साफ करना आवश्यक होता है। जहां मामूली से बाल हो उस स्थान पर पानी लगाना चाहिये ताकि कप में शून्यता की जा सके।

उपचार के पश्चात् कप को हटाने हेतु कप पर ताकत से सीधा खिंचाव नहीं देना चाहिए। परन्तु कप के चारों तरफ के पास वाली त्वचा को दबाने से कप में वायु चली जाती है और अन्दर की शून्यता समाप्त होने से कप से त्वचा का खिंचाव स्वतः समाप्त हो जाता है और कप वहाँ से स्वतः हट जाते हैं।

खिंचाव के अन्य उपकरण-

आजकल इसी सिद्धान्त पर आधारित अनेक उपकरण बाजार में उपलब्ध है। जैसे स्तन पम्प, आर्गन डेवलेपर, कटोरी के आकार के वेक्यूम कप इत्यादि। जिनसे आवश्यकतानुसार नियंत्रित खिंचाव किया जा सकता है। जिन लोगों के शरीर पर चर्बी अधिक होती है, उन स्थानों पर इन उपकरणों का उपयोग विशेष प्रभावशाली होता है। नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में लाने के लिये भी इसी सिद्धान्त से उपचार किया जाता है।

शरीर के कोमल अंगों अथवा बहुत छोटे बच्चों जिनकी त्वचा बहुत अधिक कोमल होती है, कपिंग उपचार जहां तक हो नहीं करना चाहिए। अल्सर, घाव, चोट एवं फ्रेक्चर के समय, उन स्थानों पर कप नहीं लगाने चाहिए।

सतरवां अध्याय

नाभि आरोग्य का मूलाधार है

नाभि का महत्त्व–

मानव जीवन के विकास, संचालन एवं नियंत्रण में नाभि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। माता के पेट में गर्भाधान से लेकर जीवन के अंतिम क्षणों तक नाभि केन्द्र सजग, सतर्क एवं क्रियाशील रहता है। मृत्यु के पहले हृदय की धड़कन रुक जाने के पांच–छः मिनट बाद तक नाभि में स्पन्दन होता है। यदि कोई अनुभवी व्यक्ति किसी विधि द्वारा नाभि की प्राण ऊर्जा का संपर्क हृदय से पुनः स्थापित कर दें, तो मनुष्य की मृत्यु टल सकती है। परन्तु नाभि में स्पन्दन रूक जाने के बाद मृत्यु को नहीं टाला जा सकता। माता के गर्भ में नवजात बालक का सबसे पहले नाभि केन्द्र ही विकसित होता है। नाभि में हमारी पैतृक ऊर्जा का संचय होता है, जो बीज से वृक्ष की भांति हमारे सम्पूर्ण विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गर्भस्थ बालक में नाभि के माध्यम से ही गर्भस्थ बालक में नाभि के माध्यम से ही गर्भावस्था में विकास हेतु आवश्यक पोषक तत्त्वों की पूर्ति होती है।

गर्भ से बाहर आते ही सर्वप्रथम माता के शरीर को नाभि से जोड़ने वाली नली का सम्बन्ध विच्छेद करना अतिआवश्यक होता है। जिससे नवजात शिशु स्वतन्त्र रूप से श्वास लेकर अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ कर सकें। जीवन की प्रथम श्वास बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती है। उस समय सौरमण्डल में गृह नक्षत्रों की जो स्थिति होती है, उसी के आधार पर ही सारा ज्योतिष विज्ञान, उस व्यक्ति का भविष्य बतलाता है। यदि अज्ञानवश जन्म लेते ही नाभि को माता से जोड़ने वाली नली को शीघ्र न काटा जायें अथवा नली को काटते ही बच्चा न रोंये तो बालक विकलांग हो सकता है।

नर से नारायण बनाने में नाभि का योगदान–

नाभि में हमारे प्राणों का संचय होता है। यह शरीर का डायनेमों अथवा बैटरी है। ब्रह्माण्ड में जो भी घटित होता है, वह हमारें शरीर के अणु–अणु को प्रभावित करता है। हमारी कोशिकाएँ शरीर में ब्रह्माण्ड का लघुतम रूप हैं। नाभि ही ब्रह्माण्ड से ऊर्जा को अपने आवश्यकतानुसार ग्रहण करने, संग्रह करने तथा रूपान्तरित करने की क्षमता रखती है। नाभि शरीर की धुरी है तथा शरीर में कार्यरत विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं का केन्द्र है। नाभि उठते–बैठते, दौड़ते–चलते, सोते अथवा किसी भी स्थिति के अंगों–उपांगों को अपने स्थान पर स्थिर रखती है। हमारी अधिकांश शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक क्रियाओं के संचालन में इसकी प्रभावशाली भूमिका होती है। कुण्डलिनी जागृत कर अन्य चक्रों को सजग करना हों अथवा प्राणायाम की साधना या पातंजलि योग द्वारा यम से समाधि तक की अवस्था को प्राप्त करना आदि, सारी क्रियाएँ नाभि की स्वस्थता पर ही निर्भर करती है। योगी पुरुष अपनी नाभि को संतुलित रख मन को नियंत्रित करते हैं। मन के माध्यम से संकल्प शक्ति को ऊपर उठाते हुए मस्तिष्क केन्द्र को स्थिर करते हैं। यही निर्विकल्प अवस्था होती है और सारी साधना का परम लक्ष्य भी इसी अवस्था को प्राप्त करना होता है।

नाभि को कमल की उपमा– जिस प्रकार कमल पानी में रहता हुआ भी उससे अपने आपको अलग रखता है। ठीक उसी प्रकार नाभि जीवन की अधिकांश शारीरिक, मानसिक, आत्मिक गतिविधियों का संचालक होते हुए

भी बाह्य रूप से अपना कोई सम्बन्ध नहीं दर्शाती। इसी कारण हमारे पौराणिक ग्रन्थों में नाभि को कमल की उपमा दी गई है। जिस प्रकार वृत का केन्द्र होते हुए भी चित्र में वह नहीं दिखता, ठीक उसी प्रकार मन व आत्मा की भांति नाभि भी एक्सरे अथवा सोनोग्राफी की पकड़ में नहीं आती। अतः आज का ऐलोपैथिक विज्ञान इसके अस्तित्व को स्वीकार करने में परेशानी अनुभव कर रहा है।

जीवनचर्या का आधार नाभि–

जिस प्रकार कमल सूर्य के प्रकाश में खिलता है और सूर्यास्त के पश्चात् अपने आप में सिमट जाता है। ठीक उसी प्रकार सूर्यास्त के पश्चात् नाभि की सक्रियता मंद पड़ जाती है। जिससे रात्रि में हमारी क्षमताएँ अपेक्षाकृत कम हो जाती है। निद्रा द्वारा विश्राम करना पड़ता है। हमारी दिनचर्या एवं रात्रिचर्या में अन्तर होता है। इसी कारण लम्बे समय तक रात्रि में कार्य करने वालों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। यदि कभी कारणवश पूर्ण रात्रि जागृत रहना पड़े तो दूसरे दिन हमारा पाचन बिगड़ जाता है।

नाभि और पाचन–

नाभि का हमारे पाचन से गहरा सम्बन्ध होता है। अतः हमें जब नाभि सक्रिय हों, अर्थात् दिन में ही भोजन करना चाहिये।

नाभि केन्द्र खिंसकने के प्रभाव–

यदि नाभि अपने स्थान से अन्दर की तरफ हो जाए, उस व्यक्ति का वजन दिन प्रतिदिन घटता चला जाता है और यदि किसी कारण नाभि अपने स्थान से बाहर की तरफ हो जाती है तो शरीर का वजन न चाहते हुए भी अनावश्यक बढ़ने लगता है। किसी कारण नाभि यदि अपने स्थान से ऊपर की तरफ चढ़ जाती है तो खट्टी डकारें, अपच आदि की शिकायतें रहने लगती है। कब्जी हो सकती है। परन्तु यदि नाभि अपने स्थान से नीचे की तरफ चली जाती है तो दस्तों की शिकायत हो जाती है। इसी प्रकार नाभि कभी दांयें, बांयें अथवा तिरछी दिशाओं में भी हट जाती है, जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग होने लगते है। सारे परीक्षण एवं पेथोलोजिकल टेस्ट करने के पश्चात् भी रोग पकड़ में नहीं आता। ऐसे में नाभि केन्द्र को अपने केन्द्र में लाने से तुरन्त राहत मिलने लग जाती है।

नाभि के असंतुलन के कारण–

गलत ढंग से श्वसन क्रिया करने, योगासन न करने अथवा गलत ढंग से करने अथवा शरीर का संतुलन बिगाड़ने वाली अन्य प्रवृत्तियों के कारण भी नाभि अपने केन्द्र से हट जाती है। स्कूटर में कीक मारने अथवा गलत तरीके से वजन उठाने पर नाभि प्रायः ऊपर की तरफ, झुककर अधिक देर बैठने से अन्दर की तरफ जा सकती है।

तनाव का नाभि पर प्रभाव–

गलत खान–पान एवं जीवनचर्या के साथ प्रतिदिन की चिन्तायें, दुःख, तनाव, आवेग, क्रोध, द्वेष, घृणा आदि प्रवृतियाँ विभिन्न मानसिक जहरों के माध्यम से शरीर पर अपना प्रभाव निरन्तर छोड़ती रहती है। इससे नाभि क्षेत्र में विजातीय तत्त्वों का जमाव होने लगता है। यदि इन दुष्प्रवृत्तियों के दुष्प्रभावों का प्रायश्चित एवं सम्यक् चिन्तन किया जावे तथा समभाव पूर्ण जीवन जीया जावे तो भविष्य में इन दोषों के दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है। इसी कारण जैन साधुओं के लिए प्रतिदिन प्रातः एवं सांयकाल अपने दोषों का परिमार्जन करने के लिए प्रतिक्रमण को आवश्यक बतलाया गया है। परन्तु कभी–कभी महीनों अथवा सालों के बीत जाने के बाद भी यदि

हम घृणा, द्वेष, क्रोध से उत्पन्न उन विजातीय तत्वों को प्रायश्चित एवं सकारात्मक सोच द्वारा दूर करने का प्रयत्न नहीं करते, जिससे विजातीय तत्त्वों का जमाव नाभि क्षेत्र में बढ़ने लगता है। नाभि के आसपास जो नाड़ियाँ (रक्त की सिरायें) एक-दूसरे से अलग-अलग फैली हुई है, आपस में चिपक जाती है। उलझ जाती है अथवा गुच्छों का रूप ले लेती है। फलतः नाभि क्षेत्र से पूरे शरीर को प्रवाहित होने वाली प्राण ऊर्जा के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होने लगता है। शरीर के संतुलन का मुख्य आधार नाभि केन्द्र होता है। नाभि केन्द्र में स्थित मणिपुर चक्र ब्रह्माण्ड से सर्वाधिक ऊर्जा ग्रहण करता है और बाकी शरीर में भी जो प्राण ऊर्जा ग्रहण करता है वह सर्व प्रथम मणिपुर चक्र (नाभि केन्द्र) में होकर अन्य ऊर्जा चक्रों में प्रभाहित होती है। गर्भकाल में सारा पोषण नाभि के माध्यम से ही मिलता है। अतः यदि नाभि की धड़कन अपने केन्द्र में न हो तो शरीर असंतुलित होने लगता है।

मानव को दुःखी होना पसन्द नहीं। परन्तु सुखी होना आता नहीं तथा सुखी होने के लिए जैसा सम्यक् पुरुषार्थ आवश्यक है, वह होता नहीं। अतः व्यक्ति प्रायः दुःखी होता है।

निद्रा के समय शरीर निश्चिंत अवस्था में सतत लम्बे समय तक रहता है। अतः सोने का सही ढंग शरीर के संतुलन के लिए आवश्यक है। यही रोग की प्रारम्भिक स्थिति होती है। यदि नाभि क्षेत्र को पुनः स्वस्थ बनाकर नाभि को अपने केन्द्र में स्थित कर दिया जावे तो अधिकांश रोग ठीक होने लगते है। भले ही वे कितने ही पुराने अथवा असाध्य क्यों न हो। बहुत बार इस प्रक्रिया द्वारा शल्य चिकित्सा भी टाली जा सकती है। इसीलिए तो कहा जाता है-''पेट साफ तो सब रोग माफ।''

स्वास्थ्य के लिए सम्यक् आचरण आवश्यक-

प्रारम्भ से ही नाभि के केन्द्र में भौलिक (मूल) प्राण ऊर्जा रहती है। जितना ज्यादा इसका ब्रह्माण्ड से सम्पर्क रहेगा उतनी ज्यादा ऊर्जा मिलेगी। इसी ऊर्जा से शरीर की अवरोधक क्षमता बढ़ती है। श्वेत रक्त कोशिकाओं तथा T.Cells का निर्माण होता है, जो शरीर को दीघायु एवं निरोग बनाते है। नाभि चेतना का मूल केन्द्र है। इसके असंतुलन से मन और आत्मा भी स्वस्थ नहीं रह सकती। अतः आरोग्यता के लिए हमारी दिनचर्या, रात्रिचर्या में आहार निद्रा एवं ब्रह्मचर्य का सम्यक् पालन आवश्यक होता है। प्रत्येक कार्य की सिद्धी के लिए आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण। सर्वप्रथम हमें स्वास्थ्य के बारे में अपनी सोच बदलनी होगी। लाभ हानि का चिन्तन कर आचरण करना होगा।

नाभि के आकार से रोग निदान-

जब नाभि का स्पन्दन नाभि केन्द्र में होता है तब चित्त में प्रसन्नता और मन में सात्विक विचारों का सर्जन होता रहता है। जो शारीरिक संतुलन के लक्षण होते हैं। परन्तु जब नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में न हों तो शरीर असंतुलित होने लगता है। लम्बे समय तक नाभि का स्पन्दन केन्द्र में न रहने से जिस तरफ स्पन्दन होता है, उधर की तरफ ऊर्जा का प्रवाह ज्यादा होने लगता है तथा उसके विपरीत दिशा में ऊर्जा का प्रवाह कम होने से नाभि क्षेत्र की मांसपेशियों में लगातार खिंचाव रहने से आकार बदल जाता है और शरीर में रोग के लक्षण स्थायी रूप से प्रकट होने लगते हैं।

आजकल हमारी अप्राकृतिक, असंयमित, अनियन्त्रित जीवनशैली के कारण अधिकांश व्यक्तियों का नाभि केन्द्र अपने स्थान पर प्रायः नहीं होता। नाभि क्षेत्र विजातीय तत्वों से पूर्णतया स्वच्छ नहीं होता। लम्बे समय

तक ऐसी स्थिति बनी रहने से नाभि क्षेत्र का आकार स्थायी रूप से बदलने लगता है। स्वस्थ नाभि का आकार गोलाकार, मांसपेशियाँ सुडौल तथा स्पन्दन इसके केन्द्र में होता है। परन्तु यदि नाभि अपने केन्द्र में स्थित न हो, त्वचा में लचीलेपन के स्थान पर कठोरता हो, नाभि सक्रिय एवं सजग न हो, नाभि एक तरफ खिंची हुई, उभरी हुई अथवा उसका आकार स्थायी रूप से बदल गया हो तो यह उस व्यक्ति में लम्बे समय से किसी न किसी रोग की तरफ इंगित करता है। शरीर में अनन्त क्षमता होने से साधारण स्थिति में हमें उन रोगों का आभास तक नहीं होता। परन्तु जब परिस्थितियाँ अनियंत्रित हो जाती है तब रोग के लक्षण बाहर दिखाई देने लगते हैं। हम अपने आपको रोगी मान उसके उपचार हेतु सजग हो जाते हैं। परन्तु वास्तव में हम कितने स्वस्थ हैं? अपनी क्षमताओं का कितना उपयोग करते हैं? सभी स्वास्थ्य प्रेमियों के लिये चिन्तन का विषय है।

जिस प्रकार किसी गोलाकार अथवा वृताकार क्षेत्र में उसके केन्द्र से परिधि तक अनन्त रेखायें खिंची जावे तो वे आपस में नहीं कटती। परन्तु जब केन्द्र अपने स्थान से हट जाये और पुनः उसी प्रकार केन्द्र से परिधि तक रेखायें खिंची जावे तो कुछ रेखायें आपस में कटने लग जाती है। ठीक उसी प्रकार नाभि हमारे प्राण ऊर्जा का केन्द्र बिन्दु है तथा यही से सारे शरीर को प्राण ऊर्जा का वितरण, नियन्त्रण एवं संतुलन होता है। अतः जब नाभि केन्द्र अपने स्थान से खिसक जाता है तो सभी अंगों को मिलने वाली प्राण ऊर्जा का संतुलन बिगड़ने लगता है। किसी को आवश्यकता से ज्यादा तो किसी को आवश्यकता से कम ऊर्जा मिलती है। फलतः ऐसे अंगों की कार्यप्रणाली असंतुलित हो जाती है। अलग-अलग लक्षण प्रकट होने लगते है। जिन्हें अलग-अलग रोगों के नाम से पुकारा जाता है। यदि इस संतुलन को पुनः ठीक कर दिया जावे तो हम स्वस्थ हो जाते हैं। जितनी-जितनी नाभि अपने वास्तविक स्थिति में आती है, उतने-उतने हम स्वस्थता का अनुभव करने लगते हैं। मात्र थोड़े समय के लिए किसी विधि द्वारा नाभि केन्द्र को पुनः अपने स्थान पर लाने के लिए किसी विधि द्वारा नाभि केन्द्र को पुनः अपने स्थान पर लाने से रोग में राहत अवश्य मिलती है। परन्तु ऐसी स्थिति बना दी जावे जिससे नाभि केन्द्र स्थायी रूप से अपने केन्द्र पर स्थिर हो जावे तो हम पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी तालाब के मध्य में कोई पत्थर डाला जाये तो, वहां से उठने वाली लहरें वृत्ताकार बन चारों तरफ फैलती है। परन्तु यदि पत्थर बीचों-बीच में न डालकर तालाब की किसी एक दिवार से थोड़ी दूरी पर डाला जावे तो वृताकार फैलने वाली लहरें दिवार से टकराकर ठीक उसी दिवार के विपरीत दिशा में वृताकार परिधि से बाहर की तरफ बढ़ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अवरोध आने से लहरें अपना आकार बदल देती है। ठीक उसी प्रकार नाभि केन्द्र से प्रवाहित होने वाली ऊर्जा के मार्ग में जिधर लम्बे समय से अवरोध बना रहता है, नाभि का वह क्षेत्र सिकुड़ने लगता है। उसी तरफ स्थित अंग पूरी ऊर्जा न मिलने के कारण रोग ग्रस्त हो जाते हैं। इसके विपरीत जिधर लम्बे समय से ऊर्जा का प्रवाह आवश्यकता से ज्यादा हो रहा है, उधर नाभि का गोलाकार क्षेत्र खुल जाता है। उस तरफ स्थित अंगों में आवश्यकता से अधिक प्राण ऊर्जा मिलने से संतुलन बिगड़ जाता है और वे रोग ग्रस्त होने लगते हैं।

नाभि निरीक्षण की विधि-

नाभि अपने स्थान पर है अथवा नहीं, पता लगाने की अनेकों विधियाँ होती है परन्तु यहाँ एक ही प्रमुख विधि का तरिका बताया जा रहा है। जिस व्यक्ति की नाभि चेक करती हो उस व्यक्ति को जमीन पर पीठ के बल सुला दीजिये। फिर अपने बांयें अथवा दाहिने हथेली की पांचों अंगुलियों को एक साथ मिलाकर ठीक नाभि पर

दबाव देते हुये रखिये। यदि नाभि अपने स्थान पर होगी तो पांचों अंगुलियों के बीच में आपको स्पन्दन का आभास होगा। यदि नाभि थोड़ी हटी हुई हो तो नाभि का स्पन्दन पांचों अंगुलियों में किसी अंगुली के नीचे प्रायः अनुभव होगा परन्तु यदि नाभि अपने केन्द्र से अधिक हटी हुई हो तो नाभि क्षेत्र के आसपास पांचों अंगुलियों से दबाव देते हुए, उस स्थान को मालूम करें, जहाँ स्पन्दन आ रहा हो। जहां पर स्पन्दन आता है, नाभि चक्र उसी स्थान पर होता है। परन्तु जिन लोगों का पेट मोटा अथवा कठोर होता है, उन लोगों के नाभि चक्र का स्पन्दन आसानी से पता नहीं चलता तथा ढूंढने वाले के नाभि क्षेत्र में पर्याप्त दबाव डालकर ढूंढना पड़ता है।

नाभि केन्द्र ठीक करने की विधियाँ-

नाभि केन्द्र को अपने स्थान पर लाने के लिये भारत में अनेकों विधियाँ प्रचलित है। वे इतनी सरल है कि कोई भी जिज्ञासु, शिक्षित, अशिक्षित, बच्चा, बुढ़ा, आसानी से उन विधियों को सीख सकता है। नाभि के केन्द्र में स्पन्दन का अनुभव होने पर वह अपने स्थान पर कहीं जाती है। परन्तु यदि स्पन्दन केन्द्र में न हों तो, बोलचाल की भाषा में हम धरण का टलना, पेचुटि अथवा नाभि का खिसकना कहते हैं।

1. प्रातःकाल खाली पेट रोगी को सीधा सुलाएँ। नाभि के आसपास बाल हों तो उन्हें साफ कर लें, अथवा पानी से गिला कर लें। उसके पश्चात् रोगी को पांच सात बार गहरा एवं लम्बा श्वास लेने को कहें। उसके पश्चात् नाभि के केन्द्र पर जलता हुआ दीपक रख उसको कांच की गिलास से ढ़क दें तथा पेट पर ग्लास को हल्का सा दबाव देकर रखें। थोड़ी देर बाद गिलास के अन्दर आक्सीजन समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जायेगा तथा गिलास पेट पर चिपक जायेगी तथा उसके अन्दर की वायु नाभि के स्पन्दन को अपनी जगह पर लाने के लिये खिंचाव करेगी। जब नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में आ जायेगा तो गिलास अपने आप पेट से हट जायेगी। जितनी देर से गिलास हटती है, उतने ही अनुपात में नाभि क्षेत्र में प्राण ऊर्जा के प्रवाह में अवरोध होता है। रोग ज्यादा अथवा कम, पुराना अथवा तत्कालीन होता है। अगर नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में होता है तो गिलास दीपक बुझने के पश्चात् या तो पेट से चिपकेगी भी नहीं अथवा तुरन्त हट जायेगी। गिलास हटने के पश्चात् पुनः नाभि का स्पन्दन उसके केन्द्र में जांच कर लें। गिलास हटने के पश्चात् उसी स्थान पर रोगी को बैठा कर कुछ सात्विक ठोस पोष्टिक भोजन कराना चाहिये, ताकि पेट में भोजन के दबाव से नाभि का स्पन्दन अपने स्थान पर ही केन्द्रित रहे। आजकल दीपक के स्थान पर पंप, आर्गन डेवलेपर अथवा ब्रेस्ट पम्प का उपयोग भी किया जाता है। विशेषकर उन रोगियों के लिये जिनके तोंद ज्यादा हों अथवा नाभि का स्पन्दन बहुत गहरा अथवा केन्द्र से बहुत दूर हो। पम्प द्वारा खिंचाव उतना ही देना चाहिये जितना रोगी सहन कर सकें।
2. सुबह खाली पेट कमर सीधी करके सीधे लेट जायें। सर्व प्रथम 25-30 बार चित्र में दर्शायी विधि द्वारा सीधी एवं उल्टी साइकलिंग का व्यायाम करें। फिर रीढ़ के घुमावदार राजा और रानी आसन 25-30 बार करें। दोनों पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठायें तथा 90 डिग्री के कोण पर रखें। फिर सिर को बिना जमीन से उठाएँ दोनों पैरों को सीधे रखते हुए धीरे-धीरे जमीन पर लाएं। ऐसा उत्तानपादासन 5-6 बार करें। उसके पश्चात् 5-6 बार नौकासन विधि पूर्वक करें। ऐसा करने से खिसकी हुई धरण अपने स्थान पर आ जाती है।

3. सुबह भूखे पीठ के बल सीधे लेट जायें। दोनों टखनों तथा घुटनों को साथ-साथ रखें। यदि धरण अपने स्थान पर नहीं होती है तो एक पैर का अंगूठा दूसरे पैर के अंगूठे से कुछ बड़ा लगेगा। अर्थात् दोनों अंगूठे बराबर नहीं होंगे। जो अंगूठा नीचे हों उसे हाथ से ऊपर की ओर खीचें। दो-तीन बार खींचने से दोनों अंगूठे बराबर हो जायेंगे और धरण अपने स्थान पर आ जायेगी। यदि छोटे पैर को खिंचना किसी कारण संभव न हों तो पैरों को संतुलन करने की विधि से दोनों पैरों को बराबर करने से नाभि अपने केन्द्र में आ जाती है।

गर्मियों के दिनों में नाभि पर बर्फ का टुकड़ा रखने से नाभि क्षेत्र में संकोचन होने लगता है और हटी नाभि अपने स्थान पर आ जाती है।

स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को प्रतिदिन नाभि केन्द्र की स्थिति का परीक्षण कर लेना चाहिये। यदि नाभि केन्द्र अपने स्थान से विचलित हो गया हों तो प्रमाद छोड़ उसके केन्द्र में लाने का प्रयास करना चाहिये। जो व्यक्ति अपने नाभि केन्द्र के बारे में पूर्ण सजग रहते हैं, उन्हें जीवन में कोई असाध्य रोग नहीं होता।

चित्र में बतलाये सुजोक एक्यूप्रेशर प्रतिवेदन केन्द्रों पर दबाव देने से भी नाभि संबंधी असंतुलन जल्दी दूर होता है। रात्रि में सोते समय नाभि केन्द्र में शुद्ध देशी गाय का घी 2-3 बूंद डालने से नाभि केन्द्र के आसपास जमें विजातीय तत्त्व दूर हो जाते हैं। नाभि के अन्दर और चारों तरफ दाणा मैथी लगाने से, चुम्बक का मसाज करने से भी नाभि संबंधी रोगों में शीघ्र आराम मिलता है।

अठारवां अध्याय

प्रभावशाली चैतन्य चिकित्सा

यदि किसी व्यक्ति को चन्द मिनटों के लिए लाखों रुपयों का प्रलोभन देकर भी श्वास रोकने अथवा बन्द करने का अनुरोध करें तो भी शायद ही कोई अभागा अथवा मूर्ख व्यक्ति हमारी बात को स्वीकारेगा? श्वास बंद होते ही व्यक्ति की मृत्यु होती है तथा मृत्यु के पश्चात् प्राप्त उस अपार धन राशि का स्वयं के लिए क्या उपयोग? ऐसी अमूल्य श्वास ऊर्जा हमें जीवित अवस्था में प्रकृति से अनवरत बिना कुछ मूल्य चुकाये प्रतिक्षण प्राप्त होती है। इसी कारण अधिकांश प्रचलित सभी ध्यान पद्धतियों का प्रारम्भिक अभ्यास श्वास पर ध्यान केन्द्रित करके ही कराया जाता है।

परन्तु प्रायः हम हमारी श्वास का पूर्ण सजगता के साथ सदुपयोग नहीं करते। हमारी चेतना अथवा प्राण का श्वास के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। दोनों का एक दूसरे के बिना अस्तित्व संभव नहीं होता। जिस प्रकार बिजली की ऊर्जा को आवश्यकतानुसार रूपान्तरित कर एयर कंडीशनर, कूलर, फ्रीज, पंखें आदि ठण्डक प्रदान कराने वाले व हीटर, ओवन, गीजर आदि गर्मी पैदा करने वाले तथा ट्यूब, बल्ब आदि प्रकाश फैलाने वाले एवं वाहन आदि, गति करने वाले उपकरणों का उपयोग किया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार शरीर में चेतना, आंखों के सहयोग से देखने, कानों के सहयोग से सुनने, नाक के सहयोग से सूघने, मुंह एवं जीभ के सहयोग से बोलने तथा आहार ग्रहण करने इत्यादि की क्षमता प्राप्त कर लेती है।

हमारी अधिकांश प्रवृत्तियां पांचों इन्द्रियों और मन के माध्यम से संचालित होती है। मन की चेतना सभी प्रवृतियों में निर्णायक भूमिका निभाती है। पांचों इन्द्रियों और मन के सकारात्मक तालमेल एवं सदुपयोग से हम स्वस्थ और संतुलित होते हैं जबकि उनके नकारात्मक एवं दुरुपयोग से हम असंतुलित एवं रोगी होते हैं। आत्मार्थी साधक इन्द्रियों का आलम्बन मन से हटाने हेतु पर्वतों, गुफाओं अथवा एकान्त स्थान का साधना हेतु चयन करते हैं।

अतः यदि किसी विधि द्वारा शरीर के किसी भाग पर मन को केन्द्रित कर दिया जाये तो अधिकांश प्राण ऊर्जा को भी उस स्थान पर केन्द्रित किया जा सकता है। निद्रा में पाँचों इन्द्रियाँ और मन सुसुप्त अवस्था में होते हैं, अतः हमें दर्द, कमजोरी अथवा अन्य संवेदनाओं का अनुभव नहीं होता। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये इस प्राण अथवा चैतन्य ऊर्जा से अच्छा, प्रभावशाली और सशक्त कोई अन्य विकल्प बहुत कठिन होता है।

परन्तु मन को एकाग्र करना बहुत कठिन होता है और उस हेतु दीर्घकालीन ध्यान-साधना का अभ्यास आवश्यक होता है, जो जनसाधारण के लिये प्रायः संभव नहीं होता। अतः यदि हम आँख से देखना, मुँह से खाना और बोलना बंद कर दें तथा शांत एकान्त स्थान पर चले जायें तो आवाज न आने से कान और गंध परिवर्तन न होने से घ्राणेन्द्रिय को आराम मिल जाता है। ऐसे समय हम मन को जिस स्थान पर एकाग्र करना चाहें, सरलता से कर सकते हैं। हम भलिभांति जानते हैं कि जब सूर्य की किरणों को किसी कांच के लेंस के अन्दर से निकाला जाता है तो, किरणें एकाग्र होकर अपना प्रभाव दिखाने लगती है। जिस स्थान पर वे किरणें फेंकी जाती है, वहाँ इतनी गर्मी पैदा होने लगती है, कि कुछ देर में वहाँ पड़ा कांगज, कपड़ा अथवा अन्य ज्वलनशील पदार्थ जलने लगता है। जो कार्य सूर्य की असंख्य किरणें मिलकर नहीं कर सकती है, वहीं कार्य जब उनको एकाग्र करके डाला जाये तो सहज हो जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि एकाग्रता से ऊर्जा की ताकत बहुत बढ़ जाती है। जिस प्रकार राष्ट्र की विकटतम समस्या के समाधान हेतु सर्वोच्य नेता का ध्यान आकर्षित हो जाता है, वे रूचि लेने लगते हैं तथा उन समस्याओं को प्राथमिकता से सुलझाने का प्रयास करते हैं तो उस समस्या का अवश्य समाधान हो जाता है। चाहे कारगिल पर आक्रमण हो अथवा गुजरात में भूकम्प, राष्ट्र की प्राथमिकताओं को बदल, उन समस्याओं के समाधान को महत्त्व मिलता है। ठीक उसी प्रकार जब रोग ग्रस्त भाग से एकाग्रता द्वारा चेतना का सीधा सम्पर्क हो जाता है, मन के दूसरे आलम्बन समाप्त हो जाते हैं तो प्राण ऊर्जा का प्रवाह उस भाग में बढ़ने लगता है। जिससे शरीर के उस रोग ग्रस्त भाग की क्षीण कार्य क्षमता पुनः बढ़ने लगती है। वहाँ से विजातीय तत्त्व एवं विकार दूर होने लगते हैं। फलतः रोग ग्रस्त भाग रोग मुक्त होने लगता है।

अतः प्रातः काल हम इतना जल्दी उठे कि आसपास का वातावरण पूर्णतया शांत हो तो हमारा घर ही मन की एकाग्रता के लिये शांत और एकान्त स्थान बन सकता है। ऐसे समय घर की खुली छत अथवा प्रकृति के शुद्ध वातावरण में स्थिर आसन बैठ , दर्द वाले भाग को थपथपायें अथवा उस भाग का संकोचन करें और फैलावें या उस भाग पर तनाव दें तो मन उस स्थान पर केन्द्रित होने लग जाता है। परिणामस्वरूप उस स्थान पर चेतना अथवा प्राण ऊर्जा अधिक मात्रा में प्रवाहित होने लगती है। जिससे विजातीय विकार दूर होने लगते हैं और कमजोर भाग सशक्त होने लगता है। मांसपेशियों में हलन-चलन होने से सक्रियता आने लगती है। जिस प्रकार जो स्प्रींग क्रियाशील होती है, उसमें जंग लगने की संभावनाएँ कम रहती है, ठीक उसी प्रकार दर्द वाले भाग पर मन को

एकाग्र करके गहरा श्वास लेने तथा तेजी से निकालने अथवा जोर से हँसने से रोग ग्रस्त भाग की मांसपेशियों में हलन-चलन होने से उन पर लम्बे समय से जमें अथवा एकत्रित विकार दूर होने लगते हैं। प्राण ऊर्जा का प्रवाह आवश्यकतानुसार संतुलित होकर प्रवाहित होने लगता है, जिससे तुरंत स्वास्थ्य लाभ की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लग जाती है। मृत कोशिकाएँ पुनर्जीवित होने लगती है। जिस प्रकार मालिक के जागते ही, चोर भाग जाता है, ठीक उसी प्रकार रोग ग्रस्त भाग पर ध्यान करने से वहाँ से रोग के कारण दूर होने लगते हैं।

चेतना से ज्यादा शक्तिशाली एवं प्रभावशाली रोग निवारक प्रायः मिलना असंभव होता है। परन्तु जब रोगी की चेतना का दर्द अथवा कमजोर भाग से सीधा सम्पर्क हो जाता है तो उपचार का प्रभावशाली होना स्वाभाविक है। अंतःस्रावी ग्रन्थियाँ आवश्यकानुसार अपने स्राव के रूप में मदद भिजवाने लगती है, जिससे व्यक्ति रोग मुक्त होने लगता है।

दर्द अथवा कमजोर भाग पर किसी भी विधि द्वारा तनाव और ढ़ीला छोड़ने की प्रक्रिया के साथ गहरी श्वास क्रिया या कपाल भाति प्राणायाम अथवा वेग के साथ हँसी की क्रिया जिसका वर्णन हास्य चिकित्सा के अध्याय में किया गया है। भूखे पेट करने से सर्वाधिक लाभ मिलता है।

उन्नीसवां अध्याय

हास्य चिकित्सा

शरीर में विजातीय तत्त्वों को निःश्वास के साथ विसर्जित करने का सरलतम उपाय है हास्य योग अर्थात् खुलकर हँसना। मुस्कराना, प्रसन्नचित रहना।

श्वसन के विभिन्न व्यायामों में हास्य सरलतम नैसर्गिक क्रिया है, जो हमारी आन्तरिक प्रसन्नता को प्रकट करती है। जो नित्य मुस्कराता रहता है, उसके तनाव, भय, निराशा, चिन्ता, नकारात्मक सोच, क्रोध, घृणा आदि कारण स्वतः दूर होने लगते हैं। मुख मण्डल आभा से भर जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है, उसमें मिलनसारिता की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है, जिससे उसके सम्पर्क में आने वाले प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। मुस्कान न केवल एक जीवन्त प्रक्रिया है, उससे भी कहीं अधिक एक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक घटना भी है, जिससे दो व्यक्तियों के बीच शुभ संवाद आरम्भ होने में सुविधा मिलती है। जब दो परिचित मिलते हैं तो दूर से दिखते ही चेहरे पर मुस्कान आ जाती है। अतिथियों का मुस्कराते हुए ही स्वागत किया जाता है। अर्थात् मुस्कान हमारे जीवन में आनन्द, सुःख, प्रसन्नता की सूचक होती है। मुस्कान की उपमा खिलते हुए कमल के फूल से की जा सकती है। जिस प्रकार खिला हुआ कमल का पुष्प अच्छा लगता है, ठीक उसी प्रकार मुस्कान से व्यक्ति को सुख की अनुभूति होती है। जिसके चेहरे की मुस्कुराहट चली जाती है, उसके जीवन की प्रसन्नता चली जाती है। जिसके जितनी ज्यादा मुस्कान रहती है, उतना अधिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है। मुस्कराना प्रकृति की मानव को अनुपम देन है। जो उसको स्वस्थ, सुखी प्रसन्नचित्त रखने का, उसके स्वयं के हाथ में सहज, सरल, सस्ता प्रभावशाली उपाय है। जिसमें किसी भी प्रकार के दुष्प्रभाव की संभावना नहीं होती। जितना अधिक व्यक्ति आन्तरिक मुस्कराहट से ओतप्रोत रहता है, उतनी ही उसकी सहनशीलता बढ़ती जाती है। प्रतिकूलता और वियोग

में समतामय जीवन जी सकता है। उसकी पर दोष दृष्टि समाप्त होने लगती है, चिन्तन सकारात्मक होने लगता है, जो मानव जीवन की सफलता एवं उद्देश्य प्राप्ति का मूलाधार होती है। सकारात्मक भाव पैदा होते हैं, जिससे शरीर के लिए उपयोगी रसायन पैदा होने लगते हैं। कार्य क्षमता बढ़ जाती है। अशान्ति की आग में आकुल-व्याकुल व्यक्ति के लिए हास्य एक वरदान होता है।

जब मुस्कान हँसी में बदल जाती है तो स्वास्थ्य वर्धक औषधि का कार्य करने लगती है। मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है, जिसमें हँसने की क्षमता होती है। यह उसका स्वभाव भी है तथा उसके खुशी की अभिव्यक्ति का माध्यम भी। किसी बात पर मुस्कराना अथवा हँसना, किसी को देख कर हँसना, कुछ व्यंग सुनकर हँसना, कुछ पढकर हँसना, किसी को हँसते हुए देख कर हँसना, किसी से मुस्कराते हुए मिलना, खुशी के प्रसंगों पर मुस्कराना मानव व्यवहार की सहज क्रियाएँ है। कहना होगा कि हास्य तनाव का विरेचन है। सच्चा हास्य तोप के गोले की तरह छूटता है और मायूसी की चट्टान को बिखेर देता है। हास्य से रोम-रोम पुलकित होते हैं, दुःखों का विस्मरण होता है, खून में नयी चेतना आती हैं। शरीर में कुछ भाग हास्य ग्रन्थियों के प्रति विशेष संवेदनशील होते हैं। जैसे पगथली, काख, गला आदि। अतः यदि किसी तनाव ग्रस्त, भयग्रस्त अथवा मानसिक दुःखों से ग्रस्त व्यक्ति के उन संवेदनशील भागों पर आवश्यक सिरहन किया जाए तो अनचाहे हँसी आने लगती है। परिणामस्वरूप तनाव, भय, चिन्ताओं के विकार शरीर से विसर्जित हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति खुशी का अनुभव करने लग जाता हैं। हंसी मानसिक रोगों के उपचार का प्रभावशाली माध्यम होता है।

हंसी से शरीर में वेग के साथ आक्सीजन का अधिक संचार होने से मांसपेशियाँ सशक्त होती है। जमें हुए विजातीय अनुपयोगी, अनावश्यक तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं, जिससे विशेष रूप से फेंफड़े और हृदय की कार्य क्षमता बढ़ती है। अवरोध समाप्त होने से रक्त का प्रवाह संतुलित होने लगता है। शरीर स्वस्थ एवं बलिष्ठ होने लगता है। हँसी से शरीर में ताजगी आती है। अच्छी स्वाभाविक निद्रा आती है। बुखार दूर हो जाता है। दर्द और पीड़ा में राहत मिलती है। वास्तव में हँसी सभी प्रकार के रोगों में प्रायः लाभकारी होती है। हृदय रोगियों का हास्य सरलतम प्रभावशाली उपचार है।

दुःखी, चिन्तित, तनाव ग्रस्त, भयभीत, निराश, क्रोधी आदि हँस नहीं सकते और यदि किसी भी कारण से हँसी आती है तो उस समय तनाव, चिंता, भय, दुःख, क्रोध आदि रह नहीं सकते, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोधी स्वभाव के होते हैं। अतः यदि हम काल्पनिक हँसी भी हँसेंगे तो तनाव, चिंता, भय, निराशा आदि स्वतः भूल जाते हैं। ये ही वे कारण होते हैं जो व्यक्ति को अस्वस्थ, असंतुलित, रोगी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हँसने से शरीर के आन्तरिक भागों की सहज मालिश हो जाती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ और ऊर्जा चक्र सजग और क्रियाशील होने लगते हैं। जिससे रोग प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ती है। मन में सकारात्मक चिन्तन, मनन होने लगता है। शुभ विचारों का प्रादुर्भाव होता है। नकारात्मक भावनाएँ समाप्त होने लगती है। आज के तनाव युक्त वातावरण से मुक्त होने के लिए हास्य-योग सरलतम, स्वयं के पास, सभी समय उपलब्ध, सहज, सस्ता साधन है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि हँसने के लिए व्यक्ति बाह्य आलम्बनों पर निर्भर रहता है। जो हमारे पास सदैव उपस्थित नहीं होते। चुटकलों के सहारे हम 365 दिन नहीं हँस सकते, क्योंकि नित्य नवीन ज्ञानवर्धक प्रभावशाली चुटकलें भी पढ़ने को नहीं मिलते और न ऐसे व्यक्तियों का नियमित सम्पर्क होता है, जो दूसरों को हँसाने में दक्ष

होते हैं। आज के सभ्य समाज में अकारण हँसने वालों की तुलना पागलों अथवा मूर्खो से की जाती है। बिना बात हँसना बहुत कठिन होता है। सबसे बड़ी समस्या अकारण हँसने से लज्जा आती है। अतः व्यक्ति हास्य के लाभ को जानते, हुए भी हँसने का साहस नहीं जुटा पाता। परिणामस्वरूप उसे रोग होने की संभावनाएँ बढ़ती है तथा बीमार होने पर चिकित्सकों की प्रयोगशाला बनने हेतु मजबूर होना पड़ता है। इसी कारण आज सारे विश्व में हास्य योग संगठन बनते जा रहे हैं। जो प्रातःकाल खुले मैदानों अथवा बगीचों में नियमित एकत्रित होकर सामूहिक रूप से कृत्रिम ढंग से हँसते हैं, हँसाते हैं। हम प्रायः अनुभव करते है कि साधारण परिस्थितियों में कभी-कभी सामने वाले को हँसते हुए देख अकारण ही हँसी स्वतः आने लगती है। इसका छूआछूत के रोग की भांति आपस में फैलाव अथवा प्रसार होने लगता है, जिससे समुह में हँसी का सहज माहौल हो जाता हे। आजकल समूह में भी हँसने की भी विभिन्न विधियाँ मानव ने विकसित कर ली है।

जो व्यक्ति ऐसे संगठनों में न जा सकते हों या जहाँ ऐसे संगठन न हों, यदि अपने घर में भूखे पेट, खुले एकान्त, स्वच्छ स्थान पर गहरा श्वास लेकर एक ही श्वास में ठहाका मारते हुए पूर्ण वेग के साथ जितने लम्बे समय तक खुल कर हँस सकें, हँसने का अभ्यास कर सकते हैं। जिसको लोक भाषा में हम अट्टहास कहते हैं। अट्टहास का अपनी क्षमतानुसार अभ्यास किया जा सकता है। अट्टहास का क्षमतानुसार अधिकाधिक पुनावर्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् थोड़ी देर तक शवासन अथवा शिथिलिकरण करना चाहिये।

जो व्यक्ति अट्टहास करने का साहस न जुटा सकें, वे होठ बन्द कर मन ही मन तीव्र गति से हँसने का प्रयास करें। जिससे हास्य योग का लाभ मिल जाता है। कोई भी प्रवृत्ति का सर्वमान्य स्पष्ट मापदण्ड नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वविवेक और स्वयं की क्षमताओं तथा हँसने से होने वाली प्रतिक्रियाओं का सजगता पूर्वक ध्यान रख अपने लिए उपयुक्त और आवश्यक विधियों का चयन करना चाहिए, न कि देखी, सुनी-सुनायी, पद्धति के आधार पर किसी के उपहास या मजाक के रूप में हँसना। किसी भी असफलता या नुकसान पर हँसना क्रूर हास्य है। अतः ऐसे हास्य का निषेध है। दूसरों को देख हँसना, कभी-कभी कलह अथवा द्वेष के कारण, कषाय वृद्धि का हेतु बन सकती है। परन्तु अकेले में एकान्त में होठ बन्द कर शान्त हँसी कषाय वृद्धि का कारण भी नहीं होती है। पाँच मिनट हँसने से शरीर को 1 से 2 किलोमीटर प्रातःकाल घूमने जितनी ऊर्जा मिलती हैं। प्रदूषण रहित स्वच्छ एवं खुले प्राण वायु वाले वातावरण में, प्रातःकाल उदित सूर्य के सामने, हास्य व्यायाम अधिक प्रभावशाली होता है, क्योंकि हास्य लाभ के साथ-साथ सौर ऊर्जा की भी सहज प्राप्ति हो जाती है।

बीसवां अध्याय

प्रभावशाली मेथी चिकित्सा

दाणा मेथी हमारे रसोइघरों में दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तु है, जो अनेक औषधिय-गुणों से भरपूर होती है। इसका नियमित प्रयोग शरीर को स्वस्थ बनाता है। प्राचीन काल से ही इसका प्रयोग खाद्य और औषधि के रूप में हमारे घरों में होता आ रहा है।

आयुर्वेद के ग्रन्थ भाव प्रकाश में कहा गया है कि मेथी वात को शान्त करती है, कफ और ज्वर का नाश करती है। राज निघन्टु ने मेथी को पित्त नाशक, भूख बढ़ाने वाली, रक्त शोधक, कफ और वात का शमन करने वाली बतलाया गया है।

मेथी में प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेटस, खनिज, विटामिन, कैल्शियाम, फासफोरस, लोह तत्त्व, केरोटीन, थायमिन, रिवोफलेबिन, विटामिन सी आदि प्रचुर मात्रा में होते हैं। लोह तत्त्व की अधिकता के कारण मेथी रक्त की कमी वालों के लिये विशेष लाभप्रद होती है। मेथी दानों से शरीर की आन्तरिक सफाई होती है। आग से जलने पर दानेदार मेथी को पानी में पीस कर लेप करने से जलन दूर होती है। फफोले नहीं पड़ते। शरीर में अन्दर की जलन वाले स्थान पर भी लेप करने एवं मेथी का पानी पीने से आन्तरिक जलन कम होती है। मेथी की चाय बुखार को कम करने में बहुत प्रभावकारी होती है।

मेथी मुख्यतः पाचन संस्थान पर कार्य करती है। मेथी सेवन से पाचन तंत्र सुधरता है। परोक्ष रूप से वात नाड़ी संस्थान एवं रक्त पर भी अपना प्रभाव डालती है। आमाशय की पाचन क्रिया सुधारती है। मेथी के सेवन से पेट में कृमियों का नाश हो जाता है। आंतों में भोजन का बराबर पाचन होता है। बड़ी आंत में, मल में कुछ गाढ़ापन आता है और मल आसानी से बड़ी आंत में गमन करने लगता हैं। मेथी खाने से भूख अच्छी लगती है। मेथी सेवन से गंध और स्वाद इन्दियाँ अधिक संवेदनशील होती हैं। यह शरीर का आन्तरिक शोधन करती है। श्लेष्मा को घोलती है तथा पेट और आंतों की सूजन ठीक करने में सहायक होती है। इसी कारण तपस्या का पारणा करते समय मेथी का सेवन लाभ प्रद होता है।

मेथी सेवन से मुंह की दुर्गन्ध दूर होती है। कफ, खांसी, इनफ्लुएन्जा, निमोनिया, दमा आदि श्वसन संबंधी रोगों में लाभ होता है। गले की खराश में मेथी दाने के पानी से गरारे करने से बहुत लाभ होता है।

मेथी पतों की चाय से डूश लेने से महिलाओं में श्वेत प्रदर का रोग ठीक होता है। जामुन के आकार की पोटली में मेथी दाने अथवा उसका चूर्ण भर कर पोटली को गर्भाशय में रखें तथा डोरा बाहर लटकने दें। जिससे आवश्यकता पड़ने पर पोटली बाहर निकाली जा सके अथवा गंदी होने पर बदली जा सके। श्वेत प्रदर में मेथी का ऐसा प्रयोग काफी लाभप्रद होता है। प्रजनन के पश्चात् गर्भाशय के संकोचन एवं गर्भाशय की शुद्धि के लिये मेथी सेवन उपयोगी होता है। मेथी के सेवन से महिलाओं में महावारी की गड़बड़ियाँ दूर होती है। मेथी सेवन से प्रजनन के बाद मां के स्तनों में अधिक दूध उपलब्ध होता है।

मेथी का सिर पर लेप करने से गिरने वाले बाल रूक जाते हैं, गंजों के बाल आने लगते हैं। बाल अपने प्राकृतिक रंग में और मुलायम बने रहते हैं। बालों की लम्बाई बढ़ती है। ताजा पतियों का पेस्ट रोज नहाने से पूर्व चेहरे पर लेप करने से चेहरे का रुखापन, झुरियाँ, गर्मी से होने वाले फोड़े-फुन्सियाँ आदि ठीक होते हैं।

मधुमेह और हृदय रोगियों के लिये मेथी बहुत लाभप्रद होती है। मेथी से तन्तुओं को ताकत मिलती है। मेथी के सेवन से घुटनों के दर्द, स्नायु रोग, गंठिया, बहुमूत्र रोग, सुखा रोग आदि में लाभ होता है।

पित्त प्रकृति वालों को या जिन्हें रक्त पित्त, रक्त प्रदर, खूनी बवासीर, नकसीर, मूत्र में रक्त आना अथवा शरीर के किसी भाग से रक्त निकलने की शिकायत हों अथवा जिन्हें गर्म वस्तुएँ अनुकूल न हों, उन्हें मेथी का

प्रयोग करते समय सावधानी रखनी चाहिये, क्योंकि मेथी उष्ण और खुश्क होती है। तेज गर्मी में भी मेथी का आन्तरिक प्रयोग करते समय विशेष ध्यान रखना चाहिये।

यद्यपि अलग-अलग रोगों के उपचार हेतु मेथी का प्रयोग अनेक प्रकार से किया जाता है। जैसे-मेथी दाणा भिगोकर उसका पानी पीना, उसे अंकुरित कर खाना, या रस निकालकर पीना, उबालकर उसका पानी पीना या सब्जी बनाकर खाना, विभिन्न अचारों, सब्जियों अथवा अन्य खाद्य पदार्थो के साथ पकाकर सेवन करना, मेथी दानों को चूसना, चबाना अथवा पानी के साथ निगलना, मेथी की चाय अथवा काढ़ा बनाकर पीना, उसका पाउडर बना पानी के साथ लेना, लेप करना, मेथी की पुड़ियें बनाकर खाना अथवा पकवान बनाकर उपयोग करना इत्यादि कई तरीकों से मेथी का प्रयोग हमारे घरों में होता रहता है। परन्तु आजकल मेथी की प्रभावशाली तरंगों के कारण कमजोर अंगों को शक्तिशाली बनाने, शरीर के दर्द वाले भाग की वेदना कम करने, जलन वाले भाग की जलन दूर करने में मेथी का बाह्य प्रयोग चमत्कारी प्रभावों वाला सिद्ध हो रहा है, जिससे जनसाधारण प्रायः अनभिज्ञ ही है।

मेथी जो कार्य पेट में जाकर करती है, उससे अधिक एवं शीघ्र लाभ उसके बाह्य प्रयोग से संभव होता है, क्योंकि उसमें उसका रोग ग्रस्त भाग से सीधा सम्पर्क होता है। परिणामस्वरूप पित्त प्रकृति वालों एवं तेज गर्मी में भी बिना किसी दुष्प्रभाव इसका उपयोग किया जा सकता है। फिर भी उपचार अथवा उपयोग का काल व्यक्ति के स्वविवेक और सजगता पर निर्भर रहता है। मेथी दानों को शरीर के दर्द वाले भाग पर लगाने से दर्द में तुरन्त राहत मिलती है। शरीर के कमजोर अंग पर लगाने से वह अंग पुनः सक्रिय और ताकतवर होने लगता है। हृदय रोगियों के हृदय वाले स्थान पर मेथी दाणा लगाने से हृदय शूल और अन्य विकार शीघ्र दूर होने लगते हैं। रक्तचाप सुधरता है। रक्त में कॉलस्ट्रोल की मात्रा कम होती है। मधुमेह के रोगियों के पेन्क्रियाज पर दाणा मेथी लगाने से पेन्क्रियाज अधिक इंसुलिन बनाने लगता है। उसकी ताकत बढ़ती है। गुर्दे के रोगियों के गुर्दो वाले स्थान पर मेथी लगाने से गुर्दो की कार्यप्रणाली सुधरने लगती हैं। दातों के दर्द में मुंह में दर्द वाले दांतों के पास मेथी चूसते रहने से दांतों का दर्द ठीक होने लगता है। चाहे कमर का दर्द हो या घुटनों का अथवा ऐडी या शरीर में ओर किसी प्रकार के स्थानीय दर्द में मेथी दाणा उस स्थान पर लगाने से प्रभावशाली परिणाम आते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मेथी से अनेक रोगों का उपचार हो सकता है। गांठ पर मेथी दाणें लगाने से गांठ सिकुड़ने लगती है।

एक्युप्रेशर के जिन प्रतिवेदन बिन्दुओं पर विजातीय तत्त्वों के जमा हो जाने से दबाव देने पर दर्द होता है वहाँ दाणा मेथी लगाकर रखने से विजातीय तत्त्व उस स्थान से दूर होने लगते हैं और प्राण ऊर्जा का प्रवाह पुनः नियमित होने से रोग में राहत मिलती है। अतः मेथी के प्रयोग से एक्युप्रेशर चिकित्सा पद्धति बिना दर्द वाली उपचार पद्धति बन जाती है।

सिर पर मेथी दाणों का मसाज करने से सिर पर भारीपन, तनाव और दर्द ठीक हो जाता है। मेथी का तकिया बनाकर सिर के नीचे सोते समय रखने से गहरी निद्रा आती है।

मेथी दाणों को मुंह में चूसते रहने से गले संबंधी रोगों में लाभ होता है। मेथी का हल्का सा मसाज छाती पर करने से फेंफड़े मजबूत होते हैं। कफ, खांसी, दमा में आराम मिलता है। नाभि में और उसके आसपास के क्षेत्र में

मेथी दाणा लगाने से गैस नहीं बनती। जलन, खुजली, फोड़ा-फुन्सी, दाद वाले लगाने पर मेथी लगाने से तुरन्त आराम मिलता है।

मेथी शरीर पर कैसे लगावें ?

कागज की चिपकाने वाली टेप पर मेथी दाणा को चिपका दें। चारों तरफ थोड़ा स्थान खाली छोड़ दें, ताकि टेप त्वचा पर आसानी से चिपक सकें। मेथी दाणों का स्पर्श, तब तक शरीर पर चिपका रहने दें, जब तक उस स्थान पर किसी प्रकार की प्रतिकूलता अथवा सिर में भारीपन अनुभव न हों। यह प्रयोग चन्द दिनों तक चालू रखें, जब तक अपेक्षित परिणाम न मिल जायें। मात्र तीन दिन के नियमित प्रयोग से उसके चमत्कारी प्रभावों का अनुभव होना प्रारम्भ होने लगता है। वैसे मेथी अपना प्रभाव लगाने के तुरन्त बाद अनुभव कराने लग जाती है।

मेथी कैसे कार्य करती है ?

प्रायः हम अनुभव करते हैं कि जब भी हम किसी रोगी का आराम पूछने जाते हैं, तो अपने स्नेही प्रियजन को देखते ही रोगी चन्द क्षणों के लिए राहत का अनुभव होता है। भले ही हम उसे बातचीत न भी करें। ऐसा क्यों होता है ? क्या जो प्रभाव हमारी उपस्थिति का होता है, वही प्रभाव रोगी के सामने हमारी फोटो दिखाने से क्यों नहीं होता ?

आयकर अधिकारी को दुकान के समीप खड़ा देख व्यापारी तनावग्रस्त क्यों हो जाता है ? अपने स्नेही मित्र को दूर से देखते ही चेहरे पर मुस्कराहट क्यों आ जाती है ? अनुकूलता हमें क्यों अच्छी तथा प्रतिकूलता क्यों खराब लगती हैं ? ठीक उसी प्रकार जो तरंगे शरीर को विकारों से मुक्त बनाती है, शरीर के लिये लाभकारी होती है।

शरीर में अधिकांश दर्दों और अंगों की कमजोरी का कारण आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार प्रायः वात और कफ संबंधी विकार होते हैं। मेथी वात और कफ का शमन करती है। अतः जिस स्थान पर मेथी का स्पर्श किया जाता है, वहाँ वात और कफ विरोधी कोशिकाओं का सृजन होने लगता हैं, शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने लगती है। दर्द वाले अथवा कमजोर भाग में विजातीय तत्त्वों की अधिकता के कारण शरीर के उस भाग का आभा मंडल विकृत हो जाता है। मेथी अपने गुणों वाली तरंगें शरीर के उस भाग के माध्यम से अन्दर में भेजती है। जिसके कारण शरीर में उपस्थित विजातीय तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं और प्राण ऊर्जा का प्रवाह संतुलित होने लगता है। फलतः रोगी स्वस्थ होने लगता है। लेखक के स्वयं का एवं हजारों रोगियों का मेथी द्वारा उपचार कर सुखद परिणामों की अनुभूति की है। चन्द वर्षो पूर्व उनको हृदय रोग की शिकायत हुई। परिजनों ने उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें अस्पताल में 5 दिनों तक गहन चिकित्सा विभाग में निरीक्षण पर रखा, परन्तु चिकित्सकों द्वारा रोग के कारण का सही निदान संभव न हो पाया। लेखक मेथी के उपचार द्वारा बिना किसी दवा का सेवन किये अपने आपको आज तक पूर्ण स्वस्थ रखने में सफल रहा। लेखक उन्हीं बातों की प्रायः चर्चा में विश्वास करता है, जो अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं तथा जिनके प्रयोग उन्होंने स्वयं अपने पर अथवा रोगियों पर सफलतापूर्वक किये हैं।

मेथी दाणा में चेतना होने से वह अधिक प्रभावशाली होती है। परन्तु जैन साधु सचित्त मेथी (जिसमें उत्पादन की क्षमता होती है) का स्पर्श नहीं करते। अतः वे अचित्त (जिसमें उत्पादन की क्षमता न हों) मेथी का प्रयोग करने पर उपरोक्त लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

इक्कीसवां अध्याय

प्रभावशाली तेल चिकित्सा

शुद्ध घी स्वास्थ्यवर्धक–

घी और तेल हमारे रसोईघर के प्रमुख स्थायी सदस्य माने जा सकते है। उनके उपयोग से शरीर में रुक्षता कम होती है तथा स्निग्धता बढ़ती है। पहले हमारे देश में शुद्ध देशी गाय का घी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था तथा पौष्टिक भोजनों में उसका बहुत उपयोग होता था। जनसाधारण शारीरिक श्रम अधिक करता था, अतः उनमें घी को पचाने की क्षमता होती थी। शुद्ध देशी घी को भोजन में ताकत का महत्त्वपूर्ण स्रोत समझा जाता था। कमजोर व्यक्तियों को विशेषकर सर्दी की मौसम में घी के उपयोग का परामर्श दिया जाता था। देशी गाय का घी आक्सीजन का अच्छा स्रोत होता है। गोबर के कंड़ों के साथ चावल डाल घी से धुआं करने पर आक्सीजन इथेलिन ऑक्साईड, प्रोपलीन ऑक्साईड, डिहाईड जैसी उपयोगी गैस बनती है जिससे पर्यावरण शुद्धि होती है। सोते समय नथुनों में घी डालने से श्वसन संबंधी रोगों में शीघ्र लाभ होता है। लेखक ने स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में सर्दियों में घी का नियमित पान किया है। आज भी तपस्या के पारणें में दूध अथवा उकाली (सोंठ, कालीमीर्च, गर्म मसालों आदि) के उबले पानी में घी मिलाकर पीने का प्रचलन है, जिससे भोजन नली की रूक्षता दूर होती है। गर्भवती महिलाओं, कमजोर व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से हमारे अनुभवी पूर्वज घी खाने का परामर्श देते हैं। शुद्ध देशी घी कीटाणु नाशक होता है। उसके उपयोग से कॉलस्ट्रोल नहीं बढ़ता। गाय के अवयवों से चिकित्सा करने वाले (पंच गव्य चिकित्सक) शुद्ध देशी गाय के घी से विभिन्न असाध्य रोगों का सफल उपचार करते हैं। वे हृदय रोगियों को भी ऐसे घी के प्रयोग का निषेध करने के बजाय, उपयोग हेतु परामर्श देते हैं। शुद्ध घी की मालिश शरीर में रोगाणुओं को दूर कर त्वचा को स्निग्ध बनाती है। प्रजनन के पश्चात् आज भी ग्रामीण महिलाओं में घी की मालिश का प्रचलन होता है। मानसिक रोगियों के सिर पर शुद्ध देशी घी की मसाज का परामर्श दिया जाता है। नाक में घी की बूंदें डालने से श्वसन संबंधी रोगों तथा नाभि केन्द्र पर घी की बूंदे डालने से पेट के विकार दूर होते हैं। घी मालिश से रक्त पित्त दूर हो जाता है। घी त्वचा के छिद्रों में प्रवेश कर सर्व देह को शांति पहुँचाता है, जिससे त्वचागत रोग दूर होते हैं। सार्थ योगरत्नाकर भाग 1 के श्लोक नं. 5 में इस बात की पुष्टि की गयी है।

तैलाभ्यंग श्लेष्म वात प्रणाशी, पित्तं रक्तं नाशयेद्वा घृतष्य।
देह सर्वं तर्पयेद्रोम कूपै–वैंवर्ण्या दिख्यात रोगापकर्षी।।

हम प्रायः अनुभव करते है कि जिन व्यक्तियों ने शुद्ध देशी घी का अपने यौवनावस्था में सेवन किया अथवा आज भी करते हैं, वे वृद्धावस्था में भी आधुनिक युवा व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करने की क्षमता रखते है। उनके जोड़ों में अपेक्षाकृत कम रोग होते हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि इन्होंने देशी घी खाया है, ऐसा कथन और मान्यता आज भी प्रायः सुनने को मिलती है।

परन्तु भ्रामक विज्ञापनों एवं पश्चिम की मान्यताओं के अन्धाःनुकरण से ग्रस्त आधुनिक चिकित्सकों के एक पक्षीय चिन्तन तथा गो हत्या के समर्थकों द्वारा देशी गाय की नस्ल को अनुपयोगी बतलाने की साजिश के कारण अपने अज्ञानवश जीवनोपयोगी इस तत्त्व से आज जाने अनजाने हम संचित हो रहे हैं। दूध को भी

मांसाहारी बतलाने की साजिश हो रही है। दूध की मलाई से परहेज कराया जा रहा है। जिस पर समय दृष्टिकोण से चिन्तन एवं शोध आवश्यक है। वास्तव में शुद्ध देशी घी स्वास्थ्य के लिये शक्तिवर्धक होता है। आज जिस घी से परहेज रखने को कहा जाता है उसका तात्पर्य नकली अथवा रासायनिक पदार्थों से बने घी से ही होता है।

परन्तु हमारे अज्ञान, सरकारी नीतियों के कारण देशी गाय का शुद्ध घी मिलना आज कल बहुत कठिन हो गया है। जो कुछ शुद्ध घी के नाम से बाजार में उपलब्ध होता है उसमें भी मिलावट की प्रबल संभावना रहती है। दूसरी तरफ पश्चिम की देखा-देखी हमारे यहाँ भी रासायनिक पदार्थों से मिश्रित घी के रूप में जो उपलब्ध होता है, उसकी तुलना देशी गाय के शुद्ध घी से नहीं की जा सकती। नकली घी खाने का दुष्परिणाम होता है, शरीर में कोलस्ट्रोल आदि रक्त के विकारों का बढ़ना। इसी कारण आधुनिक चिकित्सक शायद हृदय और रक्त संबंधी रोगों में घी के प्रयोग का स्पष्ट निषेध करते हैं। शुद्ध देशी घी के प्रयोग से कोलस्ट्रोल नहीं बढ़ता अपितु कम होता है।

आयुर्वेद में तेल से रोगोपचार-

आयुर्वेद के ग्रन्थों में तिल्ली के तेल को मुँह में भर कर घूमाकर कुछ समय रख, थूकने की क्रिया को तेल गडूश कहते हैं। इस प्रकार का प्रयोग रोग विशेष में जड़ी बूटियों और औषधि सिद्ध तेलों से भी करने का प्रावधान है। तेल गण्डूश से स्वर उत्तम होता है, चेहरे की कान्ति बढ़ती है, भोजन में रुचि तथा स्वादों प्रति सजगता बढ़ती है। कण्ठशोध, होठों का फटना, दांतों का हिलना एवं दांतों संबंधी रोगों में बहुत लाभ होता है।

कान में तेल डालने से कान संबंधी रोग नहीं होते और न कानों में मल का संचय होता है। वात रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती है। बहरापन कम होता है और व्यक्ति दूर से भी सुन सकता है, जैसा कि सार्थयोगरत्नाकर भाग 1 पृष्ठ संख्या 10 के श्लोक नं. 59 और 60 में वर्णन किया गया है।

न कर्ण रोगं न मलं न च मन्याहनुग्रहः।
नौच्चैः मुतिर्तवाधियं स्यान्नित्यं कर्ण पूरणात्।।59।।

कान में तेलादि स्निग्ध पदार्थ सूर्यास्त के पश्चात् डालना अधिक लाभप्रद होता है। जबकि कान में किसी प्रकार के औषधि रूप रस को भोजन से पूर्व डालने का निर्देश दिया गया है।

रसाद्यैः पूरणं कर्णे, भोजनात्प्राक्प्रशष्यते।
तैलाद्यैः पूरणं कर्णे, भास्करअस्तमुपागते।।60।।

तेल मर्दन से लाभ-

तेल मर्दन के लाभ का वर्णन सार्थयोगरत्नाकर भाग 1 के श्लोक संख्या 55 से 58 तथा 61,62 में विस्तार से किया गया है। शरीर पर तेल का मर्दन करने से शरीर को बल की प्राप्ति होती है। मालिश करने से कफ एवं वात का नाश होता है, जैसा कि श्लोक नं. 5 में बतलाया गया है। निद्रा अच्छी आती है। शरीर का रूप निखरता है एवं त्वचा स्निग्ध और कोमल होती है। दृष्टि सुधरती है तथा शरीर बलिष्ट होता है। सिर पर तेल मालिश करने से मस्तिष्क बलवान तथा सिर के बाल मजबूत, घने, एवं चिकने होते हैं। सिर पर तेल मालिश सभी इन्द्रियों संबंधी रोगों में राहत दिलाता है तथा दिमाग के रोगों का नाश होता है। छोटे बच्चों में तेल की मालिश से सिर का पूर्ण

विकास होता है। तेल मालिश से दृढ़ता एवं परिश्रम करने की शक्ति प्राप्त होती है। त्वचा में स्थित वातनाड़ियों का पोषण होता है। सर्दी एवं गर्मी सहन करने की क्षमता बढ़ती है।

दोनों पगथलियों के तलवों में नित्य तेल मर्दन करने से वायु का शमन होता है। नेत्र ज्योति सुधरती है। निद्रा अच्छी आती है। पैर शक्तिशाली होते हैं और पैरों संबंधी विकार दूर होते हैं। व्यायाम अथवा अधिक श्रम से थके व्यक्ति के पैरों में, तलवों में तेल की मालिश से थकावट तुरन्त दूर हो जाती है।

सिर पर तेल की मालिश करने से सिर के सभी रोग नष्ट होते हैं। मन शान्तिमय बन जाता है। आँख में तेल डालने से दांत संबंधी रोगों में आराम मिलता है। मालिश के लिये भी अच्छे परिणाम पाने हेतु तेल की शुद्धि आवश्यक होती है।

सूर्यमुखी तेल की विशेषता एवं असाध्य रोगों का प्रभावशाली उपचार-

सूर्यमुखी तेल में विटामीन ए, डी तथा ई अधिक मात्रा में होने से इसके सेवन से रक्त में कोलस्ट्रोल की वृद्धि नहीं होती। अतः आधुनिक चिकित्सक हृदय एवं रक्तचाप के रोगियों को वनस्पति घी के स्थान पर सूर्य मुखी तेल का भोजन में उपयोग करने का परामर्श देते हैं। आयुर्वेद के अनुसार सूर्यमुखी का तेल कफ एवं वात नाशक, त्वचा विकार, खुजली, दाद, कोढ़ दूर करने वाला, खाने में स्वादिष्ट पचने में आसान होता है।

तेल में भी आजकल शुद्धता, स्निग्ध होती है। प्रायः रासायनिक पदार्थों का मिश्रण होता है। अतः बिना छानबीन सूर्यमुखी के तेल का उपयोग भी हृदय रोगियों के लिये लाभदायक नहीं होता, अपितु कभी-कभी हानिकारक भी हो सकता है। अतः उपचार हेतु बाह्य उपयोगों तक सूर्यमुखी के तेल का उपयोग सीमित होता जा रहा है।

रक्त विकार सभी रोगों का प्रमुख कारण होता है। अतः किसी सरल प्रभावशाली विधि द्वारा रक्त में से उसके विकारों को अलग कर दिया जायें तो प्रायः सभी रोगों से काफी राहत मिल सकती है। सूर्यमुखी तेल में सूर्य की ऊर्जा के विशेष गुण होते हैं जिस प्रकार चुम्बक लोहे को आकर्षित करता है, ठीक उसी प्रकार सूर्यमुखी तेल में रक्त के विकारों को रक्त से अलग करने की क्षमता होती है। रक्त सारे शरीर में परिभ्रमण करता है। चेहरे, जीभ और दांतों का संबंध शरीर के सभी प्रमुख अंगों से सीधा होता है। अतः यदि एक चम्मच सूर्यमुखी तेल को मुंह में भरकर 15 से 20 मिनट अन्दर ही अन्दर घुमाने से चेहरे की समस्त मांसपेशियाँ सक्रिय होने लगती है। दूसरी बात जब रक्त मुँह की नाड़ियों से होकर गुजरता है तो तेल उसमें उपस्थित रोगाणुओं और विकारों को अपनी तरफ आकर्षित कर लेता है और रक्त शुद्धि में सहयोग देता है। परिणाम स्वरूप रक्त विकार संबंधी सभी रोगों में लाभ होता है। शरीर में रक्त ऊर्जा का प्रमुख स्रोत होता है। अतः रक्त शुद्धि से शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति बढ़ती है। रूस के डॉक्टर कराच ने भी 1991 में न्यूयार्क में आयोजित अन्तरर्राष्ट्रीय कैंसर अधिवेशन में तेल द्वारा कैंसर जैसे रोगों के उपचारों की पुष्टि की है। उन्होंने सैकड़ों सभी प्रकार के कैंसर रोगियों पर प्रयोग करने के पश्चात् अनुभव किया कि उपर्युक्त विधि से तेल को 15 से 20 मिनट मुंह में अन्दर ही अन्दर घुमाने से सिर दर्द, दमा, दांतों संबंधी रोग, रक्त चाप और अन्य रक्त सम्बन्धी रोगों, पक्षाघात, हृदयघात, त्वचा संबंधी रोगों, गुर्दे एवं आंतों के रोगों में चंद दिनों के प्रयोग से ही अच्छे चमत्कारी परिणाम आते हैं। उन्होंने पाया कि इस प्रयोग से कैंसर का फैलाव न केवल कम होता है अपितु उसको नियमित एवं निरन्तर प्रयोग से पूरा ठीक भी किया जा सकता है।

उपयोग की विधि–

प्रात: भूखे पेट बिना कुछ खाये इस प्रयोग को करना चाहिये। संक्रामक और पुराने रोगों में कुछ दिनों तक दिन में दो तीन बार खाने से पूर्व इस प्रयोग को करना चाहिए। खाने के बाद यह प्रयोग करने से उल्टियाँ होने की संभावनाँ बढ़ती है। प्रयोग करते समय कभी–कभी परेशानी और बैचेनी भी हो सकती है, परन्तु उससे न घबराना चाहिये और न प्रयोग को रोकना चाहिये। प्रयोग तब तक चालू रखना चाहिये जब तक संतोषजनक अपेक्षित लाभ न हों। स्वस्थ व्यक्ति भी सप्ताह में कम से कम एक बार इस प्रयोग को करें तो रक्त विकार बढ़ने की संभावना कम हो सकती है। प्रयोग करते समय तेल को निगलना नहीं चाहिये। प्रयोग के पश्चात् तेल एक दम सफेद एवं पतला हो जाता है।

15 से 20 मिनट उपयोग के पश्चात् तेल को जहाँ भी डाले उस स्थान को एकदम साफ कर लेना चाहिये अन्यथा उस तेल की गंध से जीव जन्तु उसका सेवन कर मर सकते हैं, क्योंकि प्रयोग के पश्चात् तेल विकारों से युक्त हो जाता है। साथ ही जीभ और दांतों को भी पानी से स्वच्छ कर लेना चाहिये। उपर्युक्त प्रयोग सरल, सहज, सस्ता, स्वावलम्बी, अहिंसक दुष्प्रभावों से रहित, प्रभावशाली शरीर के सभी प्रत्यक्ष–परोक्ष रोगों में लाभ पहुँचाने वाला होता है। इस चिकित्सा में रोग के निदान की आवश्यकता नहीं होती। अत: ''रोग अनेक उपचार एक'' तेल द्वारा होता है।

बाईसवां अध्याय

प्रभावशाली एक्युप्रेशर चिकित्सा

एक्युप्रेशर क्या है?

एक्युप्रेशर शब्द अंग्रेजी के दो शब्दों से मिलकर बनता है। एक्यु और प्रेशर। एक्यु का मतलब होता है एक्युरेट अर्थात् सही और प्रेशर का मतलब होता है दबाव। अर्थात् शरीर कि किसी भाग पर सही दबाव देकर रोगों के उपचार एवं स्वस्थ रहने की पद्धति को एक्युप्रेशर चिकित्सा पद्धति कहते हैं।

एक्युप्रेशर निदान, उपचार एवं रोगों के रोकथाम की बहुत ही सरल, सस्ती, स्वावलंबी, प्रभावशाली, अहिंसक, वैज्ञानिक पद्धति है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सोते, उठते–बैठते, चलते–फिरते, आसन–प्राणायाम अथवा योगिक क्रियाएँ और मसाज करते हुए तथा, प्रत्येक कार्य करते हुए हमारे शरीर के किसी न किसी भाग पर अवश्य दबाव पड़ता है। दर्द के समय हमारा हाथ सहज रूप से दर्दस्थ स्थान पर क्यों चला जाता है? हाथ जोड़ते, ताली बजाते, नंगे पैर चलते, प्रणाम करते, ग्रह कार्य करते सहज प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक्युप्रेशर हो जाता है। परन्तु विधिवत् विभिन्न सिद्धान्तों एवं दृष्टिकोणों पर आधारित एक्युप्रेशर की अनेक शाखाएँ हैं और अलग–अलग नामों से प्रचलित हैं, उनमें से चंद विधियों की ही संक्षिप्त सैद्धान्तिक आवश्यक जानकारी यहाँ दी जा रही है।

शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता है– शरीर के सूक्ष्म भाग का संबंध पूरे शरीर से होता है। इसी कारण जब शरीर के किसी भाग में तीव्र पीड़ा होती है अथवा कष्ट होता है तो, हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। प्राय: हम

अनुभव करते हैं कि यदि आँख में कचरा चला जाये अथवा भोजन करते समय भोजन का कुछ अंश भोजन नली के स्थान पर श्वासनली में चला जाये तो हमें कितनी बैचेनी होती है? शरीर में तीक्ष्ण पदार्थ चुभते ही सारा शरीर कम्पायमान हो जाता है। पांचों इन्द्रियों और मन का ध्यान कुछ समय के लिये वहां केन्द्रित हो जाता है। फिर भी शरीर में प्रत्येक अंग, उपांग, अवयव, अन्तःस्रावी ग्रंथियों आदि से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन बिन्दु हमारी हथेली और पगथली में होते हैं।

संतुलन एक्युप्रेशर-

हमारा शरीर बायें दाहिने बाह्य दृष्टि से लगभग एक जैसा दिखता है। अतः जैसी नाड़ियाँ बायीं तरफ होती है, वैसी ही नाड़ियाँ दाहिनी तरफ भी होनी चाहिये। बायें भाग के रोग का दाहिने भाग के उससे मिलते जुलते भाग पर कुछ समय दबाव देने से बांया-दांया संतुलन हाने लगता है। इस विधि द्वारा एक्युप्रेशर करने की बांयें दाहिने का संतुलन एक्युप्रेशर (Left & Right Balance Acupressure) कहते हैं। शरीर में हाथ और पैरों की बनावट में भी बहुत अधिक समानता होती है। हथेली और पगथली में अंगूठा और अंगुलियाँ, एडी से मिलती जुलती कलाई का जोड़ तथा घुटनों से मिलते-जुलते कोहनी के जोड़ होते हैं। रोग की अवस्था में ये एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। अतः जब हाथ का उपचार पैर से तथा पैर का उपचार हाथ कि मिलते-जुलते भाग पर दबाव देकर किया जाता है तो, संतुलन एक्युप्रेशर की इस विधि को मिलते-जुलते प्रतिवेदन बिन्दुओं वाला एक्युप्रेशर (Referal Acupressure) कहा जाता है।

जोनोंलॉजी-

एक्युप्रेशर की इस विधि में सारे शरीर को पगथली से सिर तक दस भागों में विभाजित किया जाता है। शरीर के जिस भाग में तकलीफ अथवा खराबी होती है, उसी जोन में दबाव देकर उपचार करने की एक्युप्रेशर की विधि को जोनोलॉजी कहते है। इन दस जोन के अंतिम सिरे हाथ और पैर की अंगुलियों में समाप्त होते हैं। अतः उपचार करते समय प्रायः शरीर के जिस जोन में तकलीफ होती है, उससे संबंधित अंगुलि के अंतिम सिरे पर दबाव देने से सारी जोन में प्राण ऊर्जा का विशेष प्रवाह होने लगता है और रोग में आराम मिलता है। जिस प्रकार रस्सी का एक सिरा हिलाने पर सारी रस्सी में कम्पन्न होने लगता है, ठीक उसी प्रकार दर्द वाले जोन में दबाव देने से संबंधित रोग में राहत मिलती है। दबाव वाला स्थान जोन में मिलता है। नाभि से ऊपर के रोगों में हाथ की अंगुलियों तथा नाभि के नीचे के रोगों में पैर की अंगुलियों में दबाव अधिक प्रभावशाली होता है।

स्वनियंत्रित नाड़ी संस्थान का पगथली की अंगुलियों से संबंध-

क्या हमने कभी चिंतन किया कि पैरों में अंगूठे और अंगुलियों का क्या उपयोग? सभी अंगुलियों का मांप एक सा क्यों नहीं? अंगूठा बड़ा क्यों? जो भाग जितना महत्त्वपूर्ण होता है, उसका आकार उस ही के अनुरूप होता है।

पगथली की अंगुलियों और अंगूठे का भी अन्य कार्यों के साथ शरीर के संवेदनशील नाड़ी संस्थान से सीधा संबंध होता है। पैरा का अंगूठा गले के ऊपर वाले नाड़ी संस्थान का प्रतिनिधित्व करता है, उसके पास वाली अंगुली गले से डायाफ्राम तक के नाड़ी संस्थान से संबंधित होती है। बीच की अंगुली का संबंध डायाफ्राम से नाभि तक के अंगों के नाड़ी संस्थान से होती है। जबकि सबसे छोटी अंगुली का पैरों की नाड़ियों और उससे पास वाली

अंगुली का संबंध नाभि से नीचे गुदा तक के भाग से होता है। नाड़ी संस्थान संबंधी रोगों में पैरों की अंगुलियों में किया गया उपचार बहुत अधिक प्रभावशाली होता है। नाड़ी संस्थान ठीक होते ही शरीर के अनेक रोग स्वतः समाप्त हो जाते हैं। अतः बहुत से चिकित्सक मात्र पैरों की पांच अंगुलियों से भी सभी रोगों का निदान और उपचार करते हैं। प्रतिदिन कुछ समय गोदुहासन में बैठने एवं पंजों पर खड़े रहने से संवेदनशील नाड़ी संस्थान सक्रिय एवं संतुलित रखने में सहायता मिलती है।

रिफ्लेक्सोलोजी–

एक्युप्रेशर में रिफ्लेक्सोलोजी के सिद्धान्तानुसार शरीर की दोनों हथेलियों और दोनों पगथलियों में शरीर के सभी अंगों, उपागों तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से संबंधित प्रतिवेदन बिन्दु होते है। जिस प्रकार किसी भवन की बिजली का सारा नियन्त्रण मुख्य स्विच बोर्ड से होता है। ठीक उसी प्रकार ये प्रतिवेदन बिन्दु शरीर के प्रत्येक भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब उपचार हेतु दबाव हथेलियों में दिया जाता है तो, उस विधि को हस्त रिफ्लेक्सोलोजी (Hand Reflexology) तथा जब उपचार हेतु प्रगथलियों का उपयोग किया जाता है तो उस प्रक्रिया को पैर रिफ्लेक्सोलोजी (Foot Reflexology) कहते हैं।

हैंड और फुट रिफ्लेक्सोलोजी की भांति कान पर भी शरीर के सभी भागों से संबंधित प्रतिवेदन होते हैं। जब उपचार कान के प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देकर किया जाता है तो, उस विधि को इअर रिफ्लेक्सोलोजी (Ear Reflexology) कहते हैं।

सुजोक एक्यूप्रेशर–

सुजोक एक कोरियन शब्द है। सु का मतलब हाथ और जोक का मतलब पैर। कोरियन डॉ. जे.वु. पार्क ने सन् 1988 में हथेली और पगथली की तुलना शरीर की बनावट से कर, संबंधित भागों में शरीर के संबंधित अंगों, उपांगों आदि के प्रभावशाली तर्क संगत प्रतिवेदनों की खोज की। उस आधार पर पगथली और हथेली में दबाव देकर एक्युप्रेशर द्वारा रोगोपचार करने की विधि को सुजोक एक्युप्रेशर कहते हैं।

मेरेडियन एक्युप्रेशर–

शरीर में विभिन्न अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह मार्ग को मेरेडियन कहते हैं। प्रत्येक मेरेडियन में कुछ प्रभावशाली चेतना केन्द्र होते हैं। जैसा कि चित्र नं. 47 एवं 48 में दर्शाया गया है। उन चेतना केन्द्रों पर दबाव देकर उपचार करने की विधि को मेरेडियन एक्युप्रेशर कहते हैं। इन प्रमुख मेरेडियनों का एक सिरा हथेली अथवा पगथली की अंगुलियों में होता है, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। यांग मेरेडियनों का दूसरा सिरा मस्तिष्क में तथा यिन मेरेडियनों का दूसरा सिरा मस्तिष्क में तथा यिन मेरेडियनों का दूसरा सिरा सीने में होता है।

शियात्सु एक्युप्रेशर–

शरीर में कुछ प्रतिवेदन बिन्दु न तो स्थानीय होते हैं और न हथेली अथवा पगथली में होते हैं और न मेरेडियन में। ऐसे प्रभावशाली प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देकर उपचार करने की विधि को शियात्सु एक्युप्रेशर विधि कहते हैं। एक्युप्रेशर की किसी भी विधि द्वारा चयनित प्रतिवेदन बिन्दु लोकसभा, राज्य सभा अथवा विधानसभा के सदस्यों की भाँति शरीर के विभिन्न भागों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शरीर में संचालित उनसे

संबंधित सभी गतिविधियों पर नियन्त्रण रखते हैं। रोग होने की स्थिति में अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्ति कर व्यक्ति को सावधान करते हैं।

सुजोक और रिफ्लेक्सोलोजी पद्धति के प्रतिवेदन बिन्दु शरीर के छोटे से भाग हथेली एवं पगथली में होने के साथ-साथ सरल होने के साथ-साथ सरल होने से यहां सारी चर्चा उन्हीं दोनों पद्धतियों को आधार मानकर की जा रही है। मेरेडियन और शियात्सु विधियों द्वारा उपचार हेतु प्रशिक्षित अनुभवी चिकित्सक की आवश्यकता होती है। अतः उन्हें स्वावलम्बी चिकित्सा के अन्तर्गत नहीं लिया गया है।

शरीर में किसी एक भाग के अनेक प्रतिवेदन क्यों ?

जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी का पिता, किसी का भाई, किसी का पति तो अन्य किसी का दादा, नाना, पुत्र, चाचा, मामा, मित्र आदि भी हो सकता है। यदि किसी व्यक्ति का फोटों अलग-अलग स्थानों से लिया जायें तो एक ही व्यक्ति के फोटों में अन्तर हो सकता है। ठीक उसी प्रकार से प्रतिवेदन बिन्दु भी शरीर के अलग-अलग भागों से भी संबंधित हो सकते हैं। यानी एक ही प्रतिवेदन बिन्दु के शरीर में अनेक संबंध हो सकते हैं। विभिन्न चित्रों में एक्युप्रेशर की दो प्रमुख प्रचलित शाखाओं (रिफ्लेक्सोलॉजी तथा सुजोक) के अनुसार शरीर में प्रमुख भागों की स्थितियाँ दर्शायी गयी है। एक ही अंग अथवा भाग के प्रतिवेदन बिन्दुओं में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। इन प्रतिवेदन बिन्दुओं को अंगूठे अथवा अन्य किसी विधि द्वारा दबाव देने पर, हम अनुभव करते हैं कि एक सा दबाव देने पर भी, सब स्थानों पर एकसा दर्द नहीं होता? कहीं ज्यादा, तो कहीं साधारण, तो कहीं बिल्कुल दर्द नहीं होता। ऐसा क्यों? सुजोक और रिफ्लेक्सोलॉजी एक्युप्रेशर के सिद्धान्तानुसार हथेली और पगथली में दबाव देने पर जिन स्थानों पर दर्द होता है, उसका मतलब उन स्थानों पर विकार अथवा अनावश्यक विजातीय तत्त्वों का जमाव हो जाना होता है। परिणाम स्वरूप शरीर में प्राण ऊर्जा के प्रवाह में अवरोध हो जाता है। ये प्रतिवेदन बिन्दु बिजली के पंखों, बल्ब या अन्य उपकरणों के स्विच की भांति शरीर के अलग-अलग भागों से संबंधित होते हैं। जिस प्रकार स्विच में खराबी होने से उपकरण तक बिजली का प्रवाह सही ढंग से नहीं पहुँचता, ठीक उसी प्रकार इन प्रतिवेदन बिन्दुओं पर विजातीय तत्त्वों के जमा होने से संबंधित अंग, उपांग, अवयवों आदि में प्राण ऊर्जा के प्रवाह में असंतुलन हो जाने से व्यक्ति रोगी बनने लगता है।

एक्युप्रेशर द्वारा रोग निदान का सिद्धान्त-

हथेली और पगथली में आगे पीछे सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग में अर्थात् पूरी हथेली और पगथली के पूरे क्षेत्रफल में अंगुलियों या अंगूठे से हम सहनीय गहरा दबाव देवें और जहाँ-जहाँ जैसा-जैसा दर्द आता है, उन दर्दो को तीन भागों में विभाजित कर अलग-अलग रंगों की पेनसिलों से चिन्हित कर लें।

1. प्रथम वे भाग जहाँ असहनीय दर्द होता है। ये प्रतिवेदन बिन्दु शरीर में उपस्थित रोग के परिवार के प्रभावशाली सदस्य होते हैं।
2. दूसरे वे प्रतिवेदन बिन्दु जहाँ दबाव देने से सहनीय दर्द होता है। ये प्रतिवेदन बिन्दु शरीर में रोग के परिवार के साधारण सदस्य होते हैं।
3. तीसरे वे प्रतिवेदन बिन्दु जहाँ दबाव देने से बहुत ही कम दर्द होता है। ये प्रतिवेदन बिन्दु रोग के परिवार के दूर के रिश्तेदार होते हैं।

जैसे परिवार के प्रमुख सदस्य प्रतिदिन घर में साथ-साथ रहते हैं। उनके सुख-दु:ख से हम अधिक प्रभावित होते हैं। दूसरे वे सदस्य जिनका हमारे से नजदीक का रिश्ता होता है और जो साधारण आयोजनों अथवा त्यौहारों पर मिलते रहते हैं। उनके सुख-दु:ख से हम उतने प्रभावित नहीं होते, जितने घर में रहने वालों से होते हैं। तीसरे वे संबंधी जिनको हम विवाह शादियों अथवा बड़े-बड़े आयोजनों पर आमंत्रित करते हैं। उनके सुख-दु:ख से हम बहुत थोड़े प्रभावित होते हैं। ठीक उसी प्रकार सारे दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दु मिलकर शरीर में रोग के परिवार की स्थिति एक्युप्रेशर के सिद्धान्तानुसार बनाते हैं।

एक्युप्रेशर प्रभावशाली क्यों?

1. जितने ज्यादा दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दु उतना रोग पुराना होता है। जितने ज्यादा दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दु होते हैं उतना रोग संक्रामक और भयंकर होता हैं। हथेली और पगथली में सारे शरीर के प्रत्येक भाग के प्रतिवेदन बिन्दु होने से पूरे शरीर में रोग का निदान हो जाता है। जबकि अन्य चिकित्साओं में रोग ग्रस्त भाग की तरफ ही निदान में विशेष ध्यान दिया जाता है।
2. दूसरी बात प्रत्येक व्यक्ति की हथेली और पगथली उसके स्वयं की होती हैं अत: इस विधि द्वारा उस व्यक्ति का स्वयं से संबंधित सभी रोगों का निदान होता है। जबकि लक्षणों पर आधारित निदान पूरा नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये दो घरों में शादी का उत्सव है। दोनों स्थानों पर बाह्य आयोजनों में समानता हो सकती है। जैसे बारात का आना, भोजन की व्यवस्था आदि। परन्तु उन आयोजनों में भाग लेने वाले शत-प्रतिशत सभी व्यक्ति एक जैसे नहीं हो सकते। ठीक उसी प्रकार सैंकड़ों हृदय रोगियों, मधुमेह के रोगियों अथवा और किसी नाम से पहचाने वाले रोगियों के रोग का परिवार एक सा नहीं हो सकता। अत: निदान करते समय सहयोगी रोगों की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। परन्तु एक्युप्रेशर पद्धति द्वारा जितना सही और विश्वसनीय निदान होता है, अन्यत्र प्राय: संभव नहीं होता।
3. तीसरी बात कभी-कभी रोग के कारण कुछ होते हैं और लक्षण कहीं दूसरे अंगों पर प्रकट होते हैं। जैसे मधुमेह का कारण पाचन तंत्र का बिगड़ना भी हो सकता है, न कि पेन्क्रियाज का खराब होना। हृदय शूल का कारण छोटी आंत में बनी गैस का प्रभाव भी हो सकता है, न कि हृदय की कमजोरी का होना। अस्थमा का कारण बड़ी आंत का बराबर कार्य न करना, न कि फेफड़ों का खराब होना। जब निदान ही गलत होता है तो उपचार कैसे प्रभावशाली हो सकता है? आधुनिक चिकित्सक ऐसे रोगों को प्राय: असाध्य बतला देते हैं। परन्तु हथेली और पगथली के समस्त प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने से जहाँ ज्यादा दर्द आता है, वे ही रोग का मुख्य कारण होते हैं, भले ही रोग के लक्षण कहीं अन्य प्रकट क्यों न होते हों? इसी कारण एक्युप्रेशर असाध्य रोगों की प्रभावशाली चिकित्सा पद्धति होती है।

   लगभग 25 वर्षो से भी अधिक समय में अस्थमा से पीड़ित जोधपुर के प्रसिद्ध उद्योगपति दुर्गाप्रसाद जी साबू (T.No. 2430606, 2741573) का उपचार हेतु लेखक से सन् 1991 में सम्पर्क हुआ। दमा से परेशान साबूजी ने देश और विदेश के अनुभवी चिकित्सकों से अपना उपचार करवाया, परन्तु उसके संतोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं हुये।

लेखक ने साबूजी के पगथली और हथेली में फेंफड़े से संबंधित प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देकर उपचार करना चाहा। परन्तु आवश्यकतानुसार गहरा दबाव देने के बावजूद भी उनको विशेष पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ, जितना दमा के इतने पुराने रोगी को प्रायः हुआ करता है। अतः लेखक ने पूरी हथेली के प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव दे, उनके रोग के मूल कारण का पता लगाने का प्रयास किया। जैसे ही उसने बड़ी आंत से संबंधित हस्त रिफ्लेक्सोलॉजी के अनुसार प्रतिवेदन बिन्दु का रोग से विशेष संबंध होता है। लेखक ने साबूजी से भोजन के संबंध में तथा मल विसर्जन के संबंध में विस्मृत जानकारी प्राप्त की। नाभि एवं पैरों के संतुलन का निरीक्षण किया, जो पूर्णतया असंतुलित थे। अत्यधिक व्यस्तता के कारण भोजन करने के समय की कोई नियमितता नहीं थी। प्रायः दिन का भोजन दोपहर बाद तीन-चार बजे और रात्रि भोजन 10 बजे के बाद करने से उनका पाचन तंत्र काफी गड़बड़ था। बड़ी आंत फेंफड़े का यांग, अंग होने से उसका प्रभाव फेंफड़े पर पड़ना स्वाभाविक था।

साबूजी को नाभि एवं पैरों का संतुलन करने की विधि समझाकर, समय पर भोजन करने का परामर्श दिया गया। दो रोज में ही उन्हें पचास प्रतिशत से अधिक राहत मिली। बाद में एक्युप्रेशर के उपचार से उन्हें रोग से मुक्ति मिली। आज वे एक्युप्रेशर चिकित्सा के न केवल प्रशंसक और समर्थक ही हैं, अपितु उसके प्रचार-प्रसार एवं रोगियों का उपचार करवाने हेतु अनेकों उपचार केन्द्रों का अपने सेवा ट्रस्ट के द्वारा संचालन कर हजारों रोगियों को प्रतिवर्ष स्वास्थ्य लाभ पहुँचा रहे हैं।

4. चौथी बात रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही इस विधि द्वारा निदान संभव होता है। जहाँ-जहाँ पर दबाव देने से दर्द आता है, वे सभी प्रतिवेदन बिन्दु शरीर में रोग की स्थिति बनाते हैं। यदि रोग के लक्षण प्रकट हो गये हों तो, वे कारण होते हैं, परन्तु यदि रोग के लक्षण प्रकट न हुयें हों तो, भविष्य में होने वाले रोगों का कारण उन्हीं प्रतिवेदन बिन्दुओं में से होता है। रोग आने से पूर्व उसकी प्रारम्भिक अवस्था का निदान जितना सरल इस पद्धति द्वारा होता है, उतना अन्यत्र कठिन होता है।
5. पाँचवीं बात शरीर में रोग कभी अकेला आ ही नहीं सकता। जिन लक्षणों के आधार पर आज रोगों का नामकरण किया जाता है, वे वास्तव में रोगों के नेता होते है, जिन्हें सैंकड़ों अप्रत्यक्ष रोगों का समर्थन और सहयोग प्राप्त होता है। परन्तु इस विधि द्वारा रोगों के पूरे परिवार का निदान होने से निदान सही और विश्वसनीय होता हैं, जो अन्य चिकित्सा पद्धतियों में प्रायः संभव नहीं होता।
6. हथेली और पगथली में दबाव देने पर जितने कम प्रतिवेदन बिन्दुओं पर और जितना कम दर्द आता है, उतना ही व्यक्ति स्वस्थ होता है। जितने ज्यादा दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दु उतना पुराना रोग और स्वास्थ्य खराब होता है। इस प्रकार इस निदान पद्धति द्वारा जो रोग आधुनिक पेथॉलोजिकल टेस्टों अथवा यंत्रों की पकड़ में नहीं आते, उन रोगों के कारणों का भी सरलता पूर्वक निदान किया जा सकता है। उपर्युक्त निदान अधिक सही और विश्वसनीय होता है। अतः उस निदान पर आधारित उपचार-प्रभावशाली, दुष्प्रभावों से रहित और अल्पकालीन होता है। जिस पर किसी को भी आशंका नहीं होनी चाहिये।

निदान बिल्कुल सरल, सस्ता, पूर्ण अहिंसक, स्वावलम्बी, सर्वत्र अपने साथ उपलब्ध होता है। शरीर विज्ञान के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं होने से सभी व्यक्ति आत्म-विश्वास के साथ उपचार कर सकते हैं।

पूरे शरीर का निदान होने से शरीर के साथ-साथ, मन और वाणी के विकारों का भी, निदान करने वाला एवं अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का सरलतम निदान होता है।

क्या रोग के नाम से निदान और उपचार एक्युप्रेशर सिद्धान्तों के अनुकूल है ?

आजकल हम आधुनिक चिकित्सा पद्धति के निदान से इतने अधिक प्रभावित होते हैं कि जब तक उनके द्वारा प्रमाणित न कर दें, तब तक हम रोग को रोग ही नहीं मानते। दूसरी बात एक्युप्रेशर चिकित्सक भी प्रायः उन्हीं रोगों से संबंधित प्रमुख प्रतिवेदन बिन्दुओं पर उपचार कर रोगी को राहत पहुँचाने तक ही अपने आपको सीमित रखते हैं। तीसरी बात सुजोक और रिफ्लेक्सोलॉजी के चित्रों में बतलाये गये प्रमुख बिन्दुओं में दर्द की स्थिति देख अधिकांश एक्युप्रेशर चिकित्सक रोग के नाम से निदान करते संकोच नहीं करते। जैसे किसी व्यक्ति के हृदय के प्रमुख प्रतिवेदन बिन्दु पर दबाव देने से दर्द आने की स्थिति में उसे हृदय का रोगी कह देते हैं। परन्तु ऐसा सदैव सही नहीं होता। हृदय में रोग पर निश्चित रूप से हृदय के प्रमुख प्रतिवेदन बिन्दु पर दबाने से दर्द आता है। परन्तु उसका विपरीत कथन कभी-कभी गलत भी हो सकता है, क्योंकि उस प्रतिवेदन बिन्दु का शरीर के अन्य भागों से भी कुछ न कुछ संबंध अवश्य होता है। जैसे किसी व्यक्ति के पिता की मृत्यु होने पर पुत्र रोता है। इस कारण पुत्र को किसी अन्य कारण से रोते हुये देख यह कहना कि क्या आपके पिताजी की मृत्यु हो गयी है ? कहाँ तक तर्क संगत है ? अतः एक्युप्रेशर पद्धति में आधुनिक चिकित्सा द्वारा कथित रोगों के नाम से निदान करना उसके मूल सिद्धान्तों के विपरीत होता है। निदानकर्ता मात्र इतना कह सकता है कि, दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दु शरीर में उपस्थित रोग का प्रतिनिधित्व करते हैं, भले ही वे किसी भी नाम से क्यों न पुकारे जाते हों ?

परन्तु जब तक निदान करते समय कोई एक्युप्रेशर चिकित्सक आधुनिक चिकित्सकों की नामावली के अनुसार रोग का कथन नहीं करता, तब तक रोगी अथवा उसके परिजन उस निदान को सही होते हुए भी प्रमाणिक नहीं मानते। हालांकि 60 से 70 प्रतिशत ऐसा कथन सही हो सकता है।

एक्युप्रेशर चिकित्सक हेतु आवश्यक निर्देश-

एक्युप्रेशर द्वारा किसी अन्य रोगी का उपचार करते समय चिकित्सक को निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। उपचार करते समय रोगी पर उपचार के पश्चात् पड़ने वाले प्रभाव की तरफ विशेष सजगता रखनी चाहिये तथा रोगी एवं रोग की स्थिति के अनुसार स्वविवेक से दबाव देना चाहिए।

1. रोग का प्रचलित नाम के आधार पर निदान नहीं करना चाहिए।
2. रोगी को किसी भी प्रकार की दवा लेने का अपनी तरफ से परामर्श नहीं देना चाहिए।
3. रोगी का उपचार किसी खास बिमारी हेतु नहीं करना चाहिए।
4. चिकित्सक को रोगी को उपचार के बारे में समझाना चाहिए।
5. यथा संभव उपचार करते समय दबाव हाथों की अंगुलियों एवं अंगूठे से देना चाहिए। परन्तु ऐसा संभव न हो तों इस बात का विशेष ध्यान देना चाहिए कि प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने के पश्चात् दर्द नहीं बढ़ना चाहिए। प्रायः इस बात का विवेक न होने से अनेक व्यक्ति इस पद्धति के विरोधी बन जाते हैं। सही जगह पर सही दबाव देने से तुरन्त प्रभाव पड़ता है तथा दबाव का दर्द भी तुरन्त शांत हो जाता है।

6. गर्भवती महिलाओं के प्रजनन संबंधी प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव यथा संभव न दें और यदि देना आवश्यक हो तो विशेष सतर्कता रखें।

एक्युप्रेशर द्वारा उपचार की विधि–

हथेली और पगथली पर दबाव देने पर जहाँ–जहाँ और जितने–जितने तत्त्व होते हैं, उन्हीं के अनुपात में दर्द का अनुभव होता है। अतः हथेली और पगथली के सभी भागों में दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं का पता लगाने के पश्चात्, प्रत्येक दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दु पर दिन में एक बार बीस से तीस सैकण्ड तक उन प्रतिवेदन बिन्दुओं पर जमा हुये विजातीय पदार्थों को दूर करने हेतु, सहनीय घुमावदार दबाव देने से, धीरे–धीरे विजातीय तत्त्व वहाँ से दूर होने लगते हैं। परिणाम स्वरूप शरीर के संबंधित रोग ग्रस्त भागों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह नियमित और संतुलित होने लगता है तथा रोगी रोग मुक्त हो जाता है।

उपचार प्रारम्भ करने से पूर्व शरीर में दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं की स्थिति और संख्या का चार्ट बना लेना चाहिए। उपचार प्रारम्भ करने से पूर्व हथेली एवं पगथली को रिलेक्स (क्रियाशील) करना चाहिए। जैसे– हथेली एवं पगथली को रगड़ना, आगे–पीछे मसाज करना, दाहिने–बायें, हलन–चलन करना, अंगुलियों एवं जोड़ों को उल्टा सीधा जितना सहजता से घुमाया जा सके, धीरे–धीरे घुमाना। तीन–चार रोज का उपचार करने के पश्चात् हमें पुनः दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं के स्थिति की समीक्षा करनी चाहिए। हमें अनुभव होगा कि जहाँ पहले मामूली सा दर्द होता था, अब कुछ केन्द्रों पर उतना ही दबाव देने के बावजूद दर्द नहीं होता। पहले जहाँ बहुत ज्यादा दर्द होता था, वहाँ पर भी चंद केन्द्रों पर दर्द में कुछ कमी होने लग जाती हैं। इस प्रकार उपचार करने से दर्द वाले बिन्दुओं की संख्या कम होने लगती है, परिणाम स्वरूप एक्युप्रेशर द्वारा असाध्य से असाध्य रोग भी ठीक किया जा सकता है।

परन्तु आजकल हम रोग के नेता को सीधा नियन्त्रण में करने का प्रयास करते हैं, जो न्यायोचित नहीं होता। सहयोगियों को दूर किये बिना नेता पर नियन्त्रण करना कठिन होता है। हम प्रायः अखबारों में पढ़ते हैं और टी.वी पर देखते हैं कि प्रदर्शनों के समय पुलिस प्रदर्शनकारियों के नेता को सीधा कैद नहीं करती। पहले प्रदर्शन कारियों को शान्त करने का प्रयास करती है, फिर लाठी चलाती है, अश्रु गैस छोड़ती हैं और जब सारी भीड़ चली जाती है तो नेता को आसानी से कैद किया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार रोग के परिवार के सहायक रोगों से संबंधित सभी प्रतिवेदन बिन्दुओं का उपचार करने से मुख्य रोग की ताकत स्वतः समाप्त हो जाती है तथा वह शीघ्र नियन्त्रण में लाया जा सकता है। जिस प्रकार जनतंत्र में सहयोगियों का समर्थन न मिलने से नेता की ताकत समाप्त हो जाती है, नेता को पद का त्याग करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार अप्रत्यक्ष सहयोगी रोगों के दूर हो जाने से मुख्य रोग से शीघ्र मुक्ति मिल जाती है। यही एक्युप्रेशर चिकित्सा का मूल सिद्धान्त है।

दर्द विहीन एक्युप्रेशर चिकित्सा विधि–

पुराने संक्रामक और हठ्ठीले असाध्य रोगों के समय हथेली और पगथली के बिन्दुओं पर दबाव देने पर संबंधित प्रतिवेदन बिन्दुओं पर असहनीय दर्द आता है। इस कारण बहुत से रोगी चाहते हुये भी एक्युप्रेशर चिकित्सा का लाभ नही उठा सकते। यद्यपि अंगूठे तथा अंगुलियों से दबाव देना ही सर्व श्रेष्ठ होता है, परन्तु जब ऐसा संभव न हों तो अन्य साधनों का भी उपयोग किया जा सकता है। हथेली और पगथली के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग

का पूरे शरीर से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कुछ न कुछ संबंध होता ही है। अतः प्रतिवेदन चन्द मिनटों के लिए हथेली और पगथली को आगे पीछे, दूसरी हथेली से रगड़े तो भी शरीर में स्फूर्ति आने लगती है। साथ ही जिन प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने से विजातीय तत्त्वों की उपस्थिति के कारण मामूली दर्द भी आता हों तो वहाँ से मात्र इस प्रक्रिया से विजातीय तत्त्व दूर होने लगते हैं। ताली बजाने से भी हथेली के प्रतिवेदन बिन्दुओं पर एक्युप्रेशर हो जाता है। दोनों हाथ जोड़ने से भी प्राण ऊर्जा के प्रवाह में संतुलन होने लग जाता है। आवेग एवं उत्तेजना शांत हो जाती हैं। स्वविवेक विकसित होने लगता है। मसाजर से मसाज करने पर भी उस स्थान से विजातीय तत्त्व दूर होने लगते हैं।

चुम्बक द्वारा एक्युप्रेशर- चुम्बक के समान ध्रुव एक दूसरे को दूर फेंकते हैं। दूसरी बात चुम्बकीय ऊर्जा चुम्बक की क्षमतानुसार हथेली और पगथली के आर-पार जा सकती है। अतः एक चुम्बक को पगथली या हथेली के नीचे स्पर्श करें तथा दूसरे चुम्बक का वहीं ध्रुव दूसरी तरफ प्रतिवेदन बिन्दुओं पर घुमाने से चुम्बकीय ऊर्जा के प्रभाव से विजातीय तत्त्व दूर होने लगते हैं। जैसे- कचरा साफ करने के लिए झाड़ू का प्रयोग किया जाता है तो, कभी हवा के दबाव का, तो कभी पानी के बहाव से भी कचरा साफ किया जा सकता है। अतः किसी भी विधि अथवा ऊर्जा द्वारा प्रतिवेदन बिन्दुओं से विजातीय तत्त्व दूर कर देने से रोगी स्वस्थ हो सकता है।

प्रतिवेदन बिन्दुओं पर मेथी का प्रयोग- दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं पर मेथी के दाने स्पर्श कर रखने से भी, उस स्थान पर जमा विजातीय तत्त्व धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं, और प्राण ऊर्जा का प्रवाह संतुलित होने लगता है, जिससे व्यक्ति रोग मुक्त हो जाता है।

एक्युप्रेशर स्वयं द्वारा स्वयं के उपचार की प्रभावशाली पद्धति-

जिस प्रकार ध्यान, योग, आसन, प्राणायाम आदि व्यक्ति को स्वयं ही करने पड़ते हैं, अनुभवी प्रशिक्षक आवश्यक मार्ग दर्शन कर सकता है। ठीक उसी प्रकार वास्तव में एक्युप्रेशर उपचार और निदान भी व्यक्ति को स्वयं ही करना चाहिये। दूसरे व्यक्ति से एक्युप्रेशर करवाने से उपचार का शत-प्रतिशत लाभ नहीं मिलता। उपचार लम्बा, अस्थायी एवं कम प्रभावशाली होता है। अतः यथा संभव जितना उपचार रोगी स्वयं कर सकें, उतना तो कम से कम उसको स्वयं ही करना चाहिए तथा चिकित्सक का रोग से संबंधित प्रमुख प्रतिवेदन के दबाव हेतु शीघ्र राहत मिलने तक, ही सहयोग लेना चाहिए। किसी भी चिकित्सक के पास इतना समय नहीं होता कि रोगी के सभी प्रतिवेदन बिन्दुओं का ढंग से निदान कर सकते हैं। वे तो मात्र मुख्य प्रतिवेदन बिन्दुओं तक ही अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं, अतः उपचार आंशिक ही कर सकते हैं। स्वयं द्वारा निदान और उपचार करने से व्यक्ति समान दबाव दे सकता है और रोग में जैसे राहत मिलती जाती है, उसका आत्म-विश्वास और सजगता बढ़ती जाती है। प्रारम्भ में जो प्रतिवेदन गहरे और मुख्य होते हैं, उनके उपचार हेतु किसी अच्छे थेरेपिस्ट का मार्गदर्शन एवं सहायता ली जा सकती है, परन्तु बाकी सभी पगथली और हथेली का निदान और उपचार तो स्वयं ही करना चाहिये। प्रतिदिन निश्चित समय पर उपचार करने से, उपचार अधिक प्रभावशाली हो जाता है। उपचार कब, कहाँ, कैसे, कितना करना चाहिए उसके संबंध में अधिक जानकारी हेतु जिज्ञासु स्वास्थ्य प्रेमियों को यहाँ चर्चित मूल सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुये एक्युप्रेशर से संबंधित अच्छा साहित्य पढ़ना चाहिए तथा अनुभवी प्रशिक्षकों से सम्यक् मार्ग दर्शन प्राप्त करना चाहिए।

तेईसवां अध्याय

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ और स्वास्थ्य

हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियाँ होती है। प्रथम तो वे जो अपने में बनने वाले रस को नलिकाओं द्वारा शरीर के विशेष भागों में पहुँचाती है। दूसरी वे ग्रंथियाँ जो बिना नलिकाओं के (Ductless Glands) अपना स्राव शरीर के आवश्यक भागों तक पहुँचाती है। दूसरे प्रकार की ग्रंथियों को अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ कहते हैं।

इण्डोक्राइन और हार्मोन ग्रीक भाषा के शब्द हैं, जिनका अर्थ क्रमशः अन्तःस्राव तथा उत्तेजक करना होता है। अतः अन्तःस्रावी ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले स्राव को हार्मोन्स भी कहते हैं।

अन्तःस्रावी ग्रंथियों का प्रभावः-

जैसे वृक्ष का आधार उसकी जड़े एवं मकान का आधार उसकी नींव होती है, ठीक उसी प्रकार शरीर के सफल संचालन में हमारी अन्तःस्रावी ग्रंथियों का योगदान होता है। जड़ एवं नींव बाह्य रूप से न दिखने के बावजूद वृक्ष के विकास एवं मकान की सुरक्षा हेतु आवश्यक होती है, ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से न दिखने के बावजूद हमारे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक गतिविधियों के संचालन में ग्रंथियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

हम क्या है, और क्यों हैं? हमारे स्वभाव, प्रवृत्तियों, क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का संचालन और नियन्त्रण व समयबद्ध विकास क्यों और कैसे होता है? निश्चित अवधि के पश्चात् अंगों के विकास एवं वृद्धि में क्यों स्थिरता आ जाती है? कुछ व्यक्ति क्रोधी, क्रूर, हिंसक, अशान्त, चिड़चिड़े, हताश, भयभीत, असंवेदनशील, निराशावादी होते हैं तो बहुत से व्यक्ति स्वभाव से शान्त, प्रसन्न, हंसमुख आशावादी, संवेदनशील, करुणाशील, निडर, निर्भय, आत्मविश्वासी होते हैं? एक ही अध्यापक से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों में कोई मंदबुद्धि वाला तो कोई प्रखर पंडित, विद्वान्, ज्ञानी कैसे बन जाते हैं? एक ही परिस्थिति में कार्य करने वाले सभी व्यक्तियों में नेतृत्व की क्षमता एकसी क्यों नहीं होती है? कोई साधारण खुराक खाने के बावजूद मोटा एवं तगड़ा होता है तो बहुत से व्यक्ति खाने पीने में पूर्ण विवेक रखने तथा अच्छी खुराक लेने के बावजूद अपेक्षाकृत दुबले-पतले ही क्यों रह जाते हैं? कभी-कभी कुछ व्यक्ति बहुत बोने तो चन्द व्यक्ति अत्याधिक लम्बे क्यों हो जाते हैं? ऐसे सैकड़ों प्रश्नों का समाधान ग्रंथियों की कार्य प्रणाली एवं नियन्त्रण की क्षमता को जानने से हो जाता है। ग्रंथियों के बराबर कार्य न करने से 75 प्रतिशत 90 प्रतिशत रोगों के पनपने की सभावना रहती हैं। ग्रंथियों को सुव्यवस्थित व संतुलित किये बिना लाख प्रयास करने के बावजूद हम पूर्णतया शरीर के रोगों से मुक्त नहीं हो सकते।

इन ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले उतेजक रस शरीर की वृद्धि, पोषण, यौन संतुलन, मांसपेशियों के संचालन तथा अन्य ग्रंथियों की क्रियाओं के नियन्त्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। ये हार्मोन्स न केवल प्रत्येक शारीरिक क्रिया में भाग लेते हैं, अपितु व्यक्ति की मानसिकता, चिन्तन, स्वभाव और व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं।

अन्तःस्रावी ग्रंथियों के उत्तेजक, स्रावों की अधिकता या कमी से न केवल साहस, शारीरिक गठन तथा मानसिक योग्यता जैसे गुण घटने लगते हैं, बल्कि व्यक्ति का व्यवहार तथा चाल चलन ही बदल जाता है। ये इतनी प्रभावशाली होती है कि किसी भी स्त्री या पुरुष के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन ला देती है। मनुष्य उतना ही तरुण होता है, जितनी उसकी अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ संतुलित एवं सजग होती है।

अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ प्रभावी चैतन्य केन्द्रः-

हमारी वृत्तियों और कामनाओं का उद्भव अन्तःस्रावी ग्रंथियों के द्वारा होता है। वे वृत्तियाँ व्यक्ति में न केवल इच्छा ही पैदा करती है, अपितु उसकी पूर्ति हेतु तदनुरूप प्रवृत्ति की भी मांग करती है। सारे आवेग जो भाव तंत्र को संचालित करने वाले होते हैं, इन ग्रंथियों के हार्मोनों के द्वारा ही पैदा होते हैं। हार्मोनों का अत्यन्त गहरा प्रभाव हमारे भावों के अनुसार हमारे आचरण और व्यवहार पर पड़ता है। बार-बार होने वाले भावनात्मक दबावों के परिणाम स्वरूप हमारे विचार विकृत होते हैं, तथा हमारा आचरण एवं व्यवहार वैसा ही होने लगता है। अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ ही हमारे चैतन्य केन्द्र के संवादी स्थान होती है। मनुष्य की जितनी भी आदतें बनती है, आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यतानुसार उनका उद्गम स्थान अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ होती है। वे ही आदते मस्तिष्क में पहुँचती है, अभिव्यक्त होती है और व्यवहार में उतरती है। चैतन्य केन्द्र सब अवयवों में सक्रियता पैदा करते हैं। ये इन्द्रियों और मन को भी संचालित करते हैं। अतः शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है, हमारी ''अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ''। इनके स्राव सीधे रक्त में मिल जाते है।

कर्म सिद्धान्तों को मानने वाले शरीर निर्माण की सारी परिस्थितियों का आधार संस्थान नाम कर्म को मानते हैं। जबकि आधुनिक विज्ञान अन्तःस्रावी ग्रंथियों को। दोनों में भाषा का अन्तर है, तथ्य का नहीं। शरीर शास्त्री के अनुसार हार्मोन्स अन्तःस्रावी ग्रंथियों का स्राव होता है। शरीर में जो कार्य हारमोन्स करते हैं, वही कार्य कर्म शास्त्र के अनुसार कर्मो का रस विपाक (जो अनुभाग बंध कहलाता है) करता है।

अन्तःस्रावी ग्रंथियों और ऊर्जा चक्रों में समानताः-

आज के वैज्ञानिक जिन्हें अन्तःस्रावी ग्रंथियों के रूप में स्वीकारते हैं, हमारे पूर्व योगाचार्यो ने उन्हें चक्र अथवा कमल के रूप में स्वीकारा। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति जूडो में उन्हें क्यूसोस कहते हैं। इन तीनों के शरीर में जो स्थान और आकार माने जाते हैं, उनमें विशेष अन्तर नहीं है।

आधुनिक डॉक्टरों ने चक्रों अथवा कमलों को शरीर की चीर फाड़कर देखने का प्रयास किया। उसके अणु-अणु का विश्लेषण कर दिया, पर कही भी कमल नहीं मिला और न चक्र दिखाई दिए। नाभि कमल हो या न हो, आज्ञा चक्र हो या न हो, विशुद्धि केन्द्र हो या न हो, किन्तु जो पीयूष, पिनियल, थायरोइड आदि ग्रंथियाँ हैं, उनको हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो योग शास्त्र और शरीर शास्त्र के प्रतिपादन में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होता।

ये ग्रंथियाँ शरीर में ऊर्जा संचालन केन्द्र, रसायन संचालन केन्द्र तथा शरीर के विभिन्न हिस्सों में क्षेत्रीय केन्द्र के रूप में कार्य करने के साथ-साथ सामूहिक रूप से भी कार्य करती है, जो हमारे भावों और विचारों से प्रभावित होती है।

ग्रंथियों की कार्य प्रणालीः-

जिस प्रकार मधु मक्खी फलों का रस संचय कर उसमें अपना थूक मिलाकर मधु बनाती है, ठीक उसी प्रकार ग्रंथियाँ शरीर में से आवश्यक तत्त्व ग्रहण कर उसमें अपना रस मिलाकर रासायनिक कारखानों की भांति शक्तिशाली हारमोन्स का निर्माण करती है। प्रत्येक ग्रन्थि आवश्यकतानुसार एक या उससे अधिक हारमोन्स बनाती है, जिनमी तरंगें नाड़ी संस्थान के माध्यम से आकाशवाणी की भांति प्रसारित हों, शरीर के प्रत्येक भाग में

शीघ्र पहुंचने की क्षमता रखती है। ये हारमोन्स हमारे शरीर में प्रतिक्षण निष्क्रिय होने वाले मृतप्राय: कोशिकाओं को पुनर्जीवित कर क्रियाशील बनाने का कार्य करते हैं, जिससे सभी शारीरिक क्रियायें व्यवस्थित रूप से चलती रहें। परन्तु जब ग्रन्थियों में विकृति आ जाती है और उन्हें पुन: शीघ्र संतुलित न किया जाये तो शरीर में असाध्य रोग पनपने लगते हैं। रोग की अवस्था में जो उपचार करते हैं, वे तो प्राय: रोग के लक्षण मात्र होते हैं, रोग के मूल कारण नहीं। मूल कारण होते हैं- ''अन्त:स्रावी ग्रन्थियों का असंतुलन।''

सभी ग्रन्थियाँ केन्द्रीय मंत्री मण्डल की भांति सामूहिक जिम्मेदारी से कार्य करती है। किसी एक ग्रन्थि के खराब अथवा निष्क्रिय होने का प्रभाव अन्य ग्रन्थियों के कार्यो पर भी पड़ता है।

प्रमुख अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ:-

हमारे शरीर में 8 प्रमुख अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ होती है- 1. पीयूष, 2. पिनियल, 3. थायरोइड, 4. पेराथायरोइड, 5. थायमस, 6. एड्रीनल, 7. पैंन्क्रियाज, 8. प्रजनन।

पीयूष ग्रन्थि:-

यह सभी ग्रन्थियों में प्रमुख ग्रन्थि होती हैं। सिर में मस्तिष्क के नीचे स्थित इस ग्रन्थि का आकार मटर के दाने से भी छोटा होता है। यह सभी ग्रन्थियों की नेता (मास्टर ग्लेण्ड) अथवा संचालक होती है। इसका स्राव अन्य ग्रन्थियों को उत्तेजित करता है ताकि वे अपना-अपना निर्धारित कार्य बराबर कर सकें। शरीर के आन्तरिक हलन-चलन, स्फूर्ति, हृदय की धड़कन, शरीर के तापक्रम एवं शक्कर की मात्रा को नियन्त्रित करती है। शरीर के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। यदि बाल्यावस्था में यह ग्रन्थि अपेक्षा से अधिक सक्रिय हो जाती है तो, बालक अपेक्षाकृत अधिक लम्बा हो जाता है। परन्तु यदि यह ग्रन्थि शिथिल हो तो, व्यक्ति बोना रह जाता है। सिर के बालों एवं हड्डियों के विकास को यह संतुलित रखती है।

इसका मानसिक प्रतिभा, रक्त के दबाव, प्रजनन अंगों के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्त्रियों में प्रसूति के समय गर्भाशय में लचीलापन आना तथा स्तनों में दूध का नियन्त्रण इसी ग्रन्थि द्वारा होता है। यदि यह ग्रन्थि बराबर कार्य न करें तो कमजोरी, अधिक प्यास लगना, समय से पूर्व सफेद होना, गंजापन, मानसिक विकास का अवरूद्ध होना, स्मरण शक्ति बराबर न होना आदि रोग हो सकते हैं। यह ग्रन्थि हमारी जीवन पद्धति, प्रवृत्तियों, स्वभाव, मनोवृत्तियों को नियन्त्रित करती है। झूठ बोलने वालों, शरारती लोगों, चोरों, घमण्डी, क्रोधी, दुराचारी, पागल व्यक्तियों की यह ग्रन्थि बराबर कार्य नहीं करती है। अधिकांश आत्म-हत्याओं का कारण इसका असंतुलन होता है। यह ग्रन्थि व्यक्ति को तनावमुक्त, प्रसन्न, उत्साहित, समभाव, पारस्परिक प्रेम संबंध बनाये रखने में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सूजन आ जाने से हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, आँखें बाहर आने लगती हैं एवं शरीर कमजोर होने लगता है। इसके अधिक सक्रिय होने पर व्यक्ति वाचाल, अस्थिर, बात-बात में स्वभाव (मूड) बदलने वाला, अत्यधिक संवेदनशील, पैनी दृष्टि वाला होता है तथा इससे बाल चमकीले एवं त्वचा गर्म रहने लगती हैं।

पिनियल ग्रन्थि:-

यह ग्रन्थि मस्तिष्क के पीछे स्थित होती है जिसका आकार राई के दाने से भी छोटा होता है। यह ग्रन्थि प्रधान सचिव की भांति शरीर की व्यवस्था एवं गतिविधियों के संचालन का कार्य करती हैं। सभी ग्रन्थियों एवं

अवयवों को संतुलित रखना, उनका विकास करना एवं आवश्यक कार्य करवाना इसके अधीन होता है। संकट से बचने के लिये आवश्यक निर्देश देना एवं शीघ्र क्रियान्वित कराना इसका प्रमुख कार्य हैं। यह कामेच्छा को जागृत करती है एवं निर्णयात्मक शक्ति को नियन्त्रित करती है। यदि यह ग्रन्थि बराबर कार्य न करें तो, व्यक्ति अस्थिर हो जाता है एवं उसकी निर्णयात्मक तथा नेतृत्व क्षमता कम हो जाती है, जिससे समय पर सही निर्णय नहीं ले पाता। इसको प्रकृति की तीसरी आँख कहते हैं।

यह ग्रन्थि शरीर में पोटेशियम, सोडियम एवं पानी के प्रमाण को संतुलित रखती है। अतः जब यह ग्रन्थि बराबर कार्य न करें, तो शरीर गुब्बारे की भांति फूल सकता हैं एवं गुर्दे बराबर कार्य नहीं करते।

थायरोइड ग्रन्थिः-

गहरे लाल रंग की ग्रन्थि कंठ के नीचे गले की जड़ में दो भागों में विभक्त होती है। इसका पाचन क्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है तथा यह भोजन को रक्त, मांस, मज्जा, हड्डियां एवं वीर्य में बदलने में सहयोग करती है। इसका प्रजनन अंगों से सीधा सम्बन्ध होता है। जिससे कामेच्छा को गति देने एवं प्रजनन अंगों को स्वच्छ रखने तथा महिलाओं के एम.सी. (महावारी) को नियन्त्रित करती है। यह पेशाब रोकने की क्षमता का नियन्त्रण, ऑक्सीजन के उपयोग को नियन्त्रित, कार्बन डाई आक्साइड के निष्कासन को प्रभावित करती है। शरीर के सभी अंगों को शक्ति उत्पन्न करने के लिए आवश्यक स्राव भेजना, श्वसन का संचालन, शरीर में केलशियम, आयोडिन तथा कोलेस्ट्रोल पर नियन्त्रण रखती है। हड्डियों के विकास, घाव भरने एवं रक्त के प्रवाह को नियन्त्रित करने में यह ग्रन्थि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जब यह ग्रन्थि आवश्यकता से कम स्राव उत्पन्न करती है तो व्यस्कों में वजन बढ़ने लगता है। शरीर की गतिविधियाँ तथा बोलने एवं सोचने की क्रियाएँ मन्द पड़ जाती है। त्वचा स्थूल और शुष्क होने लगती है।

आवाज का नियन्त्रण (मधुर, मोटी, पतली, तेज, धीमी आदि), स्वभाव का नियन्त्रण जैसे फुर्तीला अथवा आलसी, क्रूर अथवा दयालु, अधीर या धैर्यवान, उत्सुक अथवा उदासीन आदि इससे सम्बन्धित होते हैं। यह ग्रन्थि दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन में विशेष महत्त्व रखती है। क्योंकि ऐसे पति-पत्नी जिनकी ये ग्रन्थियाँ एक दूसरे से विपरीत होती है, अर्थात् एक की सक्रिय एवं दूसरे की निष्क्रिय हो तो, उनके स्वभाव में तालमेल बैठना कठिन होता है। यह ग्रन्थि शरीर के मोटापे, वजन का नियन्त्रण रखती है।

थायरोइड ग्रन्थि का कार्य स्पार्क जनरेटर अथवा स्टोरेज बैटरी के समान होता है। यदि हम थायरोइड ग्रन्थि रूपी हमारी बैटरी को जल्दी डिसचार्ज कर देते हैं तो हमें थकावट अनुभव होने लगती है एवं वजन बढ़ने लगता है। परन्तु यदि उसको ओवरचार्ज करते हैं तो व्यक्ति हतोत्साहित, चिड़चिड़ा, कमजोर एवं दुबला होने लगता है। इसके स्राव शरीर को बाह्य वातावरण के अनुकूल बनाने में सहयोग करते हैं।

थायरोइड ग्रन्थि ज्यादा सक्रिय होने की अवस्था में शरीर का तापमान सामान्य से अधिक रहने लगता है। वजन घटना शुरू हो जाता है। गर्मी सहन करने की क्षमता कम हो जाती है। पसीना ज्यादा आने लगता है। व्यक्ति को ज्यादा बैचेनी एवं घबराहट होने लगती है। जिससे साधारण सी छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होना, बहुत अधिक संवेदनशील होना, शीघ्र मूड बदलना, जिसको आसानी से नियन्त्रित न किया जा सके, जैसी स्थिति उत्पन्न होने लगती है।

बहुत से बच्चों में बचपन से ही ज्यादा चाकलेट/टाफियें खाने अथवा अन्य पैतृक कारणों से थायरोइड ग्रन्थि अशक्त हो जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप उनकी मानसिक वृद्धि नहीं हो पाती और न उनकी जननेन्द्रियाँ पूर्णत विकसित हो पाती है। ऐसे बच्चे प्रायः शारीरिक रूप से विकृत हो जाते हैं, दाँत खराब हो जाते हैं। अतः जो अभिभावक अज्ञानवश अपने बच्चों को चाकलेट अथवा टाफियाँ खिलाने में विवेक नहीं रखते, उन बच्चों की थायरोइड ग्रन्थि, असंतुलित हो जाने से, वे अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते। उन बच्चों की रोग प्रतिकारात्मक शक्ति क्षीण हो जाती हैं।

पेराथायरोइड ग्रन्थिः-

यह गले में थायरोइड ग्रन्थि के पीछे दोनों तरफ दो-दो अर्थात् कुल चार छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं। ये ग्रन्थियाँ शरीर का सबसे अधिक रक्तमय अवयव होती हैं तथा रक्त के रसायनिक तत्त्वों को ठीक रखने में सहायक होती हैं।

इस ग्रन्थि के श्राव रक्त में केलशियम एवं फासफोरस के प्रमाण का संतुलन रखते हैं। शरीर में इनका संतुलन बिगड़ने से बांइटे (क्रेम्पस) आने लगते हैं। रक्त में केलशियम का अनुपात काफी महत्त्वपूर्ण होता हैं। क्योंकि यह रक्त के बहाव को रोकने अर्थात् कोलस्ट्रोल को नियन्त्रित रखने, नाड़ियों तथा माँसपेशियाँ की गतिविधियों को संचालित करने हेतु आवश्यक होता हैं।

रक्त में केलशियम की मात्रा अधिक होने से गुर्दो में केलशियम जमने लगता है, जिससे गुर्दो में पत्थरी हो सकती हैं। जब केलशियम मांसपेशियों के तन्तुओं पर जमा होने लगता है तो, रियुमेटिजम हो जाता है और यदि केलशियम जोड़ों पर जमने लगता है तो आर्थाराईटिस हो जाता है। क्रोध से यह ग्रन्थि जल्दी खराब हो जाती है और कभी-कभी अत्यधिक आवेग से पक्षाघात (लकवा) तक हो सकता है। शांति, धैर्य, स्थिरता, सहयोग देने की भावना पेराथायरोइड ग्रन्थि के संतुलित होने का प्रतीक होते हैं।

थायमस ग्रन्थिः-

यह ग्रन्थि गर्दन के नीचे तथा हृदय के कुछ ऊपर सीने के मध्य में स्थित होती है। इसको बच्चों की धायमाता भी कहते हैं, क्योंकि यह बच्चों की रोगों से रक्षा करती है। यह ग्रन्थि बालकों के शारीरिक विकास एवं जननेन्द्रियों के विकास पर नियन्त्रण रखती है। युवा अवस्था प्रारम्भ होने पर इसके पिंड धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं अर्थात् शरीर का पूर्ण विकास होने पर यह ग्रन्थि अपना कार्य मंद कर देती है। यदि किसी कारणवश यह ग्रन्थि वयस्क होने पर भी क्रियाशील रहें तो, शरीर में जड़ता आ जाती है, सुस्ती आने लगती है तथा जल्दी-जल्दी थकावट अनुभव होने लगती है। जब तक यह ग्रंथि सक्रिय रहती है, प्रजनन अंग उत्तेजित नहीं होते एवं मन में कामवासना के विकार जागृत नहीं होते। ऐसा कहा जाता है कि वृद्धावस्था में यह ग्रन्थि पुनः सक्रिय हो जाती है, इसी कारण वृद्धों का स्वभाव बच्चों के समान जिद्दी, चिड़चिड़ा एवं दूसरों से अपेक्षाएँ रखने वाला हो जाता है।

एड्रीनल ग्रन्थिः-

ये ग्रंथियाँ दोनों गुर्दों के ठीक ऊपर होती हैं, जो शरीर की समस्त गतिविधियों जैसे संचार व्यवस्था, हलन-चलन, श्वसन, रक्त परिभ्रमण, पाचन, मांस पेशियों का संकुचन अथवा फैलाव, पानी अथवा अन्य अनावश्यक पदार्थों का निष्कासन आदि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसका कार्य लड़ों या भाग जाओं

अर्थात् शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता विकसित करना है। शरीर के लिये आवश्यक सभी प्रकार की दवाओं का शरीर में निर्माण इस ग्रंथि के स्राव बनाने में सहयोग करते हैं। यह व्यक्ति को साहसी, निर्भय सहनशील, आशावादी बनाती है एवं आत्मविश्वास जागृत करती है। शरीर को सभी प्रकार की एलर्जी एवं रोगों से बचाती है। अत्यधिक भय अथवा साधारण से रोगों में दवाई लेने तथा बाल्यकाल में बच्चों के रोग अवरोधक टीकें लगाने से यह ग्रंथियाँ बराबर कार्य नहीं करती। इसी कारण जापान में दो साल तक बच्चों को कोई टीका अथवा इंजेक्शन प्रायः नहीं लगाया जाता। भविष्य में रोग होने की आशंका मात्र से बिना कारण रोग निरोधक टींका लगाने से शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमता कम हो जाती है, तथा नये-नये रोग होने की संभावनाएँ बढ़ जाती है। जिस पर स्वास्थ्य मंत्रालय एवं प्रत्येक अभिभावक को बच्चों के हित में गहन चिंतन कर निर्णय लेना चाहिए।

पेन्क्रियाज ग्रन्थिः-

यह पेट में स्थित 6'' से 8'' लम्बी ग्रंन्थि होती है जिसका ऊपरी भाग पाचक रस बनाता है जो क्षारीय स्वभाव का होने से शरीर में आम्लीय तत्त्वों का नियन्त्रण रखता है। इसमें अनेक तत्त्व होते हैं, जो कठोर भोजन तो पतला बनाने में सहयोग करते हैं जिससे, आंते उनको ग्रहण कर सके। जबकि नीचे वाला भाग इंसुलिन नामक रस बनाता है जो शरीर में ऊर्जा उत्पादन हेतु मुख्य तत्त्व होता है। यह ग्लूकोज को ग्रहण करने में सहायता करता है तथा शरीर में उसकी मात्रा को संतुलित एवं नियन्त्रित रखता है। जब तक इंसुलिन उचित मात्रा में बनता है तो, यकृत भी अतिरिक्त ग्लूकोज को ग्लाइकोजिन में बदल कर अपने पास एकत्रित रख सकता है ताकि, आवश्यकता पड़ने पर पुनः ग्लूकोज में बदलकर कोशिकाओं तक पहुँचा सके। दूसरी बात इंसुलिन की कमी के कारण शरीर ग्लूकोज को चर्बी के रूप में भी नहीं रख पाता। फलतः ग्लूकोज शरीर पूर्ण ग्रहण नहीं कर पाता और मूत्र द्वारा बाहर चला जाता है। व्यक्ति अन्दर ही अन्दर शक्तिहीन (दीमक लगी लकड़ी के समान) लगता है।

इसके विपरीत यदि पेन्क्रियाज अधिक कार्य करें तो, इंसुलिन ज्यादा बनने लगता है, जिससे रक्त में ग्लूकोज की मात्रा कम होने लगती है। इस परिस्थिति में भूख ज्यादा लगती है, पसीना अधिक आता है, रक्तचाप घट जाता है, सिर दर्द होता है एवं कमजोरी का अनुभव होता है। रोगी कभी-कभी बहकी-बहकी बातें करने लगता है और यदि ग्लूकोज की मात्रा बहुत कम हो जावे तो अचानक बेहोशी की अवस्था में पहुँच मृत्यु तक हो जाती है। आंखें एवं गुर्दे इसकी खराबी से जल्दी प्रभावित होते हैं। तनाव इस रोग का मुख्य कारण है। खुराक का नियन्त्रण, पाचन संबंधी नियमों का पालन, प्राणायाम, नियमित भ्रमण, स्वाध्याय, भक्ति, सद् चिन्तन, तनावमुक्त आचरण, कड़वे स्वादों का सेवन इस रोग के निवारण में प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं। पैन्क्रियाज बहुत ही संवेदनशील अंग है एवं इसकी मामूली खराबी से शरीर की सारी रसायनिक क्रियाएँ प्रभावित होती हैं।

प्रजनन/ ग्रन्थियाँः-

यह ग्रन्थियाँ कामेच्छा को नियन्त्रित कर विपरीत लिंग (सेक्स) में आकर्षण पैदा करती है। प्रजनन का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने से अन्य ग्रन्थियाँ भी इस कार्य में प्रमुख भूमिका निभाती है। पिनियल जहाँ कामेच्छा जागृत करती है, थायरोइड उसे गति देती है तथा पीयूष ग्रन्थि प्रजनन अंगों का विकास करती है, वहीं यह ग्रंथि सारे प्रजनन तंत्र के कार्यो का संचालन करती है। प्रजनन ग्रंथियाँ ऐसे हार्मोन्स का निर्माण करती है, जिसके

द्वारा स्त्री स्त्रीत्व प्राप्त करती है और उसमें स्त्रियोचित व्यक्तित्व बना रहता है। पुरुषों में इन ग्रन्थियों के स्राव पुरुषत्व के लक्षण पैदा करते हैं।

प्रजनन ग्रंथियाँ एवं एड्रीनल ग्रंथियाँ एक दूसरे के हारमोन बनाने में सहयोग करती है जिससे शरीर एलर्जी से बच सके। जिन महिलाओं का गर्भाशय शल्य चिकित्सा द्वारा निकाल दिया जाता है, रक्त में ओवरीज के हारमोन मिलना बंद हो जाता है, जिससे शरीर नीचे से फूलने लगता है। अतः ऐसे रोगियों की एड्रीनल, पीयूष एवं थायरोइड ग्रंथियों को सक्रिय करने से हारमोन्स की आवश्यक पूर्ति संभव हो सकती है। ऐसे रोगियों की प्रायः सभी ग्रंथियाँ शिथिल हो जाती है। ये ग्रंथियाँ बराबर कार्य न करें तो जननेन्द्रियों सम्बन्धी रोग हो जाते हैं। चेहरे का आकर्षण, तेज, व्यक्तित्व इसी ग्रंथि की क्षमता दर्शाता है। यह ग्रंथि बालों को बढ़ाने, स्वर सुधारने, शरीर के तापक्रम तथा आकार को संतुलित रखने में सहयोग करती है।

ग्रंथियों को प्रभावित करने वाले तथ्यः-

प्रत्येक विचार, चिन्तन, मनन, क्रिया, प्रतिक्रिया हमारी ग्रंथियों को प्रभावित करती है। ग्रंथियाँ हमारे स्वास्थ्य की निर्माता हैं। इनमें सक्रियता, संतुलन, सहयोग और समन्वय स्वस्थता का सूचक हैं तथा इसके विपरीत निष्क्रियता, असंतुलन, असहयोग बीमारी का द्योतक है। ''तनाव, चिन्ता, भय, निराशा, क्रोध, अहं, माया, लोभ आदि पाश्विक वृत्तियों से ग्रंथियाँ खराब हो जाती है।'' इसलिये हमारे ऋषि मनीषियों ने तनावमुक्त, आनन्दमय, सद् चिन्तन युक्त जीवन जीने, शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करने, राग एवं द्वेष को कम करने तथा संयमित, विवेक पूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा दी। क्षण मात्र का भी प्रमाद न करने का निर्देश दिया। हमारे अधिकांश पुराने रीति-रिवाजों, परम्पराओं, त्योहारों, एवं अनुष्ठानों के पीछे भी प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्पन्न दुःख को भूलाकर आनन्दमय जीवन जीने का मुख्य उद्देश्य रहा हुआ हैं, जिससे हमारी ग्रंथियाँ खराब न हों, परन्तु आज हम आधुनिकता के नाम पर उनके महत्त्व को भूलाकर उन वैज्ञानिक रीति रिवाजों को छोड़ते जा रहे हैं। फलतः हमारी ग्रंथियाँ प्रायः स्वस्थ नहीं होती है। दवाईयों के अनावश्यक अथवा अत्यधिक सेवन करने से ग्रन्थियाँ निष्क्रिय हो जाती है, जिससे शरीर की रोग प्रतीकारात्मक शक्ति घटने लगती हैं।

अन्तःस्रावी ग्रंथियों के उपचार की सरलतम पद्धतिः-

एक्युप्रेशर पद्धति द्वारा इन ग्रंथियों का जितना सरल, सहज, प्रभावशाली उपचार हो सकता है, उतना अन्य चिकित्सा पद्धतियों में प्रायः सम्भव नहीं होता। अन्तःस्रावी ग्रंथियों के प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देकर अथवा अन्य किसी विधि द्वारा उन्हें सक्रिय, संतुलित एवं सजग सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

इन ग्रंथियों से संबंधित चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से भी ग्रन्थियों पर आये विकारों को दूर किया जा सकता है। विशेष रूप से इन चैतन्य संवादी केन्द्रों पर प्रेक्षा ध्यान में जो प्रयोग अभी तक हुये हैं, वे वास्तव में आश्चर्यजनक परिणाम वाले हैं। आधुनिक चिकित्सकों के पास अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के असंतुलन को दूर करने का कोई सरल प्रभावशाली उपाय नहीं है।

आज जहाँ चारों तरफ क्रूरता, हिंसा, आतंकवाद, क्रोध, स्वच्छन्दता, घमण्ड, माया, लोभ, घृणा, द्वेष, तनाव आदि दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ रही है। किन्तु इन दुष्प्रवृत्तियों को ग्रंथियों का उपचार कर आसानी से बदला जा सकता है।

स्वास्थ्य मंत्रालय से अपेक्षा है कि विज्ञापन तथा मनोरंजन के नाम पर संवार मंत्रालय द्वारा बेहिचक जो दृश्य टी.वी. पर दिखाये जाते हैं जिनसे उठने वाले आवेग, जनता की ग्रन्थियों को खराब कर रहे हैं। उन पर रोक लगावे, इससे होने वाले दुष्प्रभावों का पता लगायें, अवरोधक टीकों का प्रचार बंद करें अन्यथा जन साधारण के साथ बहुत बड़ा विश्वासघात होगा। उन कारणों के मूल में जावे जिसके फलस्वरूप डॉक्टरों एवं अस्पतालों के निरन्तर बढ़ने के बावजूद जनता का स्वास्थ्य निरन्तर क्यों गिरता जा रहा है? रोगियों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है? आज हमारी प्रतिकारात्मक शक्ति क्यों कम हो रही है? सहनशक्ति क्यों क्षीण हो रही है? आत्म-विश्वास और मनोबल क्यों कमजोर हो रहा है। साधारण सी प्रतिकूल परिस्थितियों में हम क्यों भयभीत हो जाते हैं? अन्याय अत्याचार के विरुद्ध अभिव्यक्ति की मानसिकता क्यों क्षीण हो गयी है?

दवाईयों के कहीं दुष्प्रभाव तो नहीं पड़ रहे हैं? नये-नये रोग क्यों पनप रहे हैं? स्वस्थ रहने की भावना रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को तथा दूसरों को स्वस्थ रखने में जुड़े प्रत्येक चिकित्सक को पूर्वाग्रह छोड़ ग्रंथियों के इस सरल उपचार को अवश्य सीखना चाहिये। जो हमारे शरीर में 75 प्रतिशत से ज्यादा रोगों का मूल कारण होते हैं। अन्यथा हम ऊपर से स्वस्थ दिखते हुये भी वास्तव में स्वस्थ नहीं बन सकते। जेलों में कैदियों के स्वभाव परिवर्तन हेतु ग्रंथियों का उपचार किया जावें। सभी अध्यापकों एवं अभिभावकों से विनम्र अनुरोध है कि बालकों के चारित्रिक विकास हेतु इन ग्रंथियों को स्वस्थ रखने के तरीकों की बालकों को जानकारी दें। जन साधारण जितना-जितना इन ग्रंथियों के प्रति सजग होगा, उतनी उतनी उनकी प्रतिकारात्मक शक्ति बढ़ेगी। चारित्रिक गुणों का विकास होगा, तनाव घटेगा, विवेकशील बनेगा, उसमें सद् चिन्तन की प्रवृत्ति बढ़ेगी, आशावादी दृष्टिकोण पैदा होगा, साहस बढ़ेगा, चिन्तायें मिटेगी, व्यक्तित्व का विकास होने से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रसन्न एवं स्वस्थ रहकर सच्चे अर्थो में स्वाधीन बनेगा एवं अपने आपको चिकित्सकों से दूर रख सकेगा।

चौईसवां अध्याय

सभी रोगों की एक दवा - शिवाम्बु

मानव शरीर अपने आप में परिपूर्ण होता है। इसमें अपने आपको स्वस्थ रखने की क्षमता होती है। आवश्यकता है अपनी क्षमताओं को पहचानने की, समझने की तथा आवश्यकतानुसार उसका सही उपयोग करने की। अज्ञान अथवा अधूरा ज्ञान एवं उसके साथ जान का झूठा अहं सभी समस्याओं की जड़ होता है।

स्वमूत्र चिकित्सा अति प्राचीन है। जैन, बौद्ध, आयुर्वेद, बाइबिल जैसे पौराणिक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। डामर तंत्र में शिवजी ने पार्वती जी को शिवाम्बु कल्प यानी स्वमूत्र के लाभ एवं उपयोग के तरीको के बारे में विस्तार से समझाया था, इसी कारण स्वमूत्र को शिवाम्बु भी कहा जाता है।

आज वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि शिवाम्बु शरीर से गुर्दो द्वारा रक्त को शुद्धिकरण से प्राप्त जीवनोपयोगी जल का वह भाग है, जिसमें शरीर के लिए उपयोगी सैकड़ों ऐसे तत्त्व होते हैं, जिनका शरीर तत्काल उपयोग नहीं कर पाता और उनको संचय करने तथा रखने के लिए शरीर में अलग से व्यवस्था नहीं होने से उसको विसर्जित करना पड़ता है। ऐसे उपयोगी तत्त्व जो आवश्यकता से ज्यादा होते हैं, शिवाम्बु के माध्यम से शरीर के बाहर आते हैं। जैसे जब कभी हमारे पास पैसे अधिक होते हैं, तत्काल जिनकी आवश्यकता न हो, तो हम

उस धन को बैंक अथवा अन्य किसी के पास जमा करवा देते है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर हम उन्हें पुनः प्राप्त कर सकें। उसी प्रकार शिवाम्बु गंदा, खराब, विषैला, हानिकारक, विजातीय तत्त्व नहीं है, अपितु स्वास्थ्यवर्धक, जीवनोपयोगी शरीर द्वारा निर्मित रासायनिक प्रयोंगो द्वारा बना जल है। शिवाम्बु में सैकड़ों उपयोगी खनिज, रसायन, हारमोन्स, इन्जाईम्स, विटामीन, क्षार, पोषक तत्त्व, विष नाशक पदार्थ तथा रोग निवारक, पीड़ा को शान्त करने वाले, शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और ताकत बढ़ाने वाले तत्त्व होते हैं, जो निष्क्रिय अंगों को सक्रिय बनाने, रक्त के शुद्धिकरण, पाचन एवं श्वसन तंत्र जैसे-विभिन्न शारीरिक क्रियाओं को सुव्यवस्थित, नियन्त्रित और संतुलित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

शिवाम्बु में उपकारक तथा रोग प्रतिकारक ऐसे निर्दोष रासायनिक तत्त्व मिले हैं, जो रोगी और निरोगी दोनों के लिये उपादेय होते हैं। फलस्वरूप विश्व के आधुनिक दवा निर्माताओं ने शिवाम्बु से प्राप्त जीवनोपयोगी आवश्यक तत्त्वों तथा अन्य भौतिक तत्त्वों के योग से कैन्सर, एड्स, टी.बी., हृदय रोग, दमा, नपुसंकता, गुर्दा आदि के असाध्य रोगों के उपचार हेतु बहुमूल्य प्राणदायिनी दवाइयों और इंजेक्शनों का व्यापक पैमाने पर निर्माण प्रारम्भ कर दिया है। हृदय रोगियों को दिया जाने वाला **Urokine**, जो महिलाएँ गर्भवती नहीं होती, उनके लिए दी जाने वाली **Profasi** तथा अन्य असाध्य रोगों के लिए उपयोगी **Serocruption Bromocriptine, Meprate, Ukidon, Pergonal (11MG), Metrodin HP Urofollitrophin (FHS)** आदि अनेक दवाईयों के निर्माण में शिवाम्बु का प्रयोग होता है।

सभी रोगों की एक दवाः-

दुनियाँ में रोग मुक्त करने के लिए हजारों दवाईयाँ उपलब्ध हैं, जिनका रोगों की रोकथाम उपचार एवं परहेज के रूप में उनका सेवन किया जाता है। सभी दवाओं का शरीर के अंगों पर अपना अलग-अलग प्रभाव अथवा दुष्प्रभाव पड़ता है। आँख के रोगों की दवा कान में नहीं डाली जा सकती। नाक में डालने वाली दवा मुँह से नहीं ली जा सकती। परन्तु शिवाम्बु स्वयं के द्वारा स्वयं के शरीर से उनके रोगों की आवश्यकतानुसार निर्मित ऐसी दवा है, जिसका उपयोग चाहें कान हों या आँख, नाक हों या मुँह, त्वचा के रोग हो अथवा शरीर की आन्तरिक शुद्धि के लिए दिए जाने वाला एनिमा ही क्यों न हों, सभी में स्वस्थ रहने हेतु बेहिचक प्रयोग में लिया जा सकता है। अतः शिवाम्बु को अमरोली अथवा अमृत कहा जाए तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होती।

मूत्र द्वारा साध्य-असाध्य रोगों की पहचानः-

प्रातःकाल के प्रथम मूत्र की मध्य धारा को किसी कांच के बर्तन में संग्रह कर लें। उसमें एक बूंद तेल डालकर पश्चिम की तरफ मुख करके निम्न जानकारी प्राप्त करें:-

1. यदि तेल की बूंद मूत्र में फैल जाये तो रोग साध्य होता है।
2. यदि तेल की बूंद मूत्र में न फैले तो रोग कष्ट साध्य होता है।
3. यदि तेल की बूंद नीचे बैठ जाये तो रोग असाध्य होता है।
4. यदि तेल की बूंद पूर्व की तरफ आ जाये तो रोगी जल्दी अच्छा होगा। यदि दक्षिण की तरफ जाये तो शरीर में तकलीफ होगी। उत्तर की तरफ जाये तो रोग बना रहेगा। सर्प के आकार का सफेद हो जाये तो रोगी में वायु विकार होता है। छत्र की तरह यदि रक्त वर्ण हो जाये तो रोगी में पित्त विकार, परन्तु यदि मोती की भांति रेत के कण की तरह दिखने लगे तो रोगी में कफ विकार होते हैं।

शिवाम्बू के प्रयोग की विधियाँ:-

शिवाम्बु का प्रयोग अलग-अलग रोगों में अथवा रोकथाम हेतु अलग-अलग ढंग से किया जाता है। पीने के लिए प्रातःकालीन प्रथम शिवाम्बु सर्वश्रेष्ठ होता है। रात में निद्रा में व्यक्ति अपने मानवीय स्वभाव में ही होता है। कोई व्यक्ति कितना भी क्रूर, हिंसक, क्रोधी, निर्दयी, अशान्त क्यों न हो, निद्रा में तो वह शांत और तनाव मुक्त ही होता है। अतः उस समय शरीर में जो हारमोन्स का निर्माण होते हैं, वे विशेष स्वास्थ्य वर्धक होते हैं। अतः प्रातःकालीन शिवाम्बु अधिक लाभदायक होता है। परन्तु जो शान्त, तनाव मुक्त, समभाव की साधना करने वाले, ध्यान अथवा भक्ति में सदैवलीन रहते हैं, वे कभी भी अपने शिवाम्बु का प्रयोग कर सकते हैं। अतः जो किन्हीं कारणों से प्रातःकालीन शिवाम्बु का नियमित सेवन न कर सकें, उन्हें स्वाध्याय, ध्यान, सामायिक, भक्ति के पश्चात् विसर्जित शिवाम्बु का सेवन करना चाहिए। लेखक ने स्वयं शिवाम्बु का सेवन विभिन्न परिस्थितियों में किया। जैसे भोजन के पूर्व, भोजन के पश्चात्, यहाँ तक भोजन के बीच में, बिना उपवास दिन भर के शिवाम्बु का इत्यादि, फिर भी किसी भी प्रकार के दुष्प्रभावों का अनुभव नहीं किया। प्रातःकाल शिवाम्बु सेवन के आधा घंटें पश्चात् उषापान करने से आंतों की पूर्ण सफाई सरलता पूर्वक हो जाती है।

उपवास के साथ शिवाम्बु का सेवन करने से शरीर को ताकत मिलती है तथा दीर्घ तपस्या आसानी से की जा सकती है। अन्य समय का शिवाम्बु भी हानिकारक नहीं होता। शिवाम्बु औषधि नहीं रसायन है। अतः इसका प्रयोग मेरे व्यक्तिगत अनुभव के अनुसार कोई भी और कभी भी प्रयोग कर सकता है, परन्तु जो नियम और विधि के अनुसार शिवाम्बु का सेवन करता है, उसको बिना नियमों का पालन सेवन करने की अपेक्षा शीघ्र लाभ होता है। इसी कारण विदेशों में जहाँ माँसाहारी एवं शराब का सेवन अधिक होता है, शिवाम्बु का पान करने वालों के किसी भी प्रकार के दुष्प्रभाव पड़ने के उदाहरण लेखक की जानकारी में नहीं है, भले ही शिवाम्बु पान का लाभ उन्हें न मिला हो। शिवाम्बु पीने के बाद कम से कम एक घंटे तक कुछ भी खाना पीना नहीं चाहिए। आँखों में, कान में, मुँह में, एनिमा आदि के रूप में ताजा शिवाम्बु को ही उपयोग में लेना चाहिये, परन्तु त्वचा सम्बन्धी रोगों में जितना पुराना शिवाम्बु होता है, उतना अधिक प्रभावशाली होता है। असाध्य रोगों में शिवाम्बु पीना, शिवाम्बु का एनिमा लेना, रोगग्रस्त निष्क्रिय भाग पर शिवाम्बु का मसाज करना अथवा उस भाग को शिवाम्बु से गीला रखा जाता है। व्यक्ति को शिवाम्बु का अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए अनुभवी शिवाम्बु चिकित्सक से इसके सेवन की विधि, परहेज एवं सावधानियों के बारे में विस्तृत परामर्श कर लेना चाहिए, अन्यथा अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं होंगे, भले ही इसके दुष्परिणाम न भी हों।

शिवाम्बु का स्वभाव पर प्रभाव:-

शिवाम्बु में विभिन्न प्रकार के हारमोन्स होने से इसके सेवन से मानव का स्वभाव बदलता है। व्यक्ति होशियार एवं मेधावी बनता है। स्मरण शक्ति तेज होती है। बुद्धि विकसित होती है। तनाव घटता है। निर्भयता एवं साहस विकसित होता है। चेहरे का तेज, वाणी में जोश, इन्द्रियों की क्षमता बढ़ती हैं। मनोबल दृढ़ होता है। जीवन में उत्साह बना रहता है। मन में शांति बढ़ती है। मांसाहारी को शाकाहारी बनने तथा दुर्व्यसनी को निर्व्यसनी बनने की स्वतः प्रेरणा मिलने लगती है और व्यक्ति सद्गुणों की तरफ प्रेरित होने लगता है। मन की शांति बढ़ती है, जिससे व्यक्ति का चिन्तन एवं विचार प्रभावित होते हैं। साधक, ध्यान, तप आदि आत्म-साधना में प्रगति करने लगता है। अर्थात् शिवाम्बु का विधिवत् सेवन करने से शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास में मदद मिलती

है, जिसका विस्तृत विवेचन डामर तंत्र में किया गया है, जो अतिशयोक्ति नहीं परन्तु अनुभूति परक सनातन सत्य है।

शिवाम्बु और भोजनः-

शिवाम्बु का हमारे भोजन एवं भावों से सीधा सम्बन्ध होता है। शिवाम्बु में सभी तत्त्व होते हैं, जो हमारे भोजन में होते हैं तथा भावों के अनुसार हारमोन्स भी होते हैं। शिवाम्बु का स्वाद भोजन के अनुसार बदलता रहता है। शिवाम्बु के स्वाद एवं सुगंध के अनुसार शरीर में रोग का सही निदान किया जा सकता है। स्वादहीन, सुगंध हीन, प्रातःकालीन प्रथम विसर्जित होने वाला शिवाम्बु अच्छे पाचन एवं स्वास्थ्य का प्रतीक होता है। यदि शिवाम्बु का प्रयोग करते समय भोजन के साधारण नियमों का पालन किया जाये, मैदे, शक्कर एवं नमक का कम उपयोग किया जाये, तले, भुनें,चरखे, गर्म मसालों से मुक्त चटपटे भोजन से बचा जावें तथा सात्त्विक प्राकृतिक ऊर्जा से परिपूण्र भोजन किया जाये तो, पुराने, असाध्य, मरणान्तिक रोगों में भी चमत्कारी परिणामों से रोगों में राहत मिलती है।

शिवाम्बु से होने वाले तात्कालिक उपचार एवं अन्य उपयोगः-

1. हिलते हुए दांतों को पुनः मजबूत करने के लिये तथा दांतों संबंधी अन्य रोगों (खड्डे भरने के अलावा) में ताजे शिवाम्बु को मुंह में भरकर दिन में तीन-चार बार पंद्रह बीस मिनट घुमाने से रोग ठीक हो जाते हैं।
2. आंखों के सभी रोगों में, नेत्र ज्योति बढ़ाने के लिए, चश्में के नम्बर कम करने के लिए, रोजाना तीन-चार बार आंखों को ताजे शिवाम्बु को तीन-चार मिनट ठंडा होने के पश्चात् धोने से काफी लाभ होता है।
3. सांप, बिच्छु अथवा शरीर में अन्य जहर फैलने पर शिवाम्बु पीने से विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है। यदि रोगी का शिवाम्बु उपलब्ध न हों तो अन्य स्वस्थ व्यक्ति का शिवाम्बु तुरंत पिलाया जा सकता है।
4. यदि रोगी का पेशाब बंद हो तो, अन्य स्वस्थ व्यक्ति का शिवाम्बु पिलाने से मूत्र में आया अवरोध दूर हो जाता है। उसके पश्चात् रोगी अपने स्वयं के शिवाम्बु का सेवन कर सकता है।
5. रोगी को जहाँ तक हो, अपने शिवाम्बु का ही सेवन करना चाहिये, भले ही मधुमेह के कारण मूत्र में सुगर अथवा कंसर आदि रोगों के कारण, उसमें पस अथवा बदबू कितनी ही क्यों नहीं आती हो।
6. हृदय रोग के लिये राम बाण समझे जाने वाले यूरोकाइन नामक इंजेक्शन विदेशों में सार्वजनिक मूत्रालयों से प्राप्त शिवाम्बु से ही बनाया जाता है। जिसकी भारत में कीमत सैकड़ों रुपये प्रति इंजेक्शन होती हैं तथा प्रतिवर्ष सरकार उस पर करोड़ों रुपयों की विदेशी मुद्रा खर्च करती है। शिवाम्बु में शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता होने के कारण विदेशों में अनेकों शल्य चिकित्सक, शल्य चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले एवं बाद में शिवाम्बु का इंजेक्शन देते हैं। बच्चों को शिवाम्बु पिलाने से उनको चेचक, पोलियों, डी.पी.टी., हेपेटाईस जैसे टीकों के लगाने की आवश्यकता नहीं होती और न टीकों के दुष्प्रभावों का खतरा ही रहता है।
7. भारत की कुछ कम्पनियाँ गर्भवती महिलाओं का मूत्र अस्पतालों एवं पैथालोजिकल लेबोरेटरीज के माध्यम से एकत्रित कर, पिछले कई वर्षो से विदेशों में निर्यात कर रही है। जो प्रोफसी नामक इंजेक्शन बनाने में काम में आता है। यह इंजेक्शन गर्भपात रोकने एवं नपुंसकता दूर करने में दुनियाँ भर में काम में लिया जाता है।
8. सभी असाध्य रोगों में चाहे कैंसर हों अथवा एड्स या एंथ्रेक्स शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता बढ़ाने हेतु शिवाम्बु का प्रयोग दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जो शिवाम्बु के चमत्कारी प्रभावों का प्रतीक है।

9. शिवाम्बु सर्वोत्तम एन्टीबायोटिक, सेविंग क्रीम, सेविंग का साबुन, सेविंग लोशन, बालों को मुलायम बनाने वाला शैम्पू, दांतों को साफ करने वाला दंत मंजन है। इसी कारण विदेशों में सौंदर्य प्रसाधनों तथा दंत मंजनों में शिवाम्बु का प्रयोग विशेष कर फ्रांस में निरंतर बढ़ता जा रहा है। आज सौंदर्य प्रसाधन के नाम पर जीवों पर जो निर्दयता, क्रूरता, हिंसा हो रही है उन सबका शिवाम्बु एकमात्र सस्ता, सुन्दर, प्रभावशाली दुष्प्रभावों से रहित अहिंसक विकल्प है।
10. उषापान करने वालों को प्रातः प्रथम शिवाम्बु का पान करना चाहिए। उसके आधा घंटें पश्चात् उषापान कर भ्रमण करने अथवा पेट का हलका व्यायाम करने से आंतों की सफाई प्रभावशाली ढंग से हो जाती है।
11. मुँह में 20 मिनट तक शिवाम्बु रख अन्दर ही अन्दर घुमाने के साथ-साथ, आंखों को शिवाम्बु से धोने तथा कानों में शिवाम्बु डालने से आंख और कानों की कार्य क्षमता बढ़ती है।
12. नासाग्र से स्वमूत्र पान करने से श्वसन तंत्र मजबूत होता है तथा दमा, तपेदिक आदि रोग जल्दी ठीक होते हैं।
13. हथेली और पगथली में शिवाम्बु का मसाज करने से वहां जमें विजातीय तत्त्व दूर होने लगते हैं और व्यक्ति को अनेक रोगों से सहज राहत मिलने लगती है।
14. श्वास की बीमारी वालों को सीने पर नियमित शिवाम्बु का मसाज करने से फेंफड़ों में जमा कफ और विजातीय अवरोधक तत्त्व दूर होने लगते हैं। फलतः श्वास रोगों में राहत मिलती है।

शिवाम्बु गर्म प्रकृति का होने से इसको पीने की एक जैसी विधि का निर्धारण न्यायसंगत नहीं हो सकता। सर्दी की मौसम में अथवा कफ प्रकृति वाले उसका आवश्यकतानुसार स्वविवेक के साथ अधिकाधिक प्रयोग कर सकते हैं। वर्षा की मौसम में शिवाम्बु की मात्रा सर्दी की अपेक्षा थोड़ी कम तथा गर्मी की मौसम में तथा पित्त प्रकृति वालों को शिवाम्बु का पान कम करना चाहिए।

जो व्यक्ति दुर्व्यसनों से ग्रसित हैं, अथवा किसी प्रकार की दवा ले रहा है अथवा जिसका खानपान सात्त्विक नहीं है, उसको शिवाम्बु का अधिक सेवन करना चाहिए, ताकि थोड़े समय में ही उसके दुर्व्यसन छूट जाते हैं, दवा बंद हो जाती है तथा सात्त्विक खाने के प्रति आकर्षण बढ़ने लगता है। इसी प्रकार जिनके शरीर में मोटापा अथवा चर्बी ज्यादा है, उन्हें शिवाम्बु का सेवन अधिक मात्रा में करना चाहिये तथा जो दुबले पती हैं, उन्हें शिवाम्बु का सीमित मात्रा में ही सेवन करना चाहिए।

विविध चिकित्साओं के साथ शिवाम्बु का प्रयोगः-

हथेली और पगथली में शिवाम्बु का मर्दन करने से वहाँ जमें विकार अपना स्थान छोड़ने लगते हैं। अतः उसके पश्चात् किया गया एक्युप्रेशर उपचार, अधिक प्रभावशाली हो जाता है। शिवाम्बु को चुम्बक पर रखने से उसमें चुम्बकीय गुण, रंगीन बोतलों में धूप में रखने से अथवा अन्य विधि द्वारा रंगों की प्रकाश किरणें डालने से रंगों के गुण, पिरामिड पर रखने से, अतिरिक्त ऊर्जा का संचय होने से, उसकी प्रभावशीलता बढ़ जाती है, तथा एक साथ समग्र चिकित्सा का लाभ मिलने लगता है।

शिवाम्बु के प्रति जनजागरणः-

गुजरात के भावनगर विश्वविद्यालय में शिवाम्बु पर डिप्लोमा पाठ्यक्रम चालू कर दिया गया हैं। महाराष्ट्र के कोल्हापुर में भारत का प्रथम शिवाम्बु चिकित्सालय कार्यरत है। गुजरात, महाराष्ट्र और आगरा में भी शिवाम्बु

शोध संस्थान कार्यरत हैं तथा सैकड़ों अनुभवी शिवाम्बु प्रेमी रोगियों को अपने अनुभव के आधार पर परामर्श देकर मानव सेवा के कार्य में जुटे हैं।

जिस घर में स्वमूत्र चिकित्सा को पारिवारिक चिकित्सा के रूप में मान्यता मिल जाती है अर्थात् सभी परिजन अपना लेते हैं, वह परिवार बड़ा भाग्यशाली होता है। उस घर में चिकित्सकीय खर्च बंद हो जाता है, उपचार हेतु समय का दुरूपयोग समाप्त हो जाता है। घर के बालक-बालिका, प्रोढ़-प्रोढ़ा-वृद्धा सभी रोग मुक्त हो दीर्घायु को प्राप्त करते हैं।

आज सैकड़ों आधुनिक चिकित्सा विशेषज्ञ, राजनेता, फिल्म अभिनेता, शिक्षाविद् शिवाम्बु के प्रति जन जागरण कर अपने स्वास्थ्य हेतु स्वमूत्र पान कर रहे हैं।

शिवाम्बु पर प्रथम अन्तरर्राष्ट्रीय सम्मेलन गोआ में, दूसरा जर्मनी में आयोजित हुआ और तीसरा ब्राजील में इस वर्ष हो रहा है, जो शिवाम्बु के प्रति सम्पूर्ण विश्व में आकर्षण का प्रतीक है। भारत में आगरा में जनवरी 2002 में जो शिवाम्बु पर राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें शिवाम्बु प्रेमियों ने समापन समारोह में सामूहिक रूप से स्वमूत्र का पानकर पत्रकारों एवं दर्शकों के बीच शिवाम्बु के प्रति घृणा दूर करने का प्रदर्शन किया।

शिवाम्बु पर आज सैकड़ों पुस्तके एवं आलेख विश्व भर में विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो रहे हैं, फिर भी पूर्वाग्रसित मान्यताओं तथा स्वमूत्र के प्रति घृणा भावना के कारण जनसाधारण व्यापक रूप से इस पद्धति को नहीं अपना पाया है।

सरकारी उपेक्षा एवं हमारा दायित्वः-

भारत जैसे गरीब देश के लिए शिवाम्बु जैसी सरल, सस्ती, अहिंसक, वैज्ञानिक, प्रभावशाली, सहज, सुलभ, स्वावलम्बी पद्धति जो सबके लिए सभी स्थानों पर उपलब्ध हो, परन्तु सही जानकारी एवं भ्रामक धारणाओं के कारण उपयोग में न ली जाए, हमारा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। अतः मानवतावादी दृष्टिकोण वाले सभी सवास्थ्य प्रेमियो का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि, जन-जन तक शिवाम्बु सम्बन्धी जानकारी पहुँचावे तथा गरीब, अशिक्षित स्वास्थ्य प्रेमियों को रोग मुक्त जीवन व्यतीत करने के पुनीत सेवा कार्य में अपनी अहं भूमिका निभाए।''शिवाम्बु चिकित्सा में रोग के निदान की भी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि शरीर में रोगों की आवश्यकतानुसार ही इसका निर्माण होता है। शिवाम्बु का सम्यक् उपयोग अपने आप में चिकित्सा है तथा आधुनिक चिकित्सा में कार्य में ली जाने वाली अनेकों दवाईयों का एक मात्र प्रभावशाली विकल्प।''

पच्चीसवां अध्याय

चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति

संतुलन ही स्वास्थ्य का मूलाधार हैः-

रोगों की रोकथाम के लिये आवश्यक है कि शरीर में जमें अनावश्यक तत्त्वों को बाहर निकाला जावे एवं शरीर के सभी अंग उपांगों को संतुलि रख शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित रखा जाये। जो अधिक सक्रिय हैं, उन्हें शान्त किया जावे तथा जो असक्रिय हैं, उन्हें सक्रिय किया जावे। असंतुलन ही सभी रोगों की जड़ है। चुम्बक इन सभी कार्यो में प्रभावशाली होता है। अत:रोगों के उपचार एवं बचाव में विभिन्न प्रकार की चुम्बकीय ऊर्जा का

उपयोग दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होता जा रहाहै। चुम्बकीय ऊर्जा में शरीर के उन सभी रोगों को दूर करने की ताकत होती है, जो शारीरिक क्रियाओं से विशेष रूप से सम्बन्धित होते हैं। उसका प्रभाव हड्डी अथवा शरीर के अन्य अवयवों तक सीधे पहुँचने की क्षमता के कारण उपचार शीघ्र एवं प्रभावशाली होता है।

चुम्बकीय ऊर्जा की विशेषताः-

बिजली के प्रवाह हेतु विद्युत चालक धातु (Conductor) की आवश्यकता होती है। अन्य अवरोधक वस्तुओं (Non-conductor) में बिजली का प्रवाह नहीं हो सकता। परन्तु चुम्बकीय तरंगों के प्रवाह हेतु किसी विशेष प्रकार के धातु की आवश्यकता नहीं होती। प्रायः अधिकांश पदार्थ चुम्बकीय तरंगों का पूर्ण प्रतिरोध नहीं कर पाते। अतः ऊर्जा कुछ अंशों में लकड़ी, कांच एवं अन्य बिजली की अवरोधक वस्तुओं में भी प्रभावित हो सकती है। फिर भी लोहे अथवा उससे बनी वस्तुओं के साथ चुम्बक का विशेष आकर्षण होता है। जहाँ-जहाँ लोहे के उपकरण होते हैं, चुम्बकीय ऊर्जा का अधिकांश प्रवाह प्राथमिकता के आधार पर पहले उनमें होता है। उनकी अनुपस्थिति में उस ऊर्जा का प्रवाह अन्य प्रदार्थो में प्रायः संभव नहीं होता है। अतः पृथ्वी और हमारे मध्य जितने अधिक लोह उपकरण होते हैं, उतना ही कम पृथ्वी के चुम्बक से हमारा सम्पर्क रहता हैं।

पृथ्वी के चुम्बक का हमारे जीवन पर प्रभावः-

वैज्ञानिकों की ऐसी मान्यता है कि सारे ब्रह्माण्ड का मूलाधार चुम्बकीय शक्ति है एवं उसके प्रभाव से ही सारे ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों को एक दूसरे से जुड़े रहने की शक्ति प्राप्त होती है। पृथ्वी हों या सूर्य, चन्द्रमा अथवा अन्य ग्रह एवं नक्षत्र सभी चुम्बकीय ऊर्जा से प्रभावित होते हैं। जिनका हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सारा ज्योतिष शास्त्र उनके प्रभावों पर ही आधारित होता है। पृथ्वी स्वयं एक शक्तिशाली चुम्बक है एवं प्राणीमात्र के शरीर में भी चुम्बकीय शक्ति होती है। जब तक पृथ्वी के चुम्बक का हमारी चुम्बकीय ऊर्जा पर संतुलन और नियंत्रण रहता है तब तक हम स्वस्थ रहते हैं। जितने-जितने हम प्रकृति के समीप खुले वातावरण में रहते हैं, हमारे स्वास्थ्य में निश्चित रूप से सुधार होता है। परन्तु आजकल हम चारों तरफ चुम्बकीय शक्ति को असंतुलित करने वाले वातावरण के बीच में रहते हैं। हम खाने-पीने में प्रायः स्टील के बर्तनों का उपयोग करते हैं। आवागमन के लिये साईकिल, स्कूटर, कार, बस, रेल, हवाई जहाज या स्टीमर आदि का उपयोग करते हैं। मकानों में आर.सी. सी. का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। अधिकांश मशीनें, उपकरण, फर्नीचर आदि जिन्हें हम प्रतिदिन काम में लेते हैं, लोहे की बनी होती है, जिससे पृथ्वी के चुम्बक का प्रभाव हमारे शरीर में घटता जा रहा है। हम कुएँ का पानी उपयोग में लेने के बजाय, जो पानी कार्य में लेते हैं, वह लोहे की पाइप लाईनों में से होकर आता है। दूसरी तरफ आज पृथ्वी का अन्धाःधुन्ध दोहन किया जा रहा है, जिससे उसकी चुम्बकीय ऊर्जा कम होती जा रही है एवं उसका प्रभाव घटता जा रहा है। शरीर में चुम्बकीय ऊर्जा का असंतुलन एवं कमी अनेक रोगों का मुख्य कारण होती है। यदि इस संतुलन को दूर कर अन्य माध्यम से पुनः चुम्बकीय ऊर्जा उपलब्ध करा दी जावे तो रोग दूर हो सकते हैं। चुम्बकीय चिकित्सा का यहीं सिद्धान्त है। इसी कारण खुले वातावरण में विचरण करने वाले, गाँवों में रहने वाले, कुएँ का पानी पीने वाले, पैदल चलने वाले, अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ रहते हैं। जितना-जितना पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र से संपर्क बढ़ता है, उतनी-उतनी शरीर की सारी क्रियायें संतुलित एवं नियन्त्रित होती है, उतने-उतने हम रोग मुक्त होते जाते हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में चुम्बक के प्रयोगः-

आज विश्व भर में चुम्बकीय ऊर्जा का उपयोग सभी क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। कृषि में चुम्बकीय ऊर्जा से प्रभावित पानी का उपयोग करने से अन्य सभी परिस्थितियाँ एक होने के बावजूद उत्पादन 10 से 15 प्रतिशत बढ़ जाता है। निर्माण कार्यो में ऐसे पानी एवं पदार्थो के प्रयोग से निर्माण में काम आने वाली सीमेन्ट, चूना जैसे पदार्थो की ताकत 15 से 20 प्रतिशत बढ़ जाती है। शल्य चिकित्सा के पश्चात् चुम्बकीय ऊर्जा के उपयोग से शरीर की हीलिंग क्षमता बढ़ जाती है। अतः बहुत से देशों में शल्य चिकित्सा के पश्चात् जो रूई, पट्टियें आदि लगाई जाती हैं, वे चुम्बकीय ऊर्जा से ऊर्जित होती है, ताकि घाव जल्दी से भर सकें। चुम्बकीय ऊर्जा पर शोध, विविध क्षेत्रों में हो रही है, एवं उसके जो प्रभावशाली परिणाम आ रहे हैं, वे हमारी पूर्वग्रसित मान्यताओं को झकझोर देने वाले हैं। चुम्बक प्रभावशाली दर्दनाशक है।

वैज्ञानिकों का ऐसा निष्कर्ष है कि चुम्बक का थोड़ा या ज्यादा प्रभाव प्रायः सभी पदार्थो पर पड़ता है। चुम्बक की विशेषता है कि वह किसी भी अवरोधक को पार कर अपना प्रभाव छोड़ने की क्षमता रखता है। जिस बेटरी चार्ज करने के पश्चात् पुनः उपयोगी बन जाती है, उसी प्रकार शारीरिक चुम्बकीय प्रभाव को चुम्बकों द्वारा संतुलित एवं नियन्त्रित किया जा सकता है। चुम्बक का प्रभाव हड्डी जैसे कठोरतम भाग को पार कर सकता है, अतः हड्डी सम्बन्धी दर्द निवारण में चुम्बकीय चिकित्सा रामबाण के तुल्य सिद्ध होती है।

चुम्बकीय चिकित्सा की विशेषताः-

चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक एवं प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। यह सहज, सरल, पीड़ा रहित, पूर्ण अहिंसक, दुष्प्रभावों से रहित और सस्ती है। इसके उपचार हेतु शरीर विज्ञान की विशेष जानकारी आवश्यक नहीं है। अन्य चिकित्सा पद्धतियों द्वारा उपचार कराने के साथ भी इसको अपनाया जा सकता है। रोगी स्वयं घर बैठे-बैठे अपना उपचार कर सकता है, न ज्यादा स्थान चाहिये, न बड़े-बड़े खर्चीले अस्पताल अथवा रासायनिक प्रयोगशालायें। स्थायी चुम्बक से अनेक व्यक्तियों को अनेक वर्षो तक उपचार किया जा सकता है तथा प्रभाव कम होने पर उन चुम्बकों को बैटरी की भांति पुनः चार्ज किया जा सकता हैं। चुम्बक को गिराने, धूप या अग्नि के पास रखने से चुम्बकीय क्षमता क्षीण भी हो जाती है।

चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति में किसी भी प्रकार के टीके, दवाई, मालिश अथवा गहरे दबाव की आवश्यकता नहीं होती। केवल रोग के अनुसार चुम्बकों को पगथली, हथेली और रोगग्रस्त स्थान पर थोड़े समय के लिये स्पर्श करना पड़ता है। पथ्य का उतना परहेज नहीं रखना पड़ता, जितना अन्य चिकित्सा पद्धतियों में आवश्यक होता है। रोग मुक्त होने के पश्चात् चुम्बकों का उपयोग छोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। जैसा कि आजकल चन्द रोगों में दवाई जीवन का आवश्यक अंग बन जाती है। यह पद्धति सभी रोगों के उपचार तथा बचाव दोनों में सक्षम होती है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में तो इस पद्धति से शीघ्र लाभ पहुँचता ही है, परन्तु अनेक असाध्य रोगों में भी इससे राहत मिलती है। चुम्बक शरीर से पीड़ा दूर करने में बहुत प्रभावशाली है। घावों को शीघ्र भरता है। रक्त संचार ठीक करता है एवं हड्डियों को जोड़ने में मदद करता है।

चुम्बकीय चिकित्सा के अनुभूत प्रयोगः-

लेखक के सन् 1990 में ट्रक से दुर्घटनाग्रस्त होने पर कान के नीचे की हड्डी एवं टोढ़ी का फ्रेक्चर हो गया। अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध चिकित्सक माननीय श्री एस.के.दीवान द्वारा शल्य चिकित्सा की गई। शल्य चिकित्सा के कारण पूरे जबाड़े पर छब्बीस टांके लगे। तीन दिन पश्चात् अस्पताल से छुट्टी मिलने के पश्चात् लेखक ने बिना

किसी दवा मात्र चुम्बक द्वारा स्वयं का उपचार परिजनों, मित्रों, चिकित्सकों के न चाहते हुये भी किया। चुम्बकीय ऊर्जा के सिद्धान्तों की सत्यता एवं चमत्कारी प्रभाव पर आत्म-विश्वास होने के कारण, आधे से कम समय में स्वयं का उपचार सफलता पूर्वक करने में सफल रहा। इसी कारण लेखक की स्वावलंबी चिकित्साओं की प्रभावशीलता के प्रति आस्था दृढ़ हुई।

2 अप्रेल 1991 को लेखक के पुनः दाहिने पैर की हीप्स बोन पर स्कूटर दुर्घटना से पुनः दो इंच की दरार पड़ गई तथा उन्हें भयंकर वेदना होने लगी। चिकित्सकों ने कम से कम 21 दिन बिना हिले डुले आराम करने का परामर्श दिया। परन्तु चुम्बकों के निरन्तर प्रयोग से उनकी पीड़ा तुरन्त शान्त होने लगी। परिणाम स्वरूप लेखक का आत्म-विश्वास एवं मनोबल दृढ़ हुआ। परिणाम स्वरूप बिना किसी दर्दनाशक दवा के प्रयोग मात्र 4-5 दिनों के चुम्बकीय उपचार से अपना नियमित कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। जीवन की इन दोनों घटनाओं के कारण ही अपने इंजीनियरिंग व्यवसाय से निवृत्त हो, लेखक ने प्रभावशाली, स्वावलम्बी मौलिक अहिंसात्मक चिकित्साओं के प्रति सजगता पैदा करने का मानस बनाया।

चुम्बकीय उपचार का सिद्धान्त एवं विशेषताएँ:-

शरीर मूल रूप से एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र होता है। शरीर की प्रत्येक (सेल) विद्युत् की एक इकाई है और उसका अपना क्षेत्र होता है। विद्युत के समान सबसे अधिक शक्तिशाली चुम्बकत्व मस्तिष्क में पैदा होता है और वह भी जब व्यक्ति निद्रा में होता है। ये चुम्बकीय क्षेत्र शरीर एवं मन में परिवर्तनों के अनुसार घटते बढ़ते रहते है। चुम्बकीय चिकित्सा का मूल मंत्र यह है कि शरीर में चुम्बकीय क्षेत्रों का संतुलन बनाये रखा जाये। चुम्बकीय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक चुम्बक में प्रायः दो ध्रुव होते हैं,एक तो उत्तरी ध्रुव व दूसरे को दक्षिणी ध्रुव कहते हैं। सारे आलेख में जहाँ उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की चर्चा की गयी है, वहाँ उपचार हेतु कार्य में लिए जाने वाले चुम्बकों के ध्रुवों को ही समझना चाहिए, न कि भौगोलिक उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव। छड़ी वाले चुम्बक को धागे से बांध सीधा लटकाने पर जो किनारा भौगोलिक उत्तर की तरफ स्थिर होता है,यानि जो पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की तरफ आकर्षित होता है, चुम्बकीय चिकित्सा में उस ध्रुव को दक्षिणी ध्रुव कहते हैं। बहुत से चुम्बक उत्पादक उस पर (True South Pole) यानी सही दक्षिणी ध्रुव लिखते हैं तथा दूसरा किनारा उससे विपरीत यानी उत्तरी ध्रुव (True North Pole) होता है। दो चुम्बकों के विपरीत ध्रुवों में आकर्षण होता है तथा समान ध्रुव एक दूसरे को दूर फैंकते हैं। दक्षिणी ध्रुव का प्रभाव गर्मी कम करना, अंग सिकोड़ना, शांत करना, सक्रियता को नियन्त्रित एवं संतुलित करना आदि होता है। चुम्बकीय ऊर्जा के माँप की इकाई गौस अथवा ओस्टेड के नाम से जानी जाती है। जितना ज्यादा शक्तिशाली चुम्बक होता है, उतना ही अधिक चुम्बकीय धातुओं के प्रति उसका आकर्षण होता है। छोटे बच्चों के कम शक्तिवाले चुम्बक को लगाना चाहिए। अन्य व्यक्तियों के चेहरे तथा हृदय जैसे कोमल भाग पर प्रायः कम शक्तिवाले चुम्बक लगाने चाहिये। परन्तु असाध्य एवं भयंकर रोगों में ज्यादा शक्ति वाले चुम्बकों का प्रयोग अनुभवी चिकित्सकों के मार्ग निर्देशन में किया जा सकता है।

चुम्बकीय उपचार की मुख्य तीन विधियाँ:-

हमारे शरीर के चारों तरफ चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र होता है। जिसे आभा मण्डल भी कहते हैं। प्रायः दाहिने हाथ से हम अधिक कार्य करते हैं। अतः दाहिने भाग में दक्षिणी ध्रुव के गुण वाली ऊर्जा तथा बांये भाग में उत्तरी ध्रुव के गुण वाली ऊर्जा का प्रायः अधिक प्रभाव होता है। अतः चुम्बकीय ऊर्जा के संतुलन होने हेतु बायीं तरफ

दक्षिणी ध्रुव एवं दाहिनी तरफ चुम्बक के उत्तरी ध्रुव का स्पर्श करने से बहुत लाभ होता है। शरीर में चुम्बक का, उपचार वाले उपकरण चुम्बक से आकर्षण होने लगता है और शरीर में चुम्बकीय ऊर्जा का संतुलन होने लगता है। परन्तु यह सिद्धान्त सदैव सभी परिस्थितियों में विशेषकर रोगावस्था में लागू हो, आवश्यक नहीं? अतः स्थानीय रोगों में चुम्बकीय गुणों की आवश्यकतानुसार चुम्बकों का स्पर्श भी करना पड़ सकता है। फिर भी चुम्बकीय उपचार की निम्न तीन मुख्य विधियाँ होती है-

1. रोगग्रस्त अंग पर आवश्यकतानुसार चुम्बक का स्पर्श करने से, चुम्बकीय ऊर्जा उस क्षेत्र में संतुलित की जा सकती है। स्थायी रोगों, दर्द आदि में इससे काफी राहत मिलती है।
2. एक्युप्रेशर की रिफ्लेक्सोलॉजी के सिद्धान्तानुसार शरीर की सभी नाड़ियों के अंतिम सिरे दोनों हथेली एवं दोनों पगथली के आसपास होते हैं। इन क्षेत्रों को चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में रखने से वहाँ पर जमें विजातीय पदार्थ दूर हो जाते हैं तथा रक्त एवं प्राण ऊर्जा का शरीर में प्रवाह संतुलित होने लगता है, जिससे रोग दूर हो जाते हैं। इस विधि के अनुसार दोनों हथेली एवं दोनों पगथली के नीचे कुछ समय के लिये चुम्बक को स्पर्श कराया जाता है। दाहिनी हथेली एवं पगथली के नीचे सक्रियता को संतुलित करने वाला उत्तरी ध्रुव तथा बांयी पगथली एवं हथेली के नीचे शरीर में सक्रियता बढ़ाने वाला दक्षिणी ध्रुव लगाना चाहिये।
3. चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में किसी पदार्थ अथवा द्रव्य, तरल पदार्थो को रखने से उसमें चुम्बकीय गुण प्रकट होने लगते हैं। जैसे- जल, दूध, तेल आदि तरल पदार्थो में चुम्बकीय ऊर्जा का प्रभाव बढ़ाकर उपयोग करने से काफी लाभ पहुँचता है।

चुम्बकीय जल का उपयोगः-

चुम्बक के प्रभाव को पानी, दूध, तेल एवं अन्य द्रवों में डाला जा सकता है। शक्तिशाली चुम्बकों पर ऐसे द्रव रखने से थोड़े समय में ही उनमें चुम्बकीय गुण आने लगते हैं। जितनी देर उसको चुम्बकीय प्रभाव में रखा जाता है, चुम्बक हटाने के पश्चात् लगभग उतने लम्बे समय तक उसमें चुम्बकीय प्रभाव रहता है। प्रारम्भ के 10-15 मिनटों में ही 60 से 70 प्रतिशत चुम्बकीय प्रभाव आ जाता है। परन्तु पूर्ण प्रभावित करने के लिये द्रवों को कम से कम शक्तिशाली चुम्बकों के प्रभाव में 6 से 8 घंटें तक प्रभाव में रखना पड़ता है। चुम्बक को हटाने के पश्चात् धीरे-धीरे द्रव में चुम्बकीय प्रभाव क्षीण होता जाता है। चुम्बकीय जल बनाने के लिये पानी को स्वच्छ कांच की गिलास अथवा बोतलों में भर लकड़ी के पट्टे पर शक्तिशाली चुम्बकों के ऊपर रख दिया जाता है। 8-10 घंटें चुम्बकीय क्षेत्र में रहने से उस पानी में चुम्बकीय गुण आ जाते हैं। उत्तरी ध्रव के सम्पर्क वाला उत्तरी ध्रुव का पानी तथा दक्षिणी ध्रुव के सम्पर्क वाला दक्षिणी ध्रुव के गुणों वाला पानी बन जाता है। दोनों के संपर्क में रखने से जो पानी बनता है उसमें दोनों ध्रुवों के गुण आ जाते हैं। तांबे के बर्तन में दक्षिणी ध्रुव (S.ploe) तथा चांदी के बर्तन में उत्तरी ध्रुव (N. Pole) द्वारा ऊर्जा प्राप्त पानी अधिक प्रभावशाली एवं गुणकारी होता है।

चुम्बकीय जल की मात्रा का सेवन रोग एवं रोगी की स्थिति के अनुसार किया जाता है। स्वस्थ व्यक्ति भी यदि चुम्बकीय जल का नियमित सेवन करें तो, शरीर की रोग निरोधक क्षमता बढ़ जाती है। रोग की अवस्थानुसार चुम्बकीय जल का प्रयोग प्रतिदिन 2-3 बार किया जा सकता है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि चुम्बकीय प्रभाव से पानी दवाई बन जाता है। अतः उसको सादे पानी की तरह आवश्यकता से अधिक मात्रा में नहीं पीना चाहिये।

चुम्बक के अन्य उपचारों के साथ आवश्यकतानुसार चुम्बकीय पानी पीने से उपचार की प्रभावशीलता बढ़ जाती है। अतः चुम्बकीय उपचार से आधा घंटे पूर्व शरीर की आवश्यकतानुसार चुम्बकीय पानी अवश्य पीना चाहिये।

चुम्बकीय जल की भांति यदि दूध को भी चंद मिनट तक चुम्बकीय प्रभाव वाले क्षेत्र में रखा जाये तो, वह शक्तिवर्द्धक बन जाता है। इसी प्रकार किसी भी तेल को 45 से 60 दिन चुम्बकीय क्षेत्र में लगातार रखने से उसकी ताकत बढ़ जाती है। ऐसा तेल बालों में इस्तेमाल करने बालों संबंधी रोग जैसे गंजापन, समय से पूर्व सफेद होना ठीक होते हैं। चुम्बकीय तेल की मालिश भी साधारण तेल से ज्यादा प्रभावकारी होती है। जितने लम्बे समय तक तेल को चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में रखा जाता है, उतनी लम्बी अवधि तक उसमें चुम्बकीय गुण रहते हैं। थोड़े-थोड़े समय पश्चात् पुनः थोड़े समय के लिये चुम्बकीय क्षेत्र में ऐसा तेल रखने से उसकी शक्ति पुनः बढ़ायी जा सकती है। जोड़ों के दर्द में ऐसे तेल की मालिश अत्यधिक लाभप्रद होती है। दक्षिणी ध्रुव से प्रभावित दूध विकसित होते हुए बच्चों के लिये लाभप्रद होता है। दोनों ध्रुवों से प्रभावित दूध शक्तिवर्धक होता है। दोनों ध्रुवों से प्रभावित तेल बालों की सभी विसंगतियां दूर करता है।

सिर पर लगाने अथवा मानसिक रोगों के लिये चुम्बकीय ऊर्जा से ऊर्जित नारियल का तेल तथा जोड़ों के दर्द हेतु सूर्यमुखी, सरसों अथवा तिल्ली का चुम्बकीय तेल अधिक गुणकारी होता है।

चुम्बकीय चिकित्सा के प्रभावशाली प्रयोगः-

चुम्बकीय चिकित्सा सामान्यतया लगभग 10 से 15 मिनट एक स्थान पर करनी चाहिये, परन्तु पुराने एवं असाध्य रोगों में चिकित्सकों के परामर्श एवं मार्ग-निर्देशन के समय परिस्थितियों एवं रोगी की अवस्था के अनुरूप निश्चित की जाती है। सामान्यतया चुम्बक चिकित्सा करते समय रोग में वृद्धि नहीं होती, परन्तु प्रारम्भ में यदि पीड़ा कुछ बढ़ जावे तो, उसका कारण यह हो सकता है कि, चुम्बक पीड़ा को दूर करने के लिये, विकारों को शरीर से बाहर निकाल रहा है। पीड़ा पुनः थोड़े समय पश्चात् स्वतः कम हो जाती है और उसको घटाने के लिये किसी अलग उपचार की आवश्यकता नहीं होती। चुम्बकीय उपचार करते समय इस बात का ध्यान रहे कि, रोगी को सिर में भारीपन न लगें, चक्कर आदि न आवें। ऐसी स्थिति में तुरन्त चुम्बक हटाकर धरती पर नंगे पैर घूमना चाहिये अथवा एल्यूमिनियम या जस्ते पर खड़े रहने अथवा स्पर्श करने से शरीर में से चुम्बक चिकित्सा द्वारा किया गया अतिरिक्त चुम्बकीय प्रभाव कम हो जाता है। रक्त के अधिक दबाव वाले रोगियों को चुम्बक चिकित्सा का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। दाहिनी हथेली के नीचे और गले के दाहिने भाग में धड़कन वाले स्थान पर उत्तरी ध्रुव स्पर्श करने से उच्च रक्तचाप तुरन्त कम होने लगता है। यदि इस चुम्बक को किसी तेज गति वाले वाइब्रेटर में लगाकर उपचार किया जाये तो चन्द मिनटों में उच्च रक्त चाप साधारण हो जाता है। यदि नीचे वाला रक्तचाप भी ज्यादा हों तो उपचार दोनों हथेलियों के नीचे तथा गले में धड़कन वाले भाग पर दोनों तरफ उपचार करने से चमत्कारी लाभ होता है। इसी प्रकार निम्न रक्तचाप को बायें हथेली के नीचे व गले के बायीं तरफ चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव स्पर्श करने से रक्तचाप बढ़ने लगता है। दुर्ग (मध्यप्रदेश) के भूतपूर्व सांसद मोहन भैय्या के पुत्र का दुर्घटना में घायल होने के कारण 70 दिनों से भिलाई सरकारी अस्पताल में उपचार हो रहा था। हमारे धार्मिक पर्व पर्युषणों में स्वाध्याय करवाने हेतु 09 सितम्बर, 1997 को धमतरी जाते हुए महासती प्रीति सुधा जी म.सा. के दर्शनार्थ को मैं कुछ समय दुर्ग ठहरा हुआ था। मोहन भैय्या को मालूम होने पर उन्होंने लेखक से सम्पर्क किया तथा

अपने पुत्र के उपचार के परामर्श हेतु मुझे भिलाई के अस्पताल ले गये। जिस समय हम अस्पताल पहुँचे उस समय उनके पुत्र का रक्तचाप बहुत कम हो जाने से हालत काफी ज्यादा खराब हो रही थी। डॉक्टरों में अफरा-तफरी मची हुई थी। रोगी लोहे के पलंग पर सो रहा था तथा ऑक्सीजन और रक्त दिया जा रहा था। ऐसी विकट स्थिति में कुछ करना खतरे से खाली नहीं था। लेख के पास चुम्बकीय वाइब्रेटर था। उन्होंने आत्मविश्वास के साथ चुम्बक का सक्रिय दक्षिणी ध्रुव रोगी के बांयें हथेली के नीचे मुख्य नाड़ियों वाले स्थान पर वाइब्रेटर की गति के साथ स्पर्श किया। मेरे आश्चर्य का पार नहीं रहा जब मात्र 2-3 मिनट के उपचार से रक्तचाप साधारण के लगभग हो गया। उसके पश्चात् तो प्रायः लेखक सभी प्रशिक्षण शिविरों में एवं चिकित्सा वार्ताओं में रक्तचाप नियमित करने का उपरोक्त प्रयोग रक्तचाप के रोगियों पर करता है। जिसके 80 से 90 प्रतिशत परिणाम संतोषजनक होते हैं। इतनी जल्दी रक्तचाप साधारण करने का दूसरा उपाय मिलना कठिन होता है।

पेन्क्रियाज पर चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव लगाने से पेन्क्रियाज सक्रिय हो जाता है, और मधुमेह के रोगियों को दवा और इंजेक्शन के माध्यम से इंसुलिन की आवश्यकता कम की जा सकती है। चुम्बक अत्यधिक प्रभावशाली दर्दनाशक होता है। दर्द वाले भाग पर जब तक सिर में भारीपन न हों, उत्तरी ध्रुव को स्पर्श करते हुए Anti Clockwise घुमाने से तुरन्त लाभ मिलता है। चुम्बक का स्पर्श करने से शरीर की हीलिंग क्षमता बहुत बढ़ जाती है। फ्रेक्चर में हड्डियों को बराबर जोड़ने के पश्चात् नियमित दक्षिणी ध्रुव के सम्पर्क में रखा जायें, तो हड्डियों के जुड़ने के समय में बहुत कमी हो जाती है। शरीर के कमजोर अंग-उपांगों पर दक्षिणी ध्रुव को स्पर्श करने से उन अंगों की कार्य क्षमता बढ़ने लगती है। शरीर के कमजोर अंग-उपांगों पर दक्षिणी ध्रुव को स्पर्श करने से उन अंगों की कार्य क्षमता बढ़ने लगती है।

चुम्बक के समान ध्रुवों के बीच में एक दूसरे को दूर करने वाली ऊर्जा निर्मित होती है। अतः पुराने असाध्य रोगों से संबंधित हथेली और पगथली में एक्युप्रेशर के प्रतिवेदन बिन्दुओं के दोनों तरफ उत्तरी ध्रुव का स्पर्श करने से वहाँ उपस्थित विकार दूर होने लगते हैं। जिससे प्राण ऊर्जा संतुलित होने से रोग में राहत मिलती है।

नाभि पर उच्च शक्ति के चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव को रोगी के Clockwise (घड़ी की सीधी दिशा में) 5-10 मिनट घूमाने से कब्ज दूर हो जाती है। इसी प्रकार चुम्बक का उत्तरी ध्रुव को Anti Clockwise (घड़ी की उल्टी दिशा में) घूमाने से दस्त में तुरन्त राहत मिलती है। जिस दिशा में नाभि का स्पन्दन होता है, उसी दिशा में चुम्बक का उत्तरी ध्रुव और उसके विपरीत दिशा में दक्षिणी ध्रुव स्पर्श करने से नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में आ जाता है।

नाभि एवं उसके नीचे के चक्रों पर अधिक क्षमता वाले तथा उसके ऊपर के चक्रों पर कम क्षमता वाले चुम्बक का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु अनुभवी चुम्बकीय चिकित्साओं के निर्देशन में असाध्य रोगों में उन चक्रों पर, अधिक क्षमता वाले चुम्बकों का उपयोग भी किया जा सकता है। जलन अथवा खुजली वाले स्थान पर चुम्बक का उत्तरी ध्रुव फेरने से शीघ्र आराम मिलता है। हाथ और पैर संबंधी रोगों में हृदय की दिशा में चुम्बक का आवश्यकतानुसार मसाज करने से रक्त में आया अवरोध दूर होने से उपचार अधिक सक्रिय हो जाता है। जैसे साइटिका के रोगियों को उत्तरी ध्रुव का मसाज करना चाहिए, जबकि लकवे (पक्षाघात) के रोगी को दक्षिणी ध्रुव का मसाज करना चाहिये।

यदि शरीर के किसी भाग में गांठ हो गई हो तो, वहां पलसेटिंग चुम्बक या स्थायी चुम्बक का उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को बारी-बारी में स्पर्श द्वारा उपचार करने से गांठ का फैलाव और संकोचन होने लगता है और धीरे-धीरे वह गांठ बिखर जाती है।

मेरुदण्ड के उपचार हेतु मेरुदण्ड पर नीचे की तरफ चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव तथा ऊपर उत्तरी ध्रुव चित्र में दिर्शाये अनुसार लगाना चाहिए। दक्षिणी ध्रुव पर सीधी कमर बैठने से मूलाधार चक्र सक्रिय होता है। मल द्वार की मांसपेशियाँ सक्रिय होती है और कब्ज दूर होती है।

बिना बाह्य चुम्बक-चुम्बकीय उपचारः-

हमारे शरीर में भी अदृश्य रूप से चुम्बकीय ऊर्जा होती है। यदि हम किसी हथेलियों का आपस में घर्षण करें तो उनमें चुम्बकीय तत्त्व बढ़ जाता है। यदि घर्षण के तुरन्त बाद हम दोनों हथेलियों को समीप लायें तो उनमें आकर्षण का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। अतः दोनों हथेलियों को थोड़ी देर घर्षण के पश्चात् हथेलियों को दर्द वाले स्थान पर तब तक स्पर्श रखना चाहिए जब तक कि हथेली को उठाते समय किसी भी प्रकार के अवरोध की प्रतीति का अनुभव न हों। ऐसा करने से दर्द में राहत मिलती है।

हथेलियों के निचले उभरे (Mount) भाग को घर्षण कर आंखों पर स्पर्श करने से आंखों का भारीपन शीघ्र दूर होता है। हथेली से चेहरा रगड़ने पर सारे शरीर में रक्त संचार संतुलित होने लगता है और स्फूर्ति आ जाती है। सिर दर्द ठीक होने लगता है। चेहरे की सुन्दरता बढ़ने लगती है। दक्षिणी ध्रुव को नाक पर रगड़ने से जुकाम ठीक हो जाता है। पूर्व दिशा में सिर करके सोने से तनाव घटता है एवं हृदय संबंधी रोग एवं रक्तचाप नियंत्रण में रहता है, क्योंकि शरीर का दाहिना भाग प्रकृति के उत्तरी ध्रुव की तरफ एवं बांया भाग दक्षिणी ध्रुव की तरफ रहने से चुम्बकीय ऊर्जा के प्रति अधिक आकर्षण रहता है।

अपेक्षाएँः-

सारांश यही है कि चुम्बक अपने प्रभाव क्षेत्र में चुम्बकीय क्षेत्र बना लेता है, जिसका प्रभाव सभी चेतनाशील प्राणियों पर विशेष रूप से पड़ता है, फिर चाहे मनुष्य हो अथवा पशु या पेड़-पौधे आदि। यदि चुम्बक का उपयोग रोगों के रोकथाम एवं उपचार में किया जावे तो सभी जीवों का जीवनकाल बढ़ जाने की बहुत अधिक संभावना रहती है। जिन-जिन देशों में चुम्बकीय चिकित्सा का तीव्र गति से विकास हों रहा है, वहाँ के वैज्ञानिकों, चिकित्सकों से स्वास्थ्य मंत्रालय सम्पर्क करें, उनकी शोधों का अध्ययन करें एवं भारत में इस चिकित्सा पद्धति की क्रियान्विति की योजना बना व्यवस्थित कार्यक्रम बनायें तब ही इस पद्धति के प्रति अज्ञानतावश निराधार शंकायें देर हो सकेगी। इस सहज, सरल, निरापद, सस्ती, प्रभावशाली अहिंसक चिकित्सा पद्धति के प्रति जन साधारण का विश्वास बढ़ सकेगा एवं चुम्बकीय चिकित्सा जन-साधारण में लोकप्रिय बन सकेगी। चिकित्सा पद्धतियों में आपसी सामंजस्य, विचार-विमर्श एवं जन-जागरण से ही पीड़ित मानव समाज रोग मुक्त बन सकता है।

छब्बीसवां अध्याय

सूर्य किरण चिकित्सा

सूर्य चिकित्सा अति प्राचीनः-

सूर्य ताप, प्रकाश एवं ऊर्जा का सबसे बड़ा प्राकृतिक स्रोत है। जो प्राणिमात्र को सहज उपलब्ध है। सूर्य अपने अमूल्य स्रोतों के उपयोग के बदले अन्य बिजली उत्पादन कम्पनियों की भांति हमारे पास भुगतान हेतु बिल नहीं भिजवाता और न हमारे से कुछ भी अपेक्षाएँ रखता है अथवा अपने प्रभुत्व पर गर्व करता है। सूर्य तथा प्राणी मात्र का आपस में घनिष्टतम संबंध होता है। सूर्य के बिना पृथ्वी पर किसी भी प्राणी, पशु और वनस्पति की कल्पना नहीं की जा सकती। अर्थवेद, सूर्योपनिषद आदि उपनिषद, समस्त पुराण, महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थ सूर्य विज्ञान से भरे पड़े हैं। वैदिक काल में भारतीय सूर्य के गुणों से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने सौर पुराण की रचना कर डाली। सौर सम्प्रदाय बनाया तथा अनेकों सूर्य मन्दिरों का निर्माण किया। अनादि काल से सूर्य नमस्कार एवं सूर्य स्नान का हमारे राष्ट्र में प्रचलन है।

भगवान महावीर की कठोर साधना में सूर्य की आतापना (धूप सेवन) का विशेष उल्लेख मिलता है। जैन साधुओं को दिन के तीसरे प्रहर अर्थात् धूप में आहार एवं विहार हेतु आने जाने का शास्त्रीय विधान है, भले ही आधुनिक युग में उस निर्देश की प्रायः पालना कम होती है। परन्तु आज हम सूर्य की ऊर्जा का लाभ लेना नहीं जानते। घ्नर एवं व्यवसायिक स्थलों पर दरवाजें बदं कर, पर्दे लगाये जाते हैं और बिजली की रोशनी में कार्य करने का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। जिसके परिणाम स्वरूप वहाँ रहने एवं कार्य करने वालों की रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण होती जा रही है।

कठोर परिश्रम करने वाले गांव के किसानों एवं मजदूरों को काफी ज्यादा केलोरी खर्च करनी पड़ती है। परन्तु उनके भोजन में प्रायः बहुत कम केलोरी ही उपलब्ध होती है। बाकी सारी आवश्यक ऊर्जा उन्हें सूर्य से ही प्राप्त होती है।

यदि सौर ऊर्जा का नियमित विधिवत आवश्यकतानुसार प्रयोग कर मस्तिष्क को सौर ऊर्जा से उत्प्रेरित कर दिया जाये तो मानव जीवन की अधिकांश समस्याओं का समाधान सहज हो सकता है और हमारे जीवन में सकारात्मक सोच, आत्म-विश्वास में वृद्धि, तनाव एवं भय से मुक्ति हो जाती है। भूख एवं अन्य कामनाओं पर सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है।

प्रातःकालीन उदित सूर्य दर्शन से लाभः-

सूर्योदय के समय वायुमण्डल में अदृश्य परा बैंगनी किरणों ;न्सजतं टसवसमज त्ंलेद्ध का विशेष प्रभाव होता है, जो विटामीन डी का सर्वोत्तम स्रोत होती है। ये किरणें रक्त में लाल और श्वेत कणों की वृद्धि करती है। श्वेत कण बढ़ने से शरीर में रोग प्रतिकारात्मक शक्ति बढ़ने लगती है। परा-बैंगनी किरणें तपेदिक, हिस्टिरिया, मधुमेह और महिलाओं के मासिक धर्म संबंधी रोगों में बहुत लाभकारी होती है। ये शरीर से विकारनाशक शक्ति पैदा करती है तथा रक्त में कैलशियम की मात्रा भी बढ़ाती है, जिससे शरीर में हड्डियाँ मजबूत होती हैं। आंतों से अम्ल-क्षार का संतुलन एवं शरीर में फास्फोरस-कैल्शियम का संतुलन बना रहता है।

जिन स्थानों के वायुमण्डल में धूल, धूँआ, प्रदूषण, पर्यावरण, अर्द्रता, कुहरा अथवा बादलों के छाये रहने से सूर्य की किरणें पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाती, वहाँ के निवासी प्रायः अधिक रोगी होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण औद्योगिक शहर होते है। इसके विपरीत ग्रामीण खुले स्थानों पर लोग अधिक स्वस्थ रहते हैं।

सूर्य किरणों का स्वास्थ्यवर्धक प्रभावः- सूर्य की गर्मी से वायु संचार होकर प्राकृतिक शुद्धि होती है। सूर्य किरणें गंदगी और दुर्गन्धता दूर करती है। जहाँ सूर्य प्रकाश का अभाव होता है, वहीं डॉक्टर की आवश्यकता होती है। वास्तव में सूर्य के अभाव में स्वस्थ जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। रात्रि में सभी रोग अपेक्षाकृत अधिक परेशान करते हैं। अतः सूर्य का प्रकाश ही जीवन है और अन्धकार ही मृत्यु। प्रातःकालीन सूर्योदय की किरणें विशेष स्वास्थ्य वर्धक होती हैं। जिस घर में उन किरणों का बाहुल्य होता है, वहाँ संक्रामक रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती हैं। प्रातःकालीन सूर्योदय के सामने चन्द मिनटों तक देखने से नेत्र ज्योति बढ़ती है, परन्तु सूर्योदय के 40-50 मिनट पश्चात सूर्य को खुले नेत्रों से देखना हानिप्रद हो सकता है। उदित होते हुये सूर्य दर्शन के सभी आवश्यक तत्त्वों का पोषण होता है। हृदय रोग, मस्तिष्क विकार, आंखों का विकार आदि अनेक व्याधियां दूर होती है।

प्रातःकालीन हल्की धूप में सूर्य की तरफ मुखकर तथा आंखें बन्द कर शरीर को दाएं-बाएं, आगे-पिछे धीरे-धीरे चारों तरफ घुमाने , झूमने से गर्दन के रोग दूर होते है। मस्तिष्क में रक्त का संचार सुव्यवस्थित होता है तथा तनाव दूर होता है। सूर्योदय के सामने वज्रासन में बैठ सिंहासन मुद्रा में जीभ को जितना निकाल सकें, बाहर निकाल कर, आखें पूरी खोलकर, नाक से श्वास लेते हुए सूर्य को निहारते हुए, यथा शक्ति जोर से दहाड़ने से गले, नाक, कान, मुंह छाती, फेंफड़ों आदि के रोग दूर होते हैं तथा वायु नली, स्वर नली और भोजन नली सशक्त होती है।

सूर्य किरणें जीवनी शक्ति बढ़ाती है, स्नायु दुर्बलता कम करती है, पाचन और मल निष्कासन की क्रियाओं को बल देती है, पेट की जठराग्नि प्रदीप्त करती है, रक्त परिभ्रमण संतुलित रखती है, हड्डियों को मजबूत बनाती है। रक्त में कैल्शियम फास्फोरस और लोहे की मात्रा बढ़ाती है, अन्तःश्रावी ग्रन्थियों के श्राव बनाने में सहयोग करती है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर सूर्य किरण चिकित्सा करने से रोगों से मुक्ति मिलती है। सूर्य के प्रकाश की अपनी अलग विशेषतायें होती है। सूर्य के प्रकाश में हीरे, जवाहरात आदि का जो परिक्षण किया जा सकता है, वह विद्युत के प्रकाश में नहीं किया जा सकता। सूर्य की किरणों में सर्वरोग नाशक शक्ति होती है। सौर ऊर्जा से आज बिजली का उत्पादन कर विभिन्न उपकरणों का संचालन एवं नियंत्रण सम्भव हो सका है। सूर्य की रोशनी प्राणीमात्र एवं पेड़-पौधों के विकास हेतु आवश्यक है। इससे प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है, जो कार्य क्षमता बढ़ाने में सहायक होती है। इससे पाचन शक्ति सुधरती है। सूर्य की रोशनी में अनेक सूक्ष्म जीवों की उत्पति नहीं हो सकती, जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होते है। इसी कारण जैन धर्म में रात्रि भोजन का निषेध किया गया है। सात रंगों से बनी सूर्य की किरणें मानव के लिये आरोग्यप्रद होती है तथा रंग चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार सूर्य की किरणों से बहुत से असाध्य रोग पूर्णतया ठीक हो सकते हैं।

सूर्य किरणों में विभिन्न रंगः- सूर्य की किरणों में सात दृश्यमान एवं दो अदृश्यमान रंगों की किरणें होती है। दृश्यमान सात रंग निश्चित क्रम से होते है, जिन्हें इन्द्र धनुष के समय अथवा विशेष प्रयोंगों द्वारा आसानी से देखा

जा सकता है। विभिन्न रंगों का मानव के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक रंग के अपने विशेष स्वास्थ्यवर्धक गुण होते हैं। सूर्य की किरणों से होने वाले सात रंग बैंगनी (Violet), नीला (Indigo), आसमानी (Blue), हरा (Green), पीला (Yellow), नारंगी (Orange), लाल (Red) के क्रम से होते हैं।

पहले तीन रंग शरीर में गर्मी को नियंत्रित करने तथा कष्ट में शांति पहुँचाने में सहायक होते हैं। ये रंग शरीर के अवयवों में रसायनिक परिवर्तन करने में अहं भूमिका निभाते हैं। अतः सूर्य की इन तीन रंग की किरणों तथा पराबैंगनी किरणों को रसायनिक किरणें भी कहते हैं। मध्य वाला हरा रंग गर्मी एवं सर्दी के प्रभाव को संतुलित रखने में सक्षम होता है। अन्तिम तीन रंग शरीर में गर्मी पहुँचाने वाले होते है। वर्तमान में सूर्य किरण चिकित्सा में सात रंगों के स्थान पर प्रत्येक समूह में से एक रंग का ही उपयोग करने का अधिक प्रचलन हैं। जिससे चिकित्सा पद्धति अधिक सरल बन गयी हैं। प्रथम तीन रंगों के समूह में से प्रायः नीला रंग, अन्तिम रंगों के समूह में से नारंगी एवं बीच के हरे रंग का अधिकतर उपयोग किया जाता है। परन्तु विशेष एवं लम्बे रोगों की स्थिति में बैंगनी एवं लाल रंग का भी उपयोग किया जा सकता है। रोगी के लिये कौनसी किरणों का उपचार किया जाये, यह रोग की स्थिति पर निर्भर करता हैं।

आयुर्वेद के त्रि-दोष सिद्धान्त से समानताः-

आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष सिद्धान्त के अनुसार कफ, वात एवं पित्त रूपी तीन दोषों का असन्तुलन ही रोग उत्पत्ति का प्रमुख कारण होता है। सूर्य किरण चिकित्सा में कफ प्रधान अथवा सर्दी के कारण होने वाले रोगों में नारंगी या लाल रंग का, वात प्रधान या शरीर में गन्दगी बढ़ जाने एवं उसका सही विसर्जन न होने से उत्पन्न होने वाले रोगों में हरे रंग का तथा पित्त प्रदान अथवा गर्मी की अधिकता से होने वाले रोगों में नीले रंग के विधिवत् प्रयोग द्वारा कफ, वात एवं पित्त को संतुलित कर रोगी को रोगमुक्त किया जा सकता है। सूर्य किरण चिकित्सा शारीरिक रोगों के साथ-साथ हमारे स्वभाव तथा मानसिक स्थिति बदलने में भी सहायक होती है, जिससे क्रोधी व्यक्ति शान्त एवं सुस्त व्यक्ति, फुर्तीला बन सकता है। निम्न तालिका शरीर में त्रिदोष की स्थिति प्रगट होने वाले लक्षण को दर्शाती है।

	पित्त प्रकोप	**कफ प्रकोप**	**वात प्रकोप**
जीभ का रंग	लाल	सफेद	मैली
मुंह की दशा	कण्ठ सूखना	मुंह या नाक से अधिक बलगम आना	मुंह सुखना
आवाज	स्पष्ट	भारी	कर्कश
मुँह का स्वाद	कड़वा	फीका	खराब
प्यास	ज्यादा	कम	अधिक
भूख	अधिक	कम	कभी कम, कभी ज्यादा
पाखाना	सख्त	नरम	कब्ज
पेशाब का रंग	गहरा पीला	सफेद	गंदला
पेशाब की मात्रा	कम	अधिक	कम
आंख का रंग	लाली वाला	सफेद	गंदला

पसीना	बहुत ज्यादा	कम	ज्यादा
जिस्म	दुबला	मोटा	साधारण
त्वचा	गर्म	ठण्डी	खुष्क एवं शुष्क

तीन रंगों की विशेषताएँ

नारंगी रंग की विशेषताएँः-

नारंगी रंग शरीर के कमजोर तथा निष्क्रिय अंगों को गतिशील बनाता है। पाचन शक्ति सुधारता है। भूख न लगने वाले रोगों को दूर करता हैं। इस रंग का प्रभाव गर्म, उत्तेजक (Stimulating), शक्तिवर्धक एवं विस्तारक (Ecpending) होने से सर्दी से होने वाले रोगों में विशेष लाभदायक सिद्ध होता है। नारंगी रंग का प्रभाव पीले रंग की अपेक्षा अधिक वह लाल रंग की अपेक्षा गर्म प्रकृति का होता है। आमाशय, तिल्ली, लीवर, आंतों, फेंफड़ों व हाथ पैर के रोगों में इसका अधिक अनुकूल प्रभाव पड़ता है। यह आयोडिन की कमी को मिटाता है। रक्त में लाल कण बढ़ाता है। मांसपेशियां स्वस्थ बनाता है और झुरियाँ मिटाने में सहायक होता है। रक्त संचालन एवं स्नायु संस्थान को सक्रिय बनाता है। गतिहीन अंगों की जड़ता दूर कर उसमें गति लाने की क्षमता रखता है। भूख न लगना, गैस, जोड़ों का दर्द, खांसी, दमा, बच्चों की बिस्तर में पेशाब करने की आदत, निम्न रक्त चाप, स्नायु दुर्बलता आदि रोगों को मिटाने की अद्‌भुत क्षमता रखता हैं। सुस्ती आने, जम्भाइयाँ लेने, अधिक नींद आने, नाखून नीले पड़ जाने आदि रोगों में नारंगी रंग काफी लाभप्रद होता है।

नारंगी रंग के सेवन से पेट की गैस दूर होती है। अम्लता वाले रोगियों को विशेष लाभ होता है। खून में लाल कणों की वृद्धि होती है। वृद्धों के लिये ताकत की दवा के समान होता है। स्त्रियों की माहवारी के समय दर्द होने अथवा कम आने पर नारंगी पानी पीने तथा लाल तेल की मालिश नलों और कमर पर करने से लाभ होता है। नारंगी पानी पीने से मलेरिया से बचाव होता है। बारी-बारी के अन्तराल से बुखार आने पर जिस दिन बुखार नहीं आया हुआ हो मुँह फीका हो, उस दिन नारंगी रंग का पानी देना चाहिए, परन्तु बुखार वाले दिन नीला पानी देना अधिक प्रभावकारी होता है।

नारंगी रंग मानसिक प्रभाव की दृष्टि से साहस, उत्साह एवं इच्छाशक्ति बढ़ाने में सहायक होता है। नारंगी रंग की दवा का प्रयोग सदैव भोजन या नाश्ते के 15 मिनट बाद और 30 मिनट के भीतर करना चाहिये।

हरे रंग की विशेषताएँः-

हरा रंग गर्म और ठण्डे रंग के बीच का रंग होने से गर्मी तथा सर्दी के प्रभावों को संतुलित करता है। यह शरीर की गन्दगी बाहर निकालने, शरीर का ताप सन्तुलित रखने, कब्जी मिटाने तथा खून को साफ करने में विशेष सहायक होता है। मानसिक दृष्टि से हरा रंग राग एवं द्वेष को घटाकर समभाव लाने में सहायक तथा मन को प्रसन्न रखने वाला होता है। शरीर के विषैले तत्त्वों को शरीर से बाहर निकाल फैंकने की अद्‌भुत क्षमता के कारण छूत की बीमारियों के निवारण में यह बहुत ही उपयोगी होता है।

अल्सर, टाईफाइड, चेचक, सूखी खाँसी, खुले घाव, दाद, रक्तचाप, मिर्गी, हिस्टीरिया, मुंह में छाले तथा शरीर के किसी भी भाग में पीला पीब पड़ने की अवस्था में उनको नष्ट करने में काफी लाभप्रद होता है। आँतों,

गुर्दो, मूत्राशय, त्वचा, कमर व पीठ के नीचे के अंगों से संबंधित रोगों में हरा रंग अधिक प्रभावशाली होता है। शरीर में इस रंग की कमी से विभिन्न चर्म रोग तथा रक्त दोषों की सम्भावनायें बढ़ जाती है। नेत्र रोगों में भी यह विशेष लाभकारी होता है।

मोतिया बिम्ब पकने से पूर्व नियमित हरे पानी से आंखें धोने से मोतिया बिम्ब (Catract) होने की संभावनाएँ कम हो जाती है। चर्म रोग में हरा पानी पीने तथा नीला तेल रोग ग्रस्त त्वचा पर अथवा दाद पर लगाने से रोग जड़ मूल से नष्ट हो जाता है।

हरे रंग की दवा का प्रयोग सदैव प्रातःकाल खाली पेट या आधा घण्टे से एक घण्टे भोजन के पहले करना चाहिये। हरड, आंवला, नीम, हरी सब्जियों में हरी किरणों के तत्त्व अधिक होते हैं।

नीले रंग की विशेषताः-

नीला रंग ठण्डा, शान्तिदायक, कीटाणुनाशक (Antiseptic) एवं सिकुड़न वाले स्वभाव का होने से गर्मी के प्रकोप से उत्पन्न रोगों में विशेष प्रभावकारी होता है। इसके उपयोग से मानसिक तनाव कम होता है तथा साधक आध्यात्मिक विकास एवं ध्यान में सरलतापूर्वक विकास कर सकता है। कीटाणुनाशक होने के कारण मवाद पड़ने की अवस्थाओं में काफी लाभप्रद होता है। शरीर की गर्मी, हाथ पैरों की जलन, प्यास की अधिकता, तेज बुखार, हैजा, अजीर्ण, दस्त, अनिद्रा, मिर्गी, पागलपन, हिस्टीरिया, उच्च रक्तचाप, मूत्रावरोध, मूत्र में जलन, शरीर में किसी प्रकार का जहर फैल जाना, जैसे रोगों में नीले रंग की दवा काफी लाभप्रद होती है। नीले रंग की दवा शरीर के अन्दर अथवा बाहर से बहने वाले खून को बन्द करती है। गर्मी से गला पड़ने पर नीले पानी के गरारे से लाभ होता है। गले, गर्दन, मुँह, मस्तिष्क एवं सिर से संबंधित रोगों पर नीले रंग का अधिक अनुकूल प्रभाव पड़ता है। नीले रंग का प्रयोग सदैव भोजन या नाश्ते के आधा घण्टे पूर्व करना चाहिए।

लकवा, सन्धिप्रवाह, छोटे जोड़ों का दर्द (गंठिया), विभिन्न वात, कम्पनजन्य रोग व ठण्ड से उत्पन्न विकार और अधिक कब्ज की शिकायत में नीले रंग का प्रयोग नहीं करना चाहिए। नीले रंग के दुरुपयोग में होने वाले कष्ट और विकार नारंगी या लाल रंग के उचित प्रयोग से दूर हो जाते हैं।

दवा निर्माण की विधिः-

सूर्य किरण चिकित्सा में पानी की दवा, चीनी अथवा मिश्री की दवा, सूर्यतप्त तेल, ग्लिसरीन की दवा, सूर्यतप्त हवा एवं सूर्य की किरणों का सीधा उपयोग करने से रोगों का उपचार किया जा सकता है।

पानी की दवा तैयार करने की विधिः-

रोग के अनुसार जिस रंग का पानी तैयार करना हो, उस रंग की बोतल लेकर उसको पूर्णतया साफ कर लें। यदि कोई कागज चिपके हुयें हों तो उन्हें हटा दे, अगर विशेष रंग की कांच की बोतल न मिले तो सफेद रंग की बोतल पर इच्छित रंग का सेलोफेन कागज दोहरा कर लपेट लें। बोतल के तीन चौथाई शुद्ध पानी से भर लें। बोलत का मुँह बन्द कर किसी लकड़ी के पट्टे पर रख, उसे धूप दिखाने से सूर्य की किरणों का प्रभाव पानी में आने लगता है। 6-8 घण्टे धूप में रखने से साधारण पानी दवा का रूप ग्रहण कर लेता है। सूर्यतप्त पानी को धूप जाने के पश्चात् सुरक्षित स्थान पर रख स्वयं ठण्डा होने देना चाहिए। एक बार पानी दवा बनने के बाद तीन दिन तक उसमें रोग निवारक शक्ति रहती है, परन्तु जो बोतल रोजाना धूप में रखी जाती है, उसका पानी अधिक शक्तिशाली बन जाता है।

जल बनाने में सावधानी:-

सूर्यास्त होते होते बोतल को धूप से हटा देना चाहिए। चन्द्रमा, तारों या दीपक आदि अन्य प्रकार का प्रकाश (सूर्य के अलावा) बोतल पर पड़ जाने से वह कभी-कभी निरूपयोगी ही नहीं, अपितु हानिकारक भी हो सकता है। अतः उसे सफेद कपड़े से ढ़क कर रखना चाहिए। अलग-अलग रंग की बोतले धूप में पास-पास में नहीं रखनी चाहिए।

सूर्य तप्त पानी लेने की विधि:-

जब तक पानी सूर्य की गर्मी से तप्त हों उसका उपयोग नहीं करना चाहिए, ठण्डा होने के बाद ही करना चाहिए। पानी को ठण्डा करने के लिए फ्रीज आदि अप्राकृतिक उपकरणों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

साधारणतया प्रति वयस्क व्यक्ति के लिये सूर्यतप्त पानी की मात्रा एक औंस, पुराने रोगों में प्रायः दिन में तीन खुराके छः छः घण्टे के अन्तर में देना काफी होता है। रोग की तीव्र अवस्था में खुराक को बढ़ाया भी जा सकता है एवं अन्तराल (बीच की अवधि) भी कम की जा सकती है। अलग-अलग रोगों की स्थिति में दो रंगों का पानी बारी-बारी या मिश्रण के रूप में दिया जा सकता है। कमजोर व्यक्तियों के लिए सफेद कांच के बर्तन में तैयार सूर्यतप्त पानी शक्तिदायक औषधि का कार्य करता है।

चीनी या मिश्री की दवा तैयार करने की विधि:-

कई बार वर्षा, बादल, धुन्ध आदि के कारण रंगीन बोतलों में सूर्यतप्त पानी तैयार करना कठिन होता है, तब पानी के स्थान पर सूर्य किरण सिंचित चीनी या मिश्री की दवा काम में लाई जा सकती है। चीनी की दवा बनाने के लिये जिस रंग की दवा बनानी हों, उस रंग की एक बिल्कुल सूखी और अन्दर बाहर से साफ बोतल लें। उसको तीन चौथाई दानेदार चीनी या मिश्री से भर लें। बोतल का मुख बन्द कर प्रतिदिन छः से आठ घण्टे धूप में रखे और दिन में एक दो बोतल को अच्छी तरह हिला लें, ताकि चीनी के समस्त कण पर सूर्य किरणों का एक साथ प्रभाव पड़ सकें। इस प्रकार 40 से 60 दिन तक चीनी को धूप दिखाने से चीनी में रोगनिवारक गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार तैयार की गई चीनी तीन माह तक स्थायी रूप से प्रभावशाली बन सकती है। तीन माह पश्चात् पुनः तीन दिन धूप में रख देनेसे उसमें पुनः रोगनाशक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। वैसे बीच में समय पर धूप दिखाने से चीनी की रोग निवारक क्षमता बढ़ जाती है।

चीनी की एक खुराक प्रायः एक ग्राम होती है। बच्चों को उनकी आयु के अनुसार कम खुराक देनी चाहिए।

सूर्यतप्त तेल तैयार करने की विधि:-

जिस रंग का तैल तैयार करना हों, उस रंग की बोतल में तीन चौथाई भाग तेल से भर कर चीनी दवा की भांति 40 से 60 दिन तक धूप में रखने से वह तेल एक रोगनाशक और दर्दनाशक दवा बन जाता है। इस प्रकार तैयार किया गया सूर्यतप्त तेल अगले तीन महीनों तक दवा के रूप में काम लिया जा सकता है। तीन माह पश्चात् पुनः तीन दिन धूप दिखाकर उसमें पुनः चार्ज कर रोगनाशक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

सूर्यतप्त तेल भी तीनों रंगों में बनाये जा सकते हैं। परन्तु नीले रंग की बोतल में तैयार किया गया नारियल का तेल अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होता है। नारंगी रंग की बोतल में तिल का तेल बनाना अधिक अच्छा रहता है, परन्तु अलसी, सरसों तथा जैतून का तेल भी बनाया जा सकता है। हरे रंग की बोतल में सरसों के तेल की दवा बनाना ज्यादा उपयुक्त रहता है, परन्तु नारियल या अलसी का तेल भी बनाया जा सकता है।

नीले तेल के विशेष प्रयोग/ लाभः-

1. नीले तेल की सिर में मालिश करने से सिर दर्द, अनिद्रा, बुखार दूर होता है। दिमागी कार्य की क्षमता बढ़ती है। स्नायु तंत्र शांत होता है।
2. मच्छर अथवा विषैले जानवरों के काटने पर अथवा जलने पर नीला तेल लगाने से तुरन्त आराम मिलता है।
3. नीला तेल गर्म करके कान में डालने से कान का दर्द शीघ्र ठीक होता है।
4. बवासीर के मसों पर नीला तेल बहुत गुणकारी होता है।
5. बच्चों के दांत निकलते समय नीले तेल की सिर से मालिश करने से दांत आराम से निकल जाते हैं।

सूर्य की किरणों को सीधा डालने की विधिः-

भिन्न-भिन्न रंगों की कांच या रंगीन चमकीले कागज अथवा अन्य किसी विधि द्वारा सूर्य की किरणों को प्रवेश करा सीधे शरीर के बाहरी अंगों पर प्रकाश डालने से काफी रोगों में राहत मिलती है। 15 से 30 मिनट तक सहनशक्ति के अनुसार रोगग्रस्त अंगों पर सीधी रंगीन सूर्य किरणें डालने से शीघ्र प्रभाव पड़ता है। पुरानी तथा कठोर सूजन में लाल या नारंगी रंग का प्रभाव व गर्म तथा लालीयुक्त सूजन की अवस्था में नीले प्रकाश से आराम मिलता है। आँखों की बीमारी में हरे रंग की किरणें डालना लाभप्रद होता है। चीनी पंच तत्व के सिद्धान्तानुसार हरे रंग की किरणों से यकृत एवं पित्ताशय, लाल रंग की किरणों से हृदय और छोटी आंत, पीले रंग की किरणों से तिल्ली, पेन्क्रियाज और आमाशय, सफेद रंग की किरणों से फेंफड़े और बड़ी आंत तथा नीले रंग की किरणों से फेफड़े और बड़ी आंत तथा नीले रंग की किरणों से गुर्दे एवं मूत्राशय सशक्त होते है।

सफेद रंग की बोतल में तैयार किया गया पानीः-

रंगीन बोतलों के स्थान पर सफेद रंग की बोतल में पानी बनाने से भी वह शक्तिवर्धक दवा का काम देता है। पीलिया या महामारी के दिनों में सफेद बोतल का धूप में रखा हुआ पानी पीने से महामारी से बचा जा सकता है। यह पानी बच्चों को ताकत देता है एवं दांत निकलते समय इस पानी को देने से दांत सरलता से निकल जाते है। हड्डी टूटने की स्थिति में सफेद पानी पीने से हड्डी के जुड़ने में सहायता मिलती है। कमजोर व्यक्ति को हरे पानी के सफेद पानी का चौथाई भाग मिलाकर देना लाभदायक सिद्ध होता हैं। सफेद बोतल के पानी में सूर्य की सातों रंग की किरणें एक साथ आकर्षित होने से इसके सेवन से मानव शरीर की सातों धातुयें पुष्ट होती है। सूर्य तप्त पानी पीने से कमजोरी दूर होती है।

सारांश यह है कि सूर्य किरण चिकित्सा पद्धति पूर्णतः वैज्ञानिक, अहिंसक, सहज, सरल एवं सभी दुष्प्रभावों से रहित है तथा सभी प्रकार के रोगों के निवारण में इसका उपयोग किया जा सकता है। इस पद्धति द्वारा उपचार अन्य उपचार के साथ में भी किया जा सकता है। अनेक संक्रामक एवं दीर्घकालीन रोगों से पूर्ण छुटकारा दिलानें में सूर्य किरण चिकित्सा काफी प्रभावशाली सिद्ध होती है।

सताईसवां अध्याय

मानव कल्याण में सौर ऊर्जा का योगदान

मानव जीवन की मूलभूत समस्याएँ:-

तनाव, निराशा, नकारात्मक सोच, भय आदि मानसिक विकृतियाँ मानव जीवन के विकास में अवरोधक बन जाती है। शारीरिक अस्वस्थता के कारण भी जीवन की प्रसन्नता समाप्त होने लगती है। मानव जीवन ही ऐसी योनि है, जिसमें मानव नर से नारायण बन आत्मा को परमात्मा बना सकता है। परन्तु हमारी अध्यात्म के प्रति अज्ञानता के कारण हम इस अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ में व्यतीत कर देते हैं। यदि किसी विधि द्वारा मानव में सकारात्मक सोच विकसित कर दिया जाए तो तनाव, निराशा, भय आदि स्वतः समाप्त हो जायेंगे। जहाँ जीवन है, वहाँ समस्याएँ तो निश्चित आएगीं, परन्तु हमारा सम्यक् दृष्टिकोण हो जाने से उनसे हम व्यर्थ परेशान नहीं हो सकेंगे। मानसिक शांति होने से शारीरिक रोगों की संभावनाएँ भी क्षीण हो जायेंगी और मानव को आत्मोत्थान हेतु सम्यक् पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी मिलने लगेगी। सौर ऊर्जा के माध्यम से जीवन में ऐसा परिवर्तन सरलता से लाया जा सकता है।

अनन्त शक्तियों का स्रोत मानव मस्तिष्कः-

हमारे मस्तिष्क में अनन्त शक्तियाँ सुषुप्त अवस्था में विद्यमान होती है। आधुनिक विज्ञान भी उस बात को स्वीकार करता है कि अधिकांश व्यक्ति अपने मस्तिष्क की 95 से 99 प्रतिशत क्षमताओं का जीवन पर्यन्त उपयोग किये बिना ही इस दुनिया से चले जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है ? हम उन सुषुप्त शक्तियों को जागृत क्यों नहीं कर पाते ? यदि मस्तिष्क की सुषुप्त क्षमताओं का पूर्ण उपयोग करना हम सीख लें तो हमारे जीवन की अधिकांश समस्याओं का समाधान सहज संभव हो सकता है।

हमारे तीर्थंकरों, अध्यात्म योगियों, ऋषि मुनियों ने उन सुसुप्त ऊर्जाओं को जागृत करने की अनेक साधना पद्धतियाँ विकसित की। आज भी विश्व में आत्म-विकास की वे पद्धतियाँ प्राणायाम, ध्यान, यौगिक क्रियाओं, सम्यक् तपाराधना, इन्द्रिय संयम एवं मनोनिग्रह द्वारा समत्व की साधना इत्यादि के रूप में प्रचलित हैं।

आधुनिक विज्ञान मानव मस्तिष्क की तुलना श्रेष्ठतम कम्प्युटर से करता है। जिस प्रकार कम्प्युटर को संचालित करने के लिए बिजली की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार मानव मस्तिष्क रूपी सुपर कम्प्युटर को संचालित करने के लिए आवश्यक ऊर्जा उपलब्ध हो जाए तो मस्तिष्क की क्षमताओं का अधिकाधिक उपयोग करना संभव हो सकता है। प्रकृति ने हमारे लिए सूर्य, जल, हवा, भोजन आदि ऊर्जा के अनेक विकल्प उपलबध कराये हैं, जिसमें सौर ऊर्जा ही एक ऐसा माध्यम है, जिसकी किरणों के विधिवत् नियमित सेवन से मस्तिष्क रूपी सुपर कम्प्यूटर को अधिक व्यवस्थित ढंग से संचालित किया जा सकता है।

मस्तिष्क को सोलेरियम बनाने में आँखों का योगदानः-

आधुनिक चिकित्सकों की ऐसी मान्यता है कि उदित होते हुए सूर्य की किरणों में नेत्रों के लिए स्वास्थ्यवर्धक गुण होते हैं। आँख ही वह माध्यम है, जिससे मस्तिष्क तक सौर ऊर्जा का प्रभाव सरलता से पहुँचाया जा सकता है। आँखें शरीर का बहुत ही नाजुक भाग होती हैं। अतः सूर्य दर्शन करते समय इस बात का विवेक और सावधानी आवश्यक है कि आँखों को किसी प्रकार की क्षति भी न हो और मस्तिष्क तक आवश्यक सौर ऊर्जा भी पहुँचायी जा सके। इसके लिए धीरे-धीरे प्रातःकालीन सूर्य दर्शन की अवधि बढ़ाकर आँखों को सूर्य दर्शन हेतु

अभ्यस्त किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से कम अथवा ज्यादा सौर ऊर्जा का उपयोग करता ही है। उसके बिना हमारा जीवन चल ही नहीं सकता, परन्तु सौर ऊर्जा के विधिवत् नियमित प्रयोग से ही मस्तिष्क की सुषुप्त शक्तियों को जागृत किया जा सकता है। शरीर की आवश्यकतानुसार इनका सेवन करने से हमें ऐसे चमत्कारी परिणाम मिल सकते हैं, जो अनावश्यक अनियमित बिना विधि प्रायः प्राप्त नहीं होते। यदि मनुष्य अपने शरीर को सोलेरियम (सौर ऊर्जा को संग्रह करने वाला सोलन कूकर) बना ले तो मस्तिष्क की सुषुप्त शक्तियों को सरलता से जागृत किया जा सकता हैं।

मस्तिष्क को सोलेरियम बनाने हेतु श्री हीरा रतन माणक के प्रयोगः-

शांत स्वभावी, निस्पृही, मानव कल्याण हेतु सतत प्रयत्नशील मान-सम्मान से विरक्त कालीकट (केरल) के मेकेनिकल इंजीनियर श्री हीरा रत्न माणक ने जब भगवान महावीर का जीवन चरित्र पढ़ा तो सौर ऊर्जा शोध के प्रति उनकी जिज्ञासाएँ प्रबल होने लगी। भगवान महावीर आतापना (सूर्य की रोशनी में साधना करना) क्यों लेते थे? उनके साढ़े बारह साल के कठोर साधनाकाल में उनको कमजोरी, थकावट एवं प्रमाद अनुभव क्यों नहीं हुआ? उन्हें भूख क्यों नहीं लगती थी? उन्होंने अपने साधकों को तीसरे प्रहर में ही अर्थात् धूप में ही भिक्षा लाने एवं विहार का क्यों निर्देश दिया? ऐसे अनेकों प्रश्नों पर उनका गहरा चिन्तन चलने लगा। आज भी विश्व में ऐसी अनेक विशिष्ट विभूतियाँ हैं जो बिना भोजन अथवा सूक्ष्म आहार से अपने जीवन का निर्वाह कर रही हैं। हम उनका कोई वैज्ञानिक आधार ढूंढने के बजाय, मात्र देवी शक्ति मान आत्मसंतोष कर लेते हैं। जनसाधारण रोम आहार से उन विशिष्ट साधकों की भांति जीवन निर्वाह क्यों नहीं कर सकते?

श्री माणक ने श्रमण महावीर के जीवन से प्रेरणा लेकर सौर ऊर्जा पर विविध प्रयोग प्रारम्भ किए। प्रतिदिन उन्होंने धूप में नंगें पांव चलना प्रारम्भ किया। उन्होंने जब अभ्यास करते-करते वे प्रतिदिन 10 से 12 किलोमीटर तक चलने लगे तो उनके भोजन की आवश्यकता आधी रह गयी। परन्तु इतना कम भोजन करने के बावजूद उन्हें किसी प्रकार की कमजोरी, थकावट, आलस्य का अनुभव नहीं होने लगा और उनका सोच सकारात्मक होने लगा। आत्मविश्वास बढ़ने लगा।

गायंत्री मंत्र में सूर्य नमस्कार का उन्होंने चिंतन किया। उन्होंने अनुभव किया कि मंत्र तो मात्र एक विधि है और उसके जाप का वास्तविक मतलब होता है। उस विधि को क्रियान्वित करना। मात्र उच्चारण करने से उसका लाभ नहीं मिलता। हम नमस्कार किसको करते है? नमस्कार का मतलब होता है-स्वागत करना। सूर्य नमस्कार का मतलब सूर्य की रश्मियों का स्वागत करना अर्थात् उनको शरीर में ग्रहण करना। सूर्य दर्शन के प्रयोग से उन्होंने जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तनों का अनुभव किया। प्रारम्भ में उन्होंने चन्द दिनों तक आहार का त्याग किया। धीरे-धीरे उसका क्रम बढ़ाने लगे।

18 जून 1995 से 16 जनवरी 1996 तक उन्होंने मात्र गर्म पानी और सौर ऊर्जा के सेवन से अपने सारे कार्यक्रम नियमित रूप से करते हुए उपवास किए। उपवास के बावजूद उनका स्वास्थ्य संतोषप्रद रहा। अपने पारिवारिकजनों एवं गुरु के आग्रह पर आपने न चाहते हुए भी उपवास तो समाप्त कर दिए, परन्तु एक संकल्प लिया कि भविष्य में जीवन पर्यन्त मात्र कुछ तरल पदार्थों का ही सेवन करेंगे। उनका सौर ऊर्जा के प्रति आकर्षण और आत्म-विश्वास बढ़ने लगा। अपने दृष्टिकोण को आधुनिक विज्ञान से पुष्ट करने हेतु विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलनों में आपनें सौर ऊर्जा पर अपना दृष्टिकोण रखा तथा आधुनिक चिकित्सकों को

उनकी पूर्ण देखरेख में सौर ऊर्जा पर लम्बी अवधि तक उपवास रखने का प्रस्ताव रखा। अहमदाबाद के विशेषज्ञ डॉक्टरों ने उनके आग्रह को स्वीकारा तथा अहमदाबाद में सौर ऊर्जा और गर्म पानी का सेवन करते रहकर उपवास करने का निमन्त्रण दिया। परिणाम स्वरूप श्री हीरा माणक ने एक जनवरी 2000 से 15 फरवरी 2001 तक चौबीसों घंटे डॉक्टरों की पूर्ण देखरेख में 411 दिनों का उपवास किया।

उपवास के दौरान चिकित्सकों ने उनके स्वास्थ्य को पूर्णतः संतोषजनक, तनाव एवं रोगों से मुक्त पाया। उन्हें कोई रोग नहीं हुआ। अपितु उनके आज्ञाचक्र (पीयूष ग्रन्थि) को अधिक सक्रिय पाया गया एवं 65 वर्ष की वृद्धावस्था में भी उनके शरीर में न्यूरोन का निर्माण होना पाया गया, जो प्रायः उस आयु में अन्य व्यक्तियों में संभव नहीं होता है। उनके मधुमेह का स्तर लंबे समय तक 43 रहने के बावजूद उनके सारे अंग बराबर कार्य करते थे, जबकि आधुनिक चिकित्सकों की ऐसी मान्यता है कि जब मधुमेह का स्तर पचास से नीचे हो जाता है तो व्यक्ति मूर्च्छा में आ जाता है। इतना ही नहीं, मधुमेह के इतने कम स्तर में भी उन्होंने गुजरात में भावनगर के समीप पालीताणा जैन तीर्थ जिसमें लगभग 3500 सीढ़ियों की चढ़ाई है, पैदल यात्रा कर आधुनिक चिकित्सकों को विस्मय में डाल दिया। उनका हीमोग्लोबिन लंबे समय तक मात्र 8 रहा, परन्तु इसके उपरान्त चिकित्सकों के अनुसार उनके सारे अंग बराबर कार्य करते थे। उनका स्वास्थ्य संतोषप्रद पाया गया। इसका विस्तृत विवरण गुजरात मेडिकल के मार्च 2001 के जनरल में प्रकाशित हुआ। परिणाम स्वरूप आधुनिक चिकित्सकों के सोच में बदलाव आने लगा। वे मानने लगे कि मानव शरी अभ्यास से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी बराबर कार्य कर सकता है। उपवास की समाप्ति के पश्चात् उनमें जो मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक स्थिति में बदलाव आया उसका लाभ मानव जाति को पहुँचाने के लिए सौर ऊर्जा के उपयोग की जो विधि उन्होंने प्रतिपादित की वह बहुत ही सहज, सरल है और प्रत्येक व्यक्ति उसका लाभ उठा सकता है।

सूर्य दर्शन की विधिः-

प्रारम्भ में प्रथम दिन नंगे पैर धरती पर मिट्टी में सीधे खड़े होकर उदित सूर्य को खुली आंखों से मात्र पांच सैकेण्ड के लिये निहारना प्रारम्भ करें। सूर्य दर्शन का समय प्रतिदिन अपनी अनुकूलता के अनुसार 5 सैकेण्ड नियमित बढ़ाते जायें। सूर्य-दर्शन के समय त्राटक करना आवश्यक नहीं है। इस प्रक्रिया की क्रमबद्ध अवधि बढ़ाने का यदि नियमित अभ्यास किया जाए तो कुछ महीनों में ही आश्चर्यजनक परिणाम मिलने लगते हैं।

मानसिक रोगों से मुक्ति- मात्र तीन साढ़े तीन मास पश्चात् सूर्य निहारने की अवधि का अभ्यास जब बढ़ाते-बढ़ाते 10 से 12 मिनट हो जाता है तो हमारे नेत्रों को मस्तिष्क से जोड़ने वाला हाइपोथेलेमस ट्रेक धीरे-धीरे सूर्य ऊर्जा से उत्प्रेरित (चार्जड) होने लग जाता है। जिससे व्यक्ति में आत्म-विश्वास बढ़ने लगता है, नकारात्मक सोच, तनाव, भय, निराशा आदि समाप्त होने लगती हैं। व्यक्ति का मनोबल मजबूत होने तथा सकारात्मक सोच विकसित होने से वह किसी को परेशान नहीं करता। उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ एवं दुर्व्यसन स्वयं छूटने लगते हैं। सम्यक् सोच होना ही आत्म-विकास का प्रथम सोपान होता है।

शारीरिक रोगों से मुक्ति- सूर्य को निहारने से उसकी किरणों में व्याप्त सभी रंग मस्तिष्क ग्रहण करने लगता है। रंग चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार अलग-अलग रंगों का शरीर के अलग-अलग अंगों, उपांगों एवं अवयवों पर अलग-अलग विशेष प्रभाव पड़ता है। इन रंगों के संतुलन से मानव स्वस्थ तथा असंतुलन रोगी बन जाता है। सूर्य की किरणों में वे सभी रंग होते हैं, जिनकी शरीर को आवश्यकता होती है। अतः उदित सूर्य दर्शन की अवधि

बढ़ाते-बढ़ाते लगभग 6 महीनें बाद जब 20 मिनट तक पहुँच जाती है तो सौर ऊर्जा के प्रभाव से मस्तिष्क में स्थित पीयूष और पिनियल ग्रन्थियाँ सक्रिय हो जाती है और अन्य ग्रन्थियों को भी सक्रिय बनाने लगती हैं। परिणाम स्वरूप शरीर से सभी प्रकार के रोग दूर होने लगते हैं और व्यक्ति शारीरिक रोगों से मुक्त होने लगता है। जिस प्रकार प्रायः अधिकांश दवाईयाँ हम मुँह से लेते हैं, वे पेट में जाकर, जो रोग होता है, उस पर प्रभाव डालती है, ठीक उसी प्रकार सूर्य किरणों में होने वाले रंग मस्तिष्क के माध्यम से शरीर के अलग-अलग भागों में पहुँच उन सभी अंगों, उपांगों और अवयवों को संतुलित बना देते हैं। परिणाम स्वरूप शारीरिक रोग ठीक होना प्रारम्भ हो जाते हैं।

भूख से मुक्तिः-

शारीरिक रोगों के ठीक के पश्चात् सूर्य दर्शन के समय की अवधि बढ़ाने से ग्रहण की गई सौर ऊर्जा शरीर में संगृहित होने लगती है और शरीर सोलेरियम अथवा सोलर कूकर के समान बनने लगता है। सूर्य दर्शन की अवधि जब बढ़ाते-बढ़ाते लगभग 8 से 9 मास पश्चात 30 से 35 मिनट तक पहुँच जाती है तो सौर ऊर्जा के प्रभाव से भूख नहीं लगती। व्यक्ति को आहार छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती अपितु आहार ही उसे छोड़ देता है। जब ऐसी स्थिति 8-10 दिनों तक हो जाती है और कुछ न खाने के बावजूद शरीर में किसी प्रकार की कमजोरी अथवा थकावट नहीं आती तो शरीर सोलेरियम बन जाता है। शरीर में हलन-चलन हेतु ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति प्रायः हम भोजन, पानी और हवा के माध्यम से करते हैं। अनाज, सब्जियों और फलों अथवा अन्य माध्यम से जो भी भोजन हम ग्रहण करते हैं उसके उत्पादन में भी प्ररोक्ष रूप से सौर ऊर्जा का अवश्य योगदान होता है। शरीर को ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यदि उसकी पूर्ति किसी भी माध्यम द्वारा होती रहे तो आहार की आवश्यकता नहीं रहती। शरीर को ऊर्जा मिल जाने पर भूख का अनुभव नहीं होता, क्योंकि भूख और ऊर्जा का परस्पर संबंध होता है। सौर ऊर्जा मिलने से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार उदित सूय्र को निहारने से मानव शरीर भी पेड़ पौधों की भांति सौर ऊर्जा को ग्रहण कर शरीर के लिए आवश्यक अवयवों एवं पौष्टिक तत्त्वों में बदलने की क्षमता प्राप्त कर लेता हैं।

अतः उसके पश्चात् प्रातःकालीन सूर्य दर्शन की आवश्यकता नहीं रहती। मात्र धूप में नंगे पैर कम से कम 45 मिनट चलने से शरीर में संगृहीत सौर ऊर्जा पुनः क्रियाशील हो जाती है।

लगभग एक साल तक ऐसा धीरे-धीरे नियमित अभ्यास करने से शरीर का सूर्य के प्रकाश के साथ बराबर तालमेल हो जाता है और उसके बाद मात्र थोड़ी देर धूप में चलने-फिरने से शरीर का सोलेरियम पुनः क्रियाशील बन जाता है। सूर्य दर्शन सूर्योदय के 45 मिनट के अन्दर पूर्ण हो जाना चाहिए। उसके बाद सूर्य दर्शन से आंखों को क्षति पहुँचने की संभावना रहती है। सूर्य दर्शन की अवधि एक साथ जल्दी-जल्दी नहीं बढ़ानी चाहिए। आँखों के तालमेल के साथ-साथ हाइपोथेलेमस ट्रेक को उत्प्रेरित होने में जो समय लगता है वह भी अनिवार्य है। मस्तिष्क को सोलेरियम बनने में भी निर्धारित समय लगता हैं जैसे कि बीज का वृक्ष बनने में।

इस प्रकार सौर ऊर्जा के विधिवत प्रयोग से व्यक्ति के मानसिक एवं शारीरिक रोग तो जाते ही हैं, सम्यक् सोच विकसित होने से वह किसी प्रकार की गलत प्रवृत्ति नहीं करता, जिससे उसको इस जीवन में शांति, समाधि के साथ अगला जीवन भी सुखद प्राप्त होता है। आज विश्व में हजारों व्यक्ति सौर ऊर्जा के विधिवत प्रयोग द्वारा

तनाव से मुक्ति तथा दुर्व्यसनों एवं दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा प्राप्त कर विवेक जागृत कर रहे हैं तथा सुखी जीवन जी रहे हैं। विशेष जानकारी के लिए सम्पर्क करेः-

Shri Hira Ratan Manak
HF-2-131, KSHB, Vikash Nagar Colony,
Chakkor Thkulam, Kalikat-673006 (Kerala)
T.No. 0495-2369928
email-"HRM"<hiraratanmanek@yahoo.com>

अठाईसवां अध्याय

रंग चिकित्सा

रंगों का जीवन पर प्रभावः-

सूर्य के किरणों की भांति विभिन्न रंगों की किरणों का भी हमारे जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। रंग हमारे आकर्षण का मुख्य स्रोत होते हैं। रंगों के सही संतुलन और तालमेल से बने दृश्य हमें आनन्ददायक लगते हैं। इसी कारण वस्त्रों का चयन, भवन की दिवारों के रंगों के चयन, सजावट आदि में रंगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रंगों की तरंगों के प्रकम्पनों अथवा अन्य विधियों द्वारा उनका आवश्यकतानुसार उपयोग करने से हम स्वस्थ एवं रोग मुक्त जीवन जी सकते हैं। आयुर्वेद की अनेकों दवाईयाँ शरद पूर्णिमा की चांदनी में ही बनाई जाती है। उस दिन रात भर चांदनी के रंग से प्रभावित अनेकों खाद्य पदार्थ आज भी स्वास्थ्य वर्धक औषधि के रूप में लिये जाते हैं। रत्न चिकित्सक अलग-अलग रत्नों से निकलने वाली अलग-अलग रंगों की तरंगों के आधार पर उन रत्नों का शरीर के विशेष स्थानों पर स्पर्श करवा कर असाध्य रोगों का उपचार करने का दावा करते हैं। ज्योतिष विशेषज्ञ भी अलग-अलग ग्रहों के दुष्प्रभावों को कम करने हेतु अलग-अलग अंगुलियों में, अलग-अलग अंगुलियों में, अलग-अलग धातुओं के साथ आवश्यकतानुसार क्षमता के रत्नों को अंगुलियों में धारण करने का परामर्श देते हैं। पुष्प चिकित्सक अलग-अलग रंगों के पुष्पों के अर्क का उपचार हेतु दवा के रूप में उपयोग करते हैं।

जीवन के लिए श्वास आवश्यक है। रंगों हमारे शारीरिक मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। हम प्रतिक्षण श्वास के माध्यम से जिन पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, वे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि से युक्त होते हैं। हमारे जीवन में भी प्रत्येक अवयव का अपना-अपना अलग रंग होता है। इस प्रकार रंग का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व होता है। बिना रंग व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। शरीर में किसी भी अवयव के रंग का असंतुलन रोग का कारण होता है। यदि रंगों को किसी विधि द्वारा संतुलित कर दिया जाये तो व्यक्ति स्वस्थ एवं रोग मुक्त हो सकता है। श्वास के अलावा हम प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों के जो जो पुद्गल ग्रहण करते हैं, उनमें भी रंग होता है। श्वास हमारे शरीर में रंगों का संतुलन पैदा करता है।

आहार विशेषज्ञ शरीर के अवयवों के असंतुलन को दूर करने हेतु अन्य आवश्यक उपचारों के साथ-साथ उनको पुष्ट करने वाले रंगों के अनुसार फल, सब्जियाँ, अनाज तथा खाद्य पदार्थ खाने का परामर्श भी देते हैं। हमारे भावों का रंग के साथ गहन संबंध होता है। शरीर, मन, वाणी के साथ-साथ वाणी के प्रकम्पन भी रंगीन

होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के आभा मंडल के चित्र किरिलियन केमरे के लिये जायें तो उनका रंग अलग-अलग क्यों होता है? सभी व्यक्तियों का रंग रूप एक सा क्यों नहीं होता? शरीर में भी किसी के बाल काले तो किसी के सफेद तो किसी अन्य के अलग-अलग रंगों के क्यों होते हैं? रक्त लाल ही क्यों होता है? आकाश नीला ही क्यों? सभी वनस्पतियाँ पेड़ पौधे एवं उन पर लगने वाले फल प्रारम्भ में हरे ही क्यों होते हैं? आंखों की शल्य चिकित्सा के पश्चात् हरे रंग की पट्टी ही आँखों पर क्यों लगाई जाती है, अन्य रंग की क्यों नहीं? शल्य चिकित्सा करते समय दुनियाँ भर के शल्य चिकित्सक हरी पौशाक ही क्यों पहनते हैं? आंखों से दिखने वाले अलग-अलग प्राकृतिक दृश्यों, कपड़ों, पदार्थों, चित्रों का सही तालमेल हमारे आकर्षण का एक मुख्य कारण होता है। हमें आनन्द, खुशी, प्रसन्नता प्रदान करता है। इसके विपरीत गलत रंगों का तालमेल हमें अरुचिकर लगता है। कारण स्पष्ट है कि रंग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। शरीर के प्रत्येक अंग और अवयव को अलग-अलग रंगों की विशेष आवश्यकता होती है तथा उसके असंतुलन से हम रोगी बन जाते हैं।

रंगों द्वारा आन्तरिक भावों की पहचानः-

प्रत्येक मनुष्य के शरीर के चारों और एक आभामंडल होता है। प्रत्येक व्यक्ति के आभा मंडल के चित्र किरिलियन केमरे से लिये जायें, तो उनका रंग अलग-अलग क्यों होता है? उसके रंग भाव परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। भाव और आभा मंडल का गहरा संबंध होता है। भाव शुद्धि द्वारा आभा मंडल को विशुद्ध बनाया जा सकता है तथा आभा मंडल के रंगों से भावों को जाना जा सकता है।

मुख्य मूल रंगः-

मूल रंग मुख्यतया पांच होते हैं। ये रंग सफेद, काला, लाल, पीला और आसमानी होते हैं। बाकी सभी रंग इन्हीं रंगों के अलग-अलग अनुपात में बने मिश्रण होते है। उदाहरण के लिए नारंगी रंग, लाल और पीला रंग के मिलाने से बनता है। हरा रंग, पीला और आसमानी रंग के मिलाने से बनता है। नीला रंग, आसमानी और सफेद रंग के मिलाने से बनता है। बैंगनी रंग, लाल व नीले रंग के मिलाने से बनता है। इसी प्रकार अन्य कोई भी रंग दो या अधिक रंगों के मिश्रण से बनाये जा सकते हैं।

नियन्त्रक रंगः-

रंगों द्वारा उपचार करते समय यदि रोग का कारण और लक्षण किसी रंग की अधिकता से हों, तो उसके विरोधी गुण वाले रंग के प्रयोग से सरलता पूर्वक उपचार किया जा सकता है।

रंग (Colour)	**नियन्त्रक रंग** (Controlling Colour)
लाल	आसमानी
नारंगी	नीला
पीला	बैंगनी
हरा	चमकीला गुलाबी (मेगनेटा)
आसमानी	लाल
नीला	नारंगी
बैंगनी	पीला

शरीर के विभिन्न भागों को विशेष प्रभावित करने वाले संबंधित रंगः-

1.	सिर और गर्दन का ऊपरी भाग	हल्का नीला
2.	गला	गहरा नीला

3.	छाती और फेंफड़े	बैंगनी
4.	आंतें एवं गुर्दे	हरा
5.	मूत्राशय	हरा
6.	त्वचा	हरा
7.	तिल्ली (Spleen) और लीवर	पीला
8.	आमाशय	नारंगी
9.	धड़, बाजू, जनेन्द्रिय	लाल
10.	मस्तिष्क	बैंगनी
11.	हड्डियाँ	लाल
12.	हृदय	बैंगनी

रंगों का प्रभावः-

नाम	संकेत	नाम	प्रभाव
Violet	V	बैंगनी	शीतल, लाल कणों का वर्धक, क्षय रोग नाशक
Indigo	I	नीला	शीतल, पित्तज रोगों का नाशक पौष्टिक
Blue	B	आसमानी	शीतल, पित्तल रोगों का नाशक, ज्वर नाशक
Green	G	हरा	रक्त शोधक, वातज रोगों का नाशक, समशीतोष्ण
Yellow	Y	पीला	उष्ण, कफज रोगों का नाशक हृदय और उदर रोग नाशक
Orange	O	नारंगी	उष्ण, कफज रोगों का नाशक, मानसिक शक्ति वर्धक
Red	R	लाल	अतिउष्ण, उत्तेजक, केवल मालिश हेतु कफज रोगों का नाशक

अवयवों से संबंधित विशेष रंगः-

अंगों की भांति शरीर के विभिन्न अवयवों का भी अलग-अलग रंगों से विशेष संबंध होता है। जैसे नाड़ी संस्थान को बैंगनी रंग पुष्ट करता है। वीर्य नीले रंग से पुष्ट होता है। अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ और चर्बी आसमानी रंग से अधिक प्रभावित होती है। मांसपेशियों को हरे रंग से, मज्जा को पीले रंग से, रक्त एवं भोजन से बनने वाले रस को नारंगी रंग तथा हड्डियों को लाल रंग से विशेष ताकत मिलती है। रंगों का संतुलन स्वास्थ्य हैं। रंगों से शरीर और मन दोनों प्रभावित हो जाते हैं। जब सूर्य की किरणें उपलब्ध न हों तो रंगीन बिजली के बल्बों का प्रकाश कमजोर अथवा रोग ग्रस्त भाग में डालकर उपचार किया जा सकता है। अतः उपर्युक्त अवयवों से संबंधित रोगों में आवश्यकतानुसार सूर्य किरणों अथवा उसी रंग की विद्युत किरणों से उर्जित पदार्थों का सेवन करने से समस्याओं का समाधान हो जाता है।

रंगों की कमी अथवा अधिकता के कारण होने वाले रोग

क्र.स.	रंग की कमी	रंग की अधिकता	परिणाम
1.	हल्का नीला	लाल	ज्वर, अतिसार, उदर रोग
2.	गहरा नीला	लाल	संधियों की अकड़न, दर्द होना, प्रमेह, पथरी, दाह, खट्टी व कड़वी डकार, गर्दन अकड़ना, उबकाई आना, बाल गिरना, आंखों के रोग
3.	पीला	हल्का नीला	मेद के रोग, गुल्म रोग, पसली और मसूड़ों का दर्द, फेंफड़े के रोग, कोष्ठबद्धता, सूजन

4.	हरा	लाल	फोड़े-फुन्सी, खुजली, दाद, नासूर आदि त्वचा रोग
5.		नीला	वातजन्य रोग
6.		लाल	त्वचा में सूजन, गर्मी के विकार
7.		सुनहरा	शरीर में चीसें उठना
8.	लाल		सुस्ती, आलस्य, नींद, कमजोरी, मंदाग्नि, कब्ज
9.	नीला		क्रोध, चंचलता, उत्तेजना
10.	पीला		मंदाग्नि, अरुचि, शरीर दर्द, अनिद्रा, त्वचा में खुश्की
11.	आसमानी		अतिसार, पित्तज्वर, हैजा, पेशाब में जलन, पीलिया, पसीना अधिक
12.		लाल	कामोत्तेजना

अगर शरीर का कोई अंग रोग ग्रस्त हों तो उपचार करते समय इस बात का खयाल रखना चाहिए कि उस बीमारी में दोष शोधक रंग के साथ उस अंग के अपने रंग का भी उपचार करने से ज्यादा लाभ होता है।

पंच तत्त्व का रंगों से संबंध (मेरेडियन में प्रवाहित ऊर्जा):-

चीनी पंच तत्त्व संबंधित शोध करने वाले वैज्ञानिकों की ऐसी धारण है कि प्रत्येक तत्त्व एवं उससे संबंधित ऊर्जा का अलग-अलग रंगों के प्रति आकर्षण अथवा उदासीनता भाव-शारीरिक असंतुलन अथवा रोग का प्रतीक होता है। जैसे किसी व्यक्ति को लाल रंग बहुत अच्छा लगता है। इसका मतलब उस व्यक्ति में अग्नि तत्त्व एवं ताप ऊर्जा शरीर में आवश्यकता से कम होती है, यदि लाल रंग पसंद न हों, देखते ही अरुचि होने लगें तो उसका मतलब उस व्यक्ति के शरीर में अग्नि तत्त्व एवं उससे संबंधित ताप ऊर्जा आवश्यकता से अधिक होती है। दोनों ही परिस्थितियाँ अग्नि तत्त्व से संबंधित हृदय-छोटी आंत अथवा मस्तिष्क (पेरीकार्डियन) मेरुदण्ड (ट्रिपल वार्मर) में असंतुलन का द्योतक होती है। परिणाम स्वरूप रक्त परिभ्रमण अथवा नाड़ी संस्थान एवं मानसिक रोगों के होने की संभावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार हरे रंग के असंतुलन से वनस्पति तत्त्व (लीवर-पित्ताशय), पीले रंग का असंतुलन (तिल्ली-आमाशय), सफेद रंग का असंतुलन (फेंफड़े-बड़ी आंत) तथा काले या गहरा आसमानी (Dark Blue) गहरे या नीलें रंग का असंतुलन (गुर्दे-मूत्राशय) में असंतुलन का द्योतक होता है। असन्तुलन का मतलब रोग और संतुलन का मतलब रोग मुक्तावस्था। इस प्रकार संबंधित रंगों को संतुलित कर हम स्वस्थ हो सकते हैं।

त्वचा के रंग की रोग में भूमिका:-

त्वचा के रंग में परिवर्तन के आधार पर भी प्राण ऊर्जा के असंतुलन का सरलता से निदान किया जा सकता है। यदि त्वचा के किसी भाग में हरापन आ गया तो शरीर के उस भाग में वायु का असंतुलन होने की प्रबल संभावना रहती है। इसी प्रकार शरीर के किसी भाग में त्वचा लाल हो जाने पर उस भाग में ताप ऊर्जा के असंतुलन, पीली पड़ जाने पर नमी ऊर्जा, मन्द कान्ति वाला फीका पड़ जाने पर शुष्क ऊर्जा और नीला या काला पड़ जाने पर शरीर के संबंधित भाग में ठण्डक ऊर्जा का असंतुलन, रोग का कारण हो सकता है।

अतः उपर्युक्त अंगों से संबंधित रोगों की अवस्था में यदि किसी विधि द्वारा अभाव वाले संबंधित रंगों की तरंगों को प्रवाहित किया जायें तो तुरन्त स्वास्थ्य लाभ होता है। उसके लिये संबंधित रंग की किरणों को विद्युत बल्ब के माध्यम से संबंधित अंगों पर डाला जाता है। यदि वे अंग कमजोर अथवा निष्क्रिय हों तो संबंधित रंगों की

किरणें उन पर डालने से अंग सक्रिय एवं शक्तिशाली होने लगते हैं। यदि रोग का कारण अंगों की आवश्यकता से अधिक सक्रियता हों तो संबंधित रंगों के प्रभाव को कम करने वाले रंगों की किरणें संबंधित भाग पर डालने से रोग मुक्त हुआ जा सकता है।

कपड़ों एवं वातावरण के रंगों का प्रभावः-

लाल, पीला और नारंगी रंग गर्म प्रकृति का होता है। अतः गर्मी की मौसम में इन रंगों के कपड़े नहीं पहनना चाहिए। नीले, हरे, बैंगनी और आसमानी कपड़ों का प्रयोग गर्मी में हितकर होता है। धूप चश्में नीले या हरे रंग के अधिक शांतिदायक होते हैं। शयनागर की दिवारें और खिड़कियों का रंग भी ठण्डी प्रकृति वाले रंगों का होने से निद्रा अच्छी एवं गहरी आती है। इसके विपरीत यदि कमरे की दिवारों का रंग लाल हों या लाल बल्ब जल रहा हों, वहाँ निद्रा बराबर नहीं आती। ऐसे लाल वातावरण में रहने वालों को क्रोध अधिक आता है। ठण्डे रंगों का चिन्तन और ध्यान करने से गर्मी का प्रभाव कम होता है।

सर्दी की मौसम में गर्म प्रकृति के रंगों का उपयोग गर्मी बढ़ाने से आरामदेय होता है। जिन देशों में ठण्डक संबंधी रोगियों का प्रतिशत अधिक होता हैं, उनके लिए लाल, पीले, नारंगी रंग के कपड़े ज्यादा लाभप्रद होते हैं। पगथली ठण्डी होती हों तो लाल मौजों का प्रयोग करना चाहिए। गंठियाँ के रोगी अथवा जोड़ों में दर्द वालों को लाल कपड़े ज्यादा लाभप्रद होते हैं। परन्तु जिनका हृदय कमजोर हों, उनको लाल कपड़े पहनना हानिकारक हो सकता है। सर्दी की मौसम में ठण्डक से सुरक्षा हेतु रजाई के अस्तर का रंग लाल रखना चाहिए। चर्म रोगियों को हरे रंग के कपड़े लाभदायक होते हैं। टोपी या हेलमेट के अन्दर का भाग हरा रखने से मस्तिष्क शांत रहता है। शरीर की गर्म और लाली वाली सूजन वाले भाग पर नीला और सफेद मिश्रित कपड़ा पहनना चाहिए। पुरानी तथा सख्त सूजन वाले स्थान पर लाल कपड़ा पहनना चाहिए।

रंग संतुलन की स्वावलम्बी विधिः-

प्रत्येक मनुष्य के शरीर के चारों तरफ एक आभामंडल होता है। उसके रंग भाव परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। भाव और आभामंडल का गहरा संबंध होता है। अतः भावशुद्धि द्वारा आभामंडल को विशुद्ध किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार रंग की कमी से रोग हों तो उसी रंग के वातावरण की कल्पना करते हुए श्वास लेने से शरीर में उस रंग की पूर्ति होने लगती है। परन्तु रोग का कारण यदि किसी रंग की अधिकता से होता है तो उस रंग के चिन्तन के साथ रेचक करने से लाभ होता है। साथ ही उस रंग के प्रभाव को कम करने वाले रंग की अपने आसपास के वातावरण में कल्पना कर पूरक करने से अच्छे परिणाम आते हैं।

लाल रंग बढ़ाने से नीले रंग, हरा रंग बढ़ाने से बैंगनी रंग से होने वाले तथा नीला रंग बढ़ाने से लाल रंग की अधिकता से होने वाले विकार दूर हो जाते हैं। शरीर के किसी भाग के उपचार हेतु लाल रंग की किरणों से उपचार करते समय, मस्तिष्क को आसमानी रंग की किरणें साथ-साथ अवश्य देनी चाहिये। रंग चिकित्सा से उपचार करते समय रोगी का स्वभाव उसके रंगों के प्रति रुचि या अरुचि, मौसम, उसके द्वारा पहनी जाने वाली पोषाक, आसपास दृष्टिगत होने वाले रंग, भोजन के लिए जाने वाले पदार्थो का रंग आदि भी प्रभावित करते हैं। जब दो विरोधी रंग अच्छे लगते हैं तो व्यक्ति का रोग पुराना एवं जटिल होता है।

रंग चिकित्सा की चमत्कारिक अनुभूतिः-

मेरे कानों में लम्बें समय से पीब आ रही थी। परीक्षण करवाने के पश्चात् पता चला की कान के पर्दे में दरार हो गई है। मैंने नाक में दिन में 2-3 बार शिवाम्बु की बूंदें डाली और कान में नीले रंग की बिजली की किरणें लगभग पांच-पांच मिनट के लिये दिन में 3-4 बार डाली। जिससे उसी दिन से कान में पीब आना बन्द हो गई।

नीला रंग गले के ऊपर के अंगों का मुख्य पोषक रंग होता है और साथ में रोगाणुनाशक गुण वाला तथा ठण्डी प्रकृति का होने से संकोचन करने वाला भी होता है। शिवाम्बु भी रोगाणुनाशक होता है। गले, नाक और कान का आपस में घनिष्ठ संबंध होता हैं अतः नाक के माध्यम से डाली गई शिवाम्बु की बूंदों का प्रभाव शीघ्र होता है। कान में पीब आने वाले रोगियों पर भी इस प्रयोग से तुरन्त प्रभावकारी परिणाम प्राप्त हो रहे हैं।

दांतों के दर्द और गले संबंधी रोगों में भी बिजली के नीले बल्ब की किरणों का प्रयोग अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। अतः जहाँ सूर्य किरणें उपचार हेतु उपलब्ध न हों, संबंधित रंग के बिजली के प्रकाश का उपयोग भी किया जा सकता है।

सारांश यही है कि शरीर में अंगों एवं अवयवों के आवश्यकतानुसार, मौसम के अनुकूल रंगों का सेवन कर, कपड़े पहनने अथवा वातावरण में रहने, चिन्तन करने, रत्नों को धारण करने, ऊर्जा चक्रों के रंगों के अनुसार प्रभावित चक्रों पर बीज मंत्रों के उच्चारण के साथ ध्यान करने, रंगीन बिजली के बल्ब का प्रकाश अथवा सूर्य किरणों को रंगीन कांच या अन्य किसी माध्यम द्वारा शरीर के रोग ग्रस्त भाग पर डालने से रंगों का सन्तुलन किया जा सकता है। रंगों का संतुलन होते ही शरीर में रोग के बने रहने की संभावना नहीं रहती। अतः उपचार करते समय समग्र दृष्टिकोण से विभिन्न रंगों के गुणों को ध्यान में रख, रोग के लक्षणों एवं अन्य प्रभावों को ध्यान में रखकर रंगों का चयन करना चाहिए।

उन्नतीसवां अध्याय

उपचार के प्रभावशाली उपकरण

उपचार को प्रभावशाली बनाने वाले चंद उपकरणः-

आधुनिक चिकित्सा के प्रति जनसाधारण में आकर्षण का एक प्रमुख कारण होता है। उसके व्यवहार से जल्दी राहत मिलना। इसी कारण रोगी भविष्य में पड़ने वाले दुष्प्रभावों एवं आधुनिक चिकित्साओं के अन्य सभी दुर्गुणों की अपेक्षा करते हुए भी संकोच नहीं करता। प्रायः स्वावलंबी उपचारों में किसी अन्य भौतिक उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु उपचार करते समय विशेष रूप से जब रोग असहनीय हों, तीव हों, पुराना हो तथा दर्द में तुरन्त आराम प्राप्त करना हों तो, अपवाद के रूप में यदि किसी भौतिक यंत्र एवं उपकरण का सहयोग लेने की आवश्यकता पड़ने पर उनका उपयोग भी लिया जा सकता है। जिस प्रकार पानी का प्रथम घूंट लेते ही प्यास शांत होने लगती है, ठीक उसी प्रकार ऐसे उपकरणों के सहयोग से चन्द मिनटों में ही रोगी को बिना किसी दुष्प्रभाव आराम मिलने लगता है। ऐसे ही 2-3 उपकरणों, जिनका लेखक ने स्वयं उपयोग किया एवं उपचार केन्द्र पर रोगियों का उपचार करने हेतु उपयोग लेते हैं और जिसको व्यक्ति स्वयं उपयोग कर सकता है, जानकारी देना लेखक अनुचित नहीं मानता। उनके उपयोग से वैकल्पिक चिकित्सा तुरन्त राहत दिलाने वाली बन जाती है। उपचार के पश्चात् व्यक्ति को कुछ समय के लिए शिथिलिकरण हेतु शवासन और गहरे श्वास लेने से उपचार का प्रभाव स्थायी होने लगता है।

दर्दनाशक इलोक्ट्रोनिक एक्यूपंचर मशीनः-

शरीर में प्रवाहित होने वाले रक्त अथवा चेतना के प्रवाह में शरीर के किसी भाग में उत्पन्न अवरोध के कारण उस स्थान पर दर्द अथवा पीड़ा होने लगती है। माँसपेशियों पर विजातीय तत्त्वों का जमाव बढ़ने लगता है।

हड्डियों में रसायनिक परिवर्तन भी हो सकता है। परिणाम स्वरूप उस भाग की मांसपेशियों का लचीलापन कम हो जाने के कारण हलन-चलन में कष्ट एवं पीड़ा होने लगती है।

असक्रिय मांसपेशियों को पुनः लचीला, सशक्त एवं गतिशील बनाने के लिये आवश्यकतानुसार उनका मसाज आवश्यक होता है। अतः यदि किसी विधि एवं ऊर्जा द्वारा उस विजातीय तत्त्व को वहाँ से दूर कर दिया जाये तो चेतना का प्रवाह नियमित होने लगता है और दर्द में राहत मिलने लगती है।

अतः यदि उस स्थान पर सहनीय कम दबाव एवं शरीर की क्षमतानुसार उच्च गति से बिजली का प्रवाह किया जाये तो, माँसपेशियों में तुरन्त संकुचन और फैलाव होने लगता है। जिससे उस स्थान पर जमा विजातीय विकार शीघ्र दूर होने लगते है। दबी हुई रक्त वाहनियाँ अपने वास्तविक स्थिति में आने लगती है। रक्त एवं चेतना का प्रवाह नियमित एवं संतुलित होने लगता है। परिणाम स्वरूप दर्द और पीड़ा कुछ ही समय के उपचार से कम होने लगती है।

वर्तमान में उपलब्ध यह उपकरण अधिकतम 6 वोल्टेज एवं 350 फ्रिक्वेन्सी पर कार्य करता है। वोल्टेज और फ्रिक्वेन्सी को आवश्यकतानुसार और सहनशक्ति के अनुसार कम करके निर्धारित किया जा सकता है। इसमें तीन टरमीनलस होते हैं। एक टरमीनल कोमन होता है, जबकि बाकी दो टरमीनलस में एक अथवा दोनों का उपयोग किया जा सकता है। उपचार करते समय एक्युप्रेशर के संबंधित प्रतिवेदन केन्द्र पर कोमन टरमीनल स्पर्श कराया जाता है, जबकि अन्य टरमीनल को आस-पास के क्षेत्र की त्वचा को स्पर्श करते हैं। जब उच्च फ्रिक्वेन्सी से प्रतिवेदन बिन्दू पर बिजली का प्रवाह किया जाता है तो वहाँ से विजातीय तत्त्व दूर होने लगते है और स्पर्श करते ही रोगी को रोग से तुरन्त राहत मिल जाती है। रक्त का प्रवाह नियमित हो जाता है। एक प्रतिवेदन बिन्दू पर उपचार 5 से 15 सैकेण्ड तक रोग एवं रोगी की स्थिति के अनुसार करना चाहिए। उससे अधिक एक समय पर नहीं। यदि आवश्यकता हों तो थोड़े समय पश्चात् पुनः उपचार किया जा सकता है।

इसी प्रकार पीड़ा ग्रस्त भाग पर इस उपकरण से मसाज करने पर चन्द क्षणों में तुरन्त आराम मिलता है। दर्दनाशक दवा का दुष्प्रभावों से रहित, आधुनिक स्वावलंबी चिकित्सा पद्धति में यह उपकरण सरल एवं अत्यधिक प्रभावशाली विकल्प है। अस्पतालों में उस उपकरण की सहायता से सैकड़ों रोगियों को दर्द में कुछ समय में ही तुरन्त राहत दिलायी जा सकती है। परन्तु इस उपकरण से उपचार करते समय रोगी को असहनीय पीड़ा होती है। अतः जो रोगी 5-10 सैकेण्ड तक पीड़ा को सहन कर सकें, उन्हीं का इस उपकरण से उपचार करना चाहिए।

इस उपकरण द्वारा मस्तिष्क, हृदय एवं अन्य संवेदनशील भागों पर प्रभावी ढंग से उपचार किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए अनुभवी चिकित्सक के निर्देशन में प्रारम्भ में उपचार करना चाहिये, ताकि सही वोल्टेज एवं फ्रिक्वेन्सी का रोगी की क्षमता एवं रोग के अनुसार चयन किया जा सकें।

अल्पकालीन उपयोग वाले मसाजरः-

शरीर के किसी भी स्थान पर मसाज करने से उस भाग की माँसपेशियों में लचीलापन आने लगता है और उस पर जमा विजातीय तत्त्व दूर होने लगते हैं। मसाजर के साथ अलग-अलग उपकरण लगाकर आवश्यकतानुसार मसाज करने से उपचार अधिक प्रभावशाली हो जाता है। मसाजर के साथ चुम्बक लगाकर

उपयोग किया जाये तो चुम्बकीय चिकित्सा अत्यधिक प्रभावशाली बन जाती है। उपचार करते समय उपकरण की क्षमता एवं रोगी की अवस्था के प्रति सजगता एवं विवेक महत्वपूर्ण होता है।

1. उत्तरी ध्रुव का चन्द मिनटों तक दर्दस्थ भाग पर मसाज करने से दर्द में आराम होने लगता है।
2. हथेली के नीचे मुख्य नाड़ियों पर 2-3 मिनट दाहिने हाथ में उत्तरी ध्रुव का मसाज करने से उच्च रक्तचाप कम हो जाता है तथा बांयें हाथ पर दक्षिणी ध्रुव का मसाज करने से, निम्न रक्तचाप शीघ्र बढ़ने लगता है।
3. पेन्क्रियाज अथवा अन्य किसी कमजोर भाग पर दक्षिणी ध्रुव का मसाज करने से उस भाग में स्थित अंग सक्रिय होने लगता है। अंत:स्रावी ग्रन्थियों एवं ऊर्जा चक्रों पर दक्षिणी ध्रुव के उपचार से वे सक्रिय होते हैं।
4. नाभि पर दक्षिणी ध्रुव के मसाज से कब्जी दूर होती है, जबकि उत्तरी ध्रुव के मसाज से दस्तें लगना रूक जाता है।
5. नाक पर दुक्षिणी ध्रुव के मसाज से जुकाम ठीक हो जाता है।
6. मेडूला ओब्लंगेटा पर मसाज करने से तनाव एवं रक्तचाप संतुलित हो जाता है। निद्रा आराम से आ जाती है।
7. सीने पर दक्षिणी ध्रुव का मसाज करने से दमा एवं सर्दी संबंधी रोगों में राहत मिलती है।
8. गांठ पर अनुभवी चिकित्सकों के निर्देशन में थोड़ी-थोड़ी देर के अन्तराल में उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव का मसाज करने से चन्द दिनों में ही गांठ सिकुड़ कर बिखर जाती है और कभी-कभी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि उत्तरी ध्रुव के प्रभाव से गांठ सिकुड़ती है और दक्षिणी ध्रुव के प्रभाव से फैलती है। निरन्तर संकोचन और फैलाव से गांठ चंद दिनों के उपचार से ही समाप्त हो जाती है।
9. पीड़ा ग्रस्त भाग पर उत्तरी ध्रुव का मसाज करने से दर्द शीघ्र कम होने लगता है।

शक्तिशाली मसाजर:-

बाजार में उपलब्ध अधिकांश साधारण मसाजर में कम क्षमता की मोटर होने से प्राय: मसाजर का उपयोग 2-3 मिनट से अधिक नहीं कर सकते हैं। दर्द वाले स्थान पर मसाजर का उपयोग प्राय: सुहावना और आरामदायक लगता है। मांसपेशियों संबंधी रोगों का मुख्य कारण उनका नियमित हलन-चलन न होने से उनका लचीलापन बराबर नहीं रहता। अत: यदि किसी विधि द्वारा उनमें हलन-चलन की प्रक्रिया आवश्यकतानुसार विवेक पूर्वक की जाए तो शरीर के उस भाग की मांसपेशियों सशक्त हो जाती है। वहां जमा रक्त प्रवाह में अवरोध समाप्त हो जाता है।

विभिन्न गतियों पर कार्य करने वाले अधिक क्षमता वाले मसाजर जिनका उपयोग 25 से 30 मिनट तक एक साथ किया जा सकता है, का उपयोग अधिक आसान और लाभप्रद होता है। अत: इस उपकरण से एक साथ सारे शरीर की मांसपेशियों में मसाज की जा सकती है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति की कार्य क्षमता शीघ्र बढ़ने लगती है और रोगी रोग मुक्त होने लगता है। मसाजर के उपयोग से रोगी को दर्द नहीं होता है बल्कि बहुत अच्छा आरामदायक लगता है। सारी मांसपेशियों को आसानी से सक्रिय रखा जा सकता है। विशेषकर दमा, हृदय रोगियों में इसके उपयोग से चमत्कारी परिणाम प्राप्त होते हैं। साथ ही मसाज के अधिकांश लाभ मिल जाते हैं।

1. मल त्यागने से पूर्व अथवा उषापान के पश्चात् उदर पर चन्द मिनटों तक मसाजर फेरने से आंतों में रूका मल आसानी से बाहर किया जा सकता है।

2. सीने पर मसाज करने से फेंफड़ों में जमा कफ दूर होने लगता है।

मसाज करने का समय रोगी की अवस्था और व्यक्ति पर उससे पड़ने वाले प्रभाव पर निर्भर करता है। अतः उसकी सजगता और स्वविवेक ही उपचार के समय का सही निर्धारण कर सकते हैं।

आजकल एक्युप्रेशर एवं चुम्बकीय चिकित्सा के सैकड़ों उपकरण बाजार में उपलब्ध हैं और विक्रेता उनके लाभ का बखान करते नहीं थकते। परन्तु मेरी स्पष्ट मान्यता है कि अनावश्यक उपकरणों का उपयोग करने से स्वावलंबी चिकित्साएँ न केवल परावलंबी ही बनती है, अपितु उपचार के प्रति रोगी की सजगता, नियमितता और निरन्तरता भी बाधित होती है। जहां अन्य विकल्प न हों और रोगी को शीघ्र राहत पहुँचाना हों, वहीं उपकरणों का उपयोग करना श्रेयष्कर होता है।

तीसवां अध्याय

स्वास्थ्य सुरक्षा एवं उपचार को प्रभावी बनाने वाली जीवनशैली

शरीर, मन और आत्मा को विकारों से मुक्त रख, अपने जीवन के लक्ष्य को पाने के लिये, प्रत्येक चिन्तनशील मानव को यथा संभव पूर्ण सजगता एवं विवेक के साथ, प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों का पालन कर, अपने आपका संतुलन रखना चाहिए। पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में ऐसी आवश्यक बातों की विस्तार से चर्चा की गई है। हमारी जीवन शैली में प्राथमिकता के आधार पर उनका पालन आवश्यक होता है, जो शरीर को असंतुलित होने से बचाती है। उन नियमों का जितना-जितना पालन होगा, उतना-उतना हमारा जीवन स्वस्थ, सुखी एवं शांत होगा। उन बातों का पालन करने के उपरान्त भी यदि प्रत्यक्ष परोक्ष कारणों से अथवा भूत की भूलों, असावधानी या वर्तमान की असजगता के कारण अगर रोग के लक्षण प्रकट हों भी गये हों तो भी उन सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन शैली से उपचार अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता है। रोग से शीघ्र मुक्ति मिल सकती है। परन्तु ठीक इसके विपरीत जाने-अनजानें में जितना-जितना हम उन नियमों का उल्लंघन करते हैं तो बहुत प्रयास करने के बावजूद भी न केवल हम रोग ग्रस्त ही होते हैं, अपितु कोई भी चिकित्सा पद्धति हमें स्वस्थ रखने का दावा नहीं कर सकती। ऐसी चन्द महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश हमारी दैनिक गतिविधियों में करने हेतु यहाँ संक्षिप्त विवरण पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. प्रत्येक व्यक्ति को निद्रा त्यागते ही सर्वप्रथम अपने आराध्य का स्मरण कर प्राणी मात्र के प्रति मैत्री, करुणा, दया एवं अनुकंपा रखने की भावना करनी चाहिए तथा उस दिन के लिये अपने किसी अवगुण को छोड़ने का दृढ़ संकल्प लेकर अपनी दिनचर्या का प्रारम्भ करना चाहिए।
2. प्रातःकाल जितना जल्दी सूर्योदय से पूर्व निद्रा त्याग सकें, उठना चाहिये एवं शान्त खुले वातावरण में टहलना, व्यायाम, आसन, प्राणायाम, स्वाध्याय और ध्यान करना चाहिए। व्यायाम में रीढ़ के घुमावदार व्यायाम, आसन में व्रजासन, गोदुहासन, पद्मासन एवं ताड़ासन का अवश्य समावेश करना चाहिये जिससे शरीर का संतुलन, मांसपेशियों में लचीलापन बना रहता है। चन्द मिनटों के लिये खुलकर हंसना, जोगिंग करना भी बहुत लाभप्रद होता है।

3. स्वास्थ्य की आज सारी समस्याओं का मूल सही दृष्टिकोण का अभाव, आत्म-नियन्त्रण की कमी, स्वछन्द मनोवृत्ति, असंयम बढ़ती हुई आकांक्षायें, धैर्य एवं सहिष्णुता का अभाव, विवेक की कमी, प्राथमिकताओं का गलत चयन एवं सम्यक् लक्ष्य का अभाव होता है। अतः हमारी जीवन शैली यथा संभव संयमित, नियमित, अनुशासित, स्वावलंबी, श्रम प्रधान, अहिंसक, सात्विक एवं सम्यक् चिन्तन से युक्त विवेकमय होनी चाहिये। प्राथमिकताओं का चयन और उसकी क्रियान्विति क्षमताओं के सम्यक् उपयोग एवं महत्व के अनुरूप होनी चाहिये। प्रवृत्तियाँ करते समय मन, वचन और काया के सम्यक् तालमेल के साथ आत्मा की उपेक्षा न हो। इस बात जी सजगता रखनी चाहिए।
4. तनाव पैदा करने वाले वातावरण से यथा संभव दूर रहना चाहिए अथवा उस समय मौन हो जाना, तथा सकारात्मक सोच रख स्वविवेक, सजगता एवं धैर्य रखने का प्रयास करना चाहिए। घर में अनुशासन, प्रेम, तालमेल और सहयोग का वातावरण होने से स्वतः प्रसन्नता एवं शांति मिलती है। तनावमय वातावरण न होने से रोग होने की संभावनाएँ बहुत कम हो जाती है। टी.वी. का उपयोग यथा संभव ज्ञानवर्धक कार्यो तक ही सीमित रहा चाहिए। परिवार में मितव्ययता, उपलब्ध सुविधाओं का अनावश्यक दुरुपयोग और अपव्यय न हों, ताकि धन उपार्जन हेतु अनैतिक साधनों का उपयोग करना पड़े।
5. अपनी दिनचर्या का निर्धारण इस प्रकार करना चाहिए, जिससे शरीर के अंगों की क्षमताओं का अधिकतम उपयोग हो सके। अर्थात् जिस समय जिस अंग में प्रकृति से अधिकतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह हों उस समय उस अंग से संबंधित कार्यो को प्राथमिकता देनी चाहिए।
6. शरीर की मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में भोजन, पानी, हवा, धूप आदि जो भी हम ग्रहण करते हैं, उनकी क्षमताओं का पूर्ण लाभ लेने हेतु सजगता रखनी चाहिये। अर्थात् यथा संभव मंद परन्तु गहरा पूरा श्वास लेना और निःश्वास निकालना चाहिए। हम वहीं भोजन अथवा अन्य पदार्थ मुख से ग्रहण करें, जिसका पूर्ण पाचन हो सके। पानी कब, कैसा, कितना पीना, इस बात का विवेक रखना चाहिए?
7. एक्युप्रेशर स्वास्थ्य परीक्षण और उपचार की सरलतम विधि है। अतः प्रतिदिन पगथली और हथेली में आगे पीछे दबाव देकर रोग ग्रस्त प्रतिवेदन बिन्दुओं की जाँच कर लेनी चाहिए। तथा दर्दस्थ केन्द्रों पर उपचार कर विजातीय तत्त्वों को वहां से दूर कर देना चाहिये। विशेषकर अन्तःस्रावी ग्रन्थियों, मेरुदण्ड एवं हाथ और पैर की अंगुलियों के प्रतिवेदन केन्द्रों का चेकअप तो अवश्यक नियमित रूप से करना ही चाहिए।
8. सप्ताह में कम से कम एक बार मस्तिष्क शोधन की क्रिया कर लेनी चाहिये, जिससे हमारा मस्तिष्क पूर्व संचित तनावों से मुक्त हो जाता है। रोग की अवस्था में यदि संभव हो तो प्रतिदिन करने से उपचार का प्रभाव अनेक गुणा बढ़ जाता है।
9. प्रातःकालीन उदित सूर्य की रश्मियों को नियमित ग्रहण करना स्वास्थ्य वर्धक होता है, जिसकी अवधि धीरे-धीरे 30 से 35 मिनट तक बढ़ानी चाहिये।
10. जो कार्य जिस स्वर के अनुकूल हों उस कार्य को करते समय उस स्वर को चलाने का यथा संभव प्रयास करना चाहिये। इससे कम श्रम में अधिक अच्छे परिणाम मिलते हैं।

11. रोग होने की अवस्था में प्रतिदिन अन्यथा सप्ताह में कम से कम एक बार अपने नाभि, मेरुदण्ड, गर्दन, पैरों आदि का संतुलन देख लेना चाहिये और उसमें गड़बड़ हों तो तुरन्त ठीक कर लेना चाहिये।
12. सप्ताह अथवा पन्द्रह दिनों में कम से कम एक दिन उपवास कर पाचन तंत्र को आराम देना चाहिये।
13. क्षमताओं से अधिक शारीरिक या मानसिक श्रम न करें। जितनी आवश्यक हो गहरी निद्रा लें। ताकि दिन भर आलस्य एवं थकान का अनुभव न हों। परन्तु अनावश्यक जागृत अवस्था में बिस्तर पर पड़े हुये न रहें।
14. हमारा खान-पान और वेष-भूषा मौसम के अनुकूल होनी चाहिये।
15. मल, मूत्र जैसी शरीर की नैसर्गिक विसर्जन क्रियाओं को जबरदस्ती नहीं रोकना चाहिये।
16. हमारा आवास और कार्य स्थली यथा संभव स्वच्छ, खुला, पर्यावरण एवं प्रदूषण रहित, जहाँ सूर्य की रश्मियाँ आवश्यक मात्रा में प्रवेश पा सकें, होना चाहिए। कमरों में दीवारों के रंग तथा साज-सज्जा के समान उत्तेजना एवं भय पैदा करने वाले न हों।
17. यथा संभव अपने शिवाम्बु का अवश्य नियमित सेवन करना चाहिये। जिससे शरीर की आन्तरिक सफाई हो सकें। रोगावस्था में उसके अन्य उपयोग भी लेने चाहिए।
18. पंच तत्त्वों को संतुलित करने वाली मुद्राओं का नियमित अभ्यास करने से शरीर में पंच तत्त्वों का संतुलन बना रहता है तथा स्वास्थ्य अच्छा रहता है?
19. पर्याप्ति और प्राणों का संयम ही स्वास्थ्य है। अतः हमारी जीवनचर्या में उनका अपव्यय अथवा दुरुपयोग न हों इस बात की यथा संभव सजगता रखनी चाहिये। हमारी प्रवृत्तियां सम्यक् हों। कषाय और प्रमाद कम करने वाली हों। इस हेतु विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिए।
20. प्रतिदिन जल अथवा स्वमूत्र से नेति क्रिया करने से श्वसन तंत्र में आये विकार दूर हो जाते हैं। आंखें अच्छी रहती हैं।
21. सप्ताह में कम से कम एक बार सूर्य मुखी तेल से गंडूस कर लेना चाहिये, जिससे रक्त में आए विकार दूर हो जाते हैं। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है। रोगावस्था में नित्य करना चाहिये।
22. नित्य हाथ और पैर के सभी प्रमुख जोड़ों तथा गर्दन के जोड़ों को कम से कम 5-7 बार धीरे-धीरे जितना घुमाया जा सकें, सभी तरफ घुमाना चाहिए।
23. यदि संभव हों तो अपने आवास और कार्यालय की व्यवस्था वास्तु दोषों रहित रखनी चाहिए, ताकि प्राकृतिक पंच महाभूत ऊर्जाओं का अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो सकें। कम से कम शयन कक्ष और कार्यालय जहाँ अधिक समय गुजारना पड़ता है, वहाँ तो उसके अनुरूप व्यवस्था अवश्य रखनी चाहिए।
24. यथा संभव हमारा खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार स्वच्छ एवं शुद्ध होना चाहिए।
25. यथा संभव पानी को छानकर, चिन्तन, मनन हेतु नियमित समय निकालना चाहिए।
26. सद्-साहित्य के स्वाध्याय, चिन्तन, मनन हेतु नियमित समय निकालना चाहिए।
27. रात्रि में निद्रा लेने से पूर्व अपने आराध्य को स्मरण कर, अपने दिन भर के कार्यकलापों की समीक्षा करनी चाहिये और मन, वचन और काया से किये गये गलत आचरण का पश्चाताप करना चाहिये। हम ही हमारे

सच्चे, निरीक्षक, समीक्षक और परीक्षक होते हैं। दोषों का स्मरण करने से भविष्य में उनसे सरलता पूर्वक छुटकारा पाया जा सकता है।

इक्तीसवां अध्याय

आंखों के रोगों का बिना दवा उपचार

आजकल आंखों के रोग बहुत बढ़ रहे हैं। आंखों के रोगों का कारण अपौष्टिक आहार, धूल भरा प्रदूषित वातावरण, तेज प्रकाश में देखना, लगातार टी.वी. देखना, बात-बात में आंसू निकालना, नेत्र रोगियों से संक्रमण, कम्प्यूटर पर अधिक कार्य करने के अलावा क्षमता से अधिक आंखों पर जोर देकर कार्य लेना तथा वीर्य स्खलन आदि बाह्य कारण होते हैं। अतः आँखों का संयम उपचार के साथ अति आवश्यक होता है। हम ऐसे कार्यो से यथा संभव बचें, जिससे आंखों पर अनावश्यक जोर पड़ता है। आंख भी शरीर की सक्रिय मांसपेशियों में से प्रमुख होती है। आंखों में रोग का आन्तरिक प्रभाव यकृत-पित्ताशय का असंतुलन अथवा पूर्ण क्षमता से कार्य न कर पाना ही होता है।

मानव शरीर के सारे अंग, उपांग और अवयव पूर्ण सहयोग और तालमेल से कार्य करते हैं। प्रत्येक कार्य को करने में शरीर के उस अवयव को प्रत्यक्ष-परोक्ष कम-ज्यादा अन्य अवयवों का सहयोग मिलता है। अतः शरीर के किसी भाग में कोई गड़बड़ी हो और उस भाग से अनावश्यक कार्य न करवाये जाएँ एवं अन्य सहयोगी अवयवों का अधिकाधिक सहयोग लिया जाए तो कोई भी रोग असाध्य और संक्रामक नहीं रहता।

अतः आंखों के रोगों से बचने अथवा रोग होने की स्थिति में शीघ्र मुक्त होने के लिए स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु जिन बातों का दैनिक जीवन शैली में समावेश प्राथमिकता के आधार पर आवश्यक बतलाया गया है, उनका यथा संभव अधिकाधिक ईमानदारी पूर्वक पालन करना चाहिए। उसके साथ निम्न उपचारों से आंखों संबंधी अधिकांश रोगों से चन्द दिनों में ही छुटकारा पाया जा सकता है। परन्तु यदि हम उन बातों की पालना नहीं करते हैं तो उपचार अस्थायी ही होता है, जिससे मात्र राहत मिल सकती है।

आंखों का सीधा संबंध चीनी पंच तत्त्व सिद्धान्त के अनुसार यकृत और पित्ताशय से भी होता है। अतः यकृत और पित्ताशय की पंच ऊर्जाओं को बियोल मेरेडियन के अध्याय में वर्णित विधि द्वारा संतुलित और नियन्त्रित रख जाए तो यकृत-पित्ताशय के असंतुलन से होने वाले, आंखों के अनेक रोगों से बचा जा सकता है।

1. दूर या नजदीक की कमजोर दृष्टिः-

जब यकृत की वायु ऊर्जा कम हो जाती है, तो नजदीक की दृष्टि कमजोर होने लगती है। परन्तु जब यकृत में शुष्क ऊर्जा की कमी हो जाती है तो दूर की वस्तुएँ देखने में कठिनाई होती है। अतः यकृत की बियोल मेरेडियन में वायु ऊर्जा को बढ़ाकर नजदीक की दृष्टि और शुष्क ऊर्जा को बराबर कर दूर की दृष्टि को सुधारा जा सकता है।

2. मोतियाबिंब का उपचारः- मोतियाबिंब (केट्रक) होने का एक मुख्य कारण यकृत की ठण्डक ऊर्जा का बढ़ना भी होता है। अतः जब यकृत में ठण्डक ऊर्जा बढ़ जाती है तो, केट्रक (Cataract) होने लगता है। अतः उस स्थिति आने से पूर्व यदि यकृत की ठण्डक ऊर्जा को कम रखा जाए तो केट्रक होने की संभावनाएँ कम हो जाती है।

वृद्धावस्था में मोतियाबिंब पकने से पूर्व मुंह में पानी भरकर नियमित सूर्य तप्त हरे पानी से अथवा ताजे स्वमूत्र से अथवा त्रिफला के पानी से नियमित आंखें धोने से भी केट्रक होने की संभावनाएँ कम हो जाती है। परन्तु केट्रक होने के पश्चात् यदि पुराने स्वमूत्र को दिन में दो बार आंखों में डाला जाए तो केट्रक साफ हो सकता है और शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रहती। जितना स्वमूत्र पुराना होता है, उतना उपचार अधिक प्रभावशाली होता है। फिर भी कम से कम 15 से 20 दिन पुराना स्वमूत्र तो होना ही चाहिए। पुराना शिवाम्बु आंखों में डालने से असहनीय जलन हो सकती है। अतः हमें एक दम पुराना शिवाम्बु आंखों में डालने के बजाय पहले उसी दिन का, फिर दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें दिन के हिसाब से अवधि क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते 15 से 20 दिन तक अवधि बढ़ाकर स्वमूत्र नियमित डालना चाहिए। इससे आंखों का पुराने स्वमूत्र के साथ तालमेल हो जाता है। किसी दुष्प्रभाव की संभावना नहीं रहती। इंदौर के अनुभवी शिवाम्बु चिकित्सक माणक चन्द जी मारू के परामर्श से ऐसे परामर्श से ऐसे बहुत से आंखों के रोगियों को शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ी।

3. रतोन्धीः-

कुछ व्यक्तियों को रात्रि में देखने और पढ़ने में परेशानी होती है अथवा रतोन्धी का रोग हो जाता है। यदि ऐसे रोगियों के यकृत की वायु और ताप ऊर्जा आवश्यकतानुसार बढ़ा दी जाए तो संतोषजनक परिणाम आने लगते हैं।

4. रंग न पहचान पाना (Colour Blindness):-

चन्द रोगियों को कुछ रंग पहचानने में परेशानी होती है। यदि हरा रंग पहचानने में कठिनाई हो तो यकृत की वायु ऊर्जा बढ़ाने से अच्छे परिणाम आते हैं। ठीक उसी प्रकार लाल रंग न पहचानने वालों की ताप, पीला रंग न पहचानने वालों की नमी और नीला रंग न पहचानने वालों के यकृत की ठण्डक ऊर्जा बढ़ाने और संतुलित करने से लाभ होता है।

5. आंखों के अन्य रोगों का उपचारः-

यदि आंखों में रक्त की नाड़ियों के बराबर कार्य न करने से देखने में परेशानी हों तो यकृत की ताप और वायु ऊर्जा बढ़ाने से लाभ प्राप्त होता है।

पित्ताशय बियोल मेरेडियन की वायु घटाने से आंखों का झबकना, गर्मी कम करने से आंखों की ललाई, नमी कम करने से आंखों में पानी आना, शुष्क ऊर्जा कम करने से आंखों में रक्त संचार सुधरता है और ठण्डक ऊर्जा घटाने से आंखों की रोशनी बढ़ती है।

नेत्र ज्योति अच्छी रखने के उपायः-

1. प्रातःकाल उदित सूर्य के सामने देखने से आंखों की रोशनी बढ़ती है। सूर्य दर्शन की अवधि धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए।

2. मुंह में पानी भरकर त्रिफला के पानी से या सूर्य तप्त हरे पानी से अथवा स्वमूत्र से आंखों को धोने से आंखों की दृष्टि सुधरती है।
3. प्रातःकाल निद्रा त्याग के समय आंखों में अपने बासी थूक का अंजन करने से आंखों के विकार दूर होते हैं।
4. प्रातः एवं रात्रि में निद्रा में जाते समय पानी अथवा स्वमूत्र से नेति क्रिया करने से आंखों के विकार दूर होते हैं। नासाग्र से स्वमूत्र पान करने से भी आंखों की ज्योति ठीक होती है।
5. रात्रि में निद्रा में आंखों पर पेथी पट्टी बांध कर सोने से अथवा आवश्यकतानुसार क्षमता के चुम्बक लगाने से आंखें सशक्त हो जाती है।
6. प्रातः नंगें पांव हरी घास पर चलने, हरे रंग का ध्यान करने, हरी वस्तुओं को देखने एवं भोजन में हरी सब्जियों का सेवन आंखों के लिये लाभ प्रद होता है।
7. पीयूष ग्रन्थि ओप्टिकल नर्व पर नियन्त्रण रखती है। पीयूष एवं अन्य ग्रन्थियों पर उपचार करने से आंखों के रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती है।
8. पगथली के तलवों में नियमित तेल मर्दन करने से नेत्र ज्योति सुधरती है।
9. प्राण मुद्रा से आंखों की रोशनी सुधरती है।
10. प्रतिदिन आंखों का चित्र में बताये अनुसार व्यायाम करने से अर्थात् आंखों को दायें-बायें, ऊपर-नीचे, तिरछी बायें नीचे-दाहिने तिरछी ऊपर, तिरछी दाहिने नीचे-तिरछी बांयें ऊपर, बहुत दूर और बिल्कुल समीप के पदार्थो को देखने से आंखों की मांसपेशियाँ सक्रिय होती है। आंखों की पलकों को गोल-गोल घूमाने, दोनो हथेलियों के अंगूठे के नीचे के ऊभरे भाग को रगड़ कर आंखों पर स्पर्श करने से आंखों का भारीपन कम होता है तथा नेत्र ज्योति सुधरती है।
11. आंखों के प्रमुख प्रतिवेदन बिन्दुओं एवं रीढ़ की हड्डी के सरवायकल के सी-1 और सी-2 माणकों और उनके प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने से आंखों में रक्त प्रवाह सुधरता है।

उपर्युक्त बातों का यथा संभव पालन करने से आंखों के अनेक रोगों में न केवल शीघ्र लाभ ही मिलता है, अपितु आंखों की ज्योति भी सुधरती हैं।

बतीसवां अध्याय

बिना दवा ह्रदय रोगों का प्रभावशाली उपचार

ह्रदय हमारे शरीर में माँसपेशियों से निर्मित एक लचीला चार प्रकोष्ठों वाला अंग होता है जो वक्ष के बांयी तरफ तीसरी से छठी पसली के बीच में होता है। उसका आकार स्वस्थ व्यक्ति की अपनी बंद मुट्ठी के समान होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में इसका आकार प्रायः बड़ा होता है। इसके मुख्य दो भाग होते हैं। बांया और दांया। जो फिर दो भागों में विभाजित होता है। ऊपरी भाग को एट्रियम (आलिन्द) एवं निचले भाग को वेन्ट्रिकल (निलय) कहते हैं। इस प्रकार दो आलिन्द और दो निलय मिलकर इसके चार प्रकोष्ठ होते हैं। ह्रदय का कार्य शरीर के दूषित रक्त को लेकर फेंफड़े में भेजना तथा वहाँ से शोधित शुद्ध रक्त को पुनः सारे शरीर में वितरण कर, रक्त की आवश्यकता की पूर्ति करने का होता है। ह्रदय में खुलने वाली सभी नाड़ियों के मुंह पर वाल्व होते

हैं। इन वाल्वों की संरचना ऐसी होती है कि रक्त का बहाव एक ही तरफ हो सकता है। हृदय अपना कार्य बिना किसी विश्राम के दिन-रात करता रहता है। हृदय के धड़कन की गति स्वस्थ व्यक्ति के प्रति मिनट 70 से 75 के लगभग होती है। निद्रा और आराम के समय इसकी गति कम हो जाती है, जबकि आवेग में इसकी गति बढ़ जाती है। हृदय में दो पंप होते हैं। एक की सहायता से रक्त को फेंफड़ों में प्रवाहित किया जाता है और दूसरे से रक्त को शरीर के अन्य भागों में भेजा जाता है।

हृदय को दो कोरोनरी धमनियों में प्रवाहित रक्त से पोषण प्राप्त होता है। ये धमनियाँ (आर्टरी) छोटी-छोटी शाखाओं वाले वृक्ष की तरह होती हैं, जिसका एक तना होता है। धमनियाँ ही हृदय का सर्वाधिक संवेदनशील भाग होती है। इसमें किसी प्रकार का रोग मृत्यु का कारण भी बन सकता है।

धमनियों में अपाचित वसा के जमने के कारण धीरे-धीरे इसमें रक्त का प्रवाह अवरूद्ध होने लगता है। धमनी में कभी-कभी वसा का डॉट भी बन सकता है। हृदय रोग की गंभीरता धमनी में अवरोध के आकार तथा धमनी में उसके स्थान पर निर्भर करती है।

रक्त पर हृदय की पम्पिंग का जो दबाव पड़ता है उसे रक्तचाप (Blood Pressure) कहते हैं। सामान्य दबाव एक स्वाभाविक क्रिया होती है, परन्तु जब यह दबाव असामान्य हो जाता है तो रोग बन जाता है। जब किसी कारण से रक्त का दबाव बढ़ जाता है तो उसे उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) और जब रक्त का दबाव सामान्य से कम हो जाता है तो उसे निम्न रक्त चाप (Low Blood Pressure) का रोग कहते हैं।

जब हृदय अपने पास एकत्रित हुए रक्त को शरीर में भेजने के लिये सिकुड़ता है तो उस समय जो अधिकतम दबाव बनता है उसे सिस्टोलिक दबाव (Systolic Pressure) कहते हैं। इसी समय शरीर में वापिस लौटे रक्त को ग्रहण करने के लिये हृदय ढ़ीला (Relex) होता है। उस समय जो रक्त का दबाव होता है, उसे डायस्टोलिक दबाव (Diastolic Pressure) कहते हैं। रक्तचाप के दबाव की निम्न सीमा अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

हृदय संबंधी रोग-

रक्त प्रवाह में किसी कारण अवरोध आने से हृदय को अपना कार्य पूर्ण क्षमता से करने में कठिनाई होती है। स्वयं हृदय की मांसपेशियाँ भी रक्त से पुष्ट होती हैं। परन्तु जब उन धमनियों में रुकावट पैदा हो जाती है तो, हृदय की मांसपेशियाँ क्षतिग्रस्त हो जाती है। हृदय कमजोर हो जाता है जिसके कारण हृदय की धड़कन आवश्यकता से कम अथवा अधिक हो जाती है तथा कभी-कभी धड़कन बंद भी हो जाती है। रक्तचाप कम अथवा ज्यादा रहने लगता है। अचानक सीने में दर्द होने लगता है। श्वास लेने में कठिनाई होने लगती है। व्यक्ति को थकान और चक्कर आने लगते हैं। हृदय और छोटी आंत मेरेडियन के मार्ग में आने वाले शरीर के भागों में दर्द होने लगता है। ये सब हृदय रोग के लक्षण होते हैं।

धड़कन एवं रक्तचाप के असंतुलन के अतिरिक्त रक्त वाहिनियों का कड़ा पड़ जाना (Arterio Sclerosis), वाल्व का खराब हो जाना (Valvular Disorders), रक्त शिराओं का फूल जाना (Varicose Veins), रक्त संचार की कमी से हृदय में तीव्र वेदना होना (Anginsa Pectoris), हृदय का आकार बढ़ जाना (Heart Enlargement) हृदय के आसपास तरल पदार्थो का एकत्रित हो जाना (Pericardial Infusion) हृदय

की मांसपेशियों का सिकुड़ना (Articular Fibrillation), हृदय की क्रिया की गति तीव्र होना (Articular Flutter), हृदय के अवरोध (Heart Block), हृदय की एक या अधिक धमनियों में अवरोध (Coronary Thrombosis), दिल का दौरा पड़ना (Heart Attack), हृदय की धड़कन बंद होना (Heart Failure) आदि रोग हृदय के रोगों के अन्तर्गत आते हैं।

हृदय रोग के प्रमुख कारण–

हमारी अप्राकृतिक असंतुलित, असंयमित, अनियमित,तनावमय, जीवन शैली हृदय रोग का मुख्य कारण होती है। जैसे गलत खान–पान, मादक दुर्व्यसनों का सेवन, भोजन, पानी और हवा के सेवन के नियमों का पालन न करना, बिल्कुल परिश्रम न करना अथवा क्षमता से अधिक शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करना। काम, क्रोध, चिन्ता, भय, शोक, मोह, लोभ आदि मानसिक तनावों से ग्रस्त रहने से हृदय रोग होने की संभावना बढ़ जाती है। मानसिक आवेग के समय मस्तिष्क को अत्यधिक रक्त की आवश्यकता होती है। गलत खान–पान से आमाशय को पाचन हेतु अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। क्षमता से अधिक कार्य करने से भी हृदय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। हृदय हमारे भावों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः नकारात्मक सोच से हृदय की ऊर्जा का अपव्यय होता है। हृदय का संबंध ताप ऊर्जा से होता है। जिसकी अभिव्यक्ति वाणी के माध्यम से होती है। अतः अधिक तेज अथवा बिना मतलब अधिक बोलना हृदय के लिये हानिकारक होता है। इसी कारण हृदय रोग में आराम, मौन, सकारात्मक चिन्तन और सुपाच्य आहार ही उपचार में प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं।

हृदय रोग के लक्षण–

हृदय में प्राण ऊर्जा का प्रवाह हृदय मेरेडियन से संबंधित होता है। जब तक यह प्रवाह संतुलित और आवश्यकता के अनुरूप रहता है, तब तक रक्त नलिका में विजातीय तत्वों की उपस्थिति प्रभावहीन रहती है। परन्तु निरन्तर अधिक प्राण ऊर्जा की मांग के कारण हृदय मेरेडियन के मार्ग में आने वाले शरीर के अवयवों को अधिक कार्य करना पड़ता है। जिससे उनमें दर्द और पीड़ा की अनुभूति होने लगती है। अतः हृदय मेरेडियन के किसी भी भाग में किसी भी कारण से दर्द होने की स्थिति में रोगी को अधिक सजग और सतर्क रहना चाहिये।

दूसरी बात हृदय की गड़बड़ी के समय सुजोक एवं रिफ्लेक्सोलोजी एक्युप्रेशर के सिद्धान्तानुसार चित्र में दर्शाये गये दोनों एथेलियों और दोनों पगथलियों में अंगुठे के नीचे ऊभरे हुये भाग पर दबाव देने से हृदय के प्रतिवेदन बिन्दुओं पर हृदयरोग की स्थिति के अनुसार अवश्य पीड़ा होती है। ठीक इसी प्रकार बांयी हथेली और बांयी पगथली में चित्र में दर्शाये अनुसार हृदय के प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने से अवश्य दर्द का अनुभव होता है। इन प्रतिवेदन बिन्दुओं पर जितना अधिक दर्द होता है, उतनी ही हृदय रोग होने की संभावना अधिक रहती है परन्तु यदि हृदय प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने पर दर्द न हो तो आत्म–विश्वास के साथ ऐसा समझा जा सकता है कि हृदय बराबर कार्य कर रहा है, भले ही रोगी को हृदय रोग से मिलते जुलते अन्य लक्षण प्रकट क्यों न होते हों। उनका कारण अन्य अंगों में गड़बड़ी से हो सकता है। परन्तु आजकल चिकित्सकों का समग्र चिन्तन न होने से, ई. सी.जी. की जांच और परीक्षणों के आधार पर रोगी को हृदय रोगी घोषित करते प्रायः तनिक भी संकोच नहीं होता।

यिन-यांग के सिद्धान्तानुसार हृदय और छोटी आंत जोड़ों में कार्य करते हैं और दोनों का संबन्ध ताप ऊर्जा से होता है। अतः जब दोनों अंगों की ऊर्जाओं में असंतुलन हो जाता है तो हृदय रोग के लक्षण प्रकट हो जाते है। जैसे गैस के ऊपर आने से हृदय में होने वाला दर्द अथवा छोटी आंत की मेरेडियन के क्षेत्र में आने वाले शरीर के भाग पर होने वाले दर्द को हृदय रोग का कारण समझ लिया जाता है।

चीनी पंच तत्त्व के सिद्धान्तानुसार हृदय का नियन्त्रण गुर्दे से होता है और हृदय फेंफड़े को नियन्त्रित रखता है। अतः जब गुर्दे अथवा फेफड़ों में गड़बड़ी हो जाती है तो भी उसका प्रभाव हृदय पर पड़े बिना नहीं रहता। जैसे कभी-कभी अकारण पसीना अधिक आने की स्थिति को हृदय रोग का कारण बतला दिया जाता है, परन्तु पसीना अधिक आने का कारण फेंफड़े, बड़ी आंत अथवा गुर्दे-मूत्राशय में असंतुलन से भी हो सकता है।

ठीक उसी प्रकार लीवर, हृदय का मातृ अंग और तिल्ली हृदय का पुत्र अंग होता है। अर्थात् हृदय ऊर्जा के उत्पादन में लीवर तथा तिल्ली की प्राण ऊर्जा के उत्पादन में हृदय का योगदान होता है। लीवर और तिल्ली की गड़बड़ी का भी हृदय पर प्रभाव पड़ता है। अतः रोगी को हृदय रोगी घोषित करने से पूर्व चिकित्सक को समग्र दृष्टिकोण से निदान करना चाहिये।

हृदय शरीर का प्रमुख अंग है तथा उसके कार्य न करते ही मृत्यु हो जाती है। जिस प्रकार परिवार के किसी सदस्य के असाध्य रोग से पीड़ित होने पर अभिभावक चिन्तित रहता है तथा दूसरा अभिभावक अपने स्वयं के रोग से पीड़ित होने के कारण चिन्तित रहता है। बाह्य रूप से दोनों चिन्तित रहते हैं, परन्तु दोनों की चिन्ता का कारण और निवारण का उपाय अलग-अलग होता है। ठीक उसी प्रकार शरीर के अन्य महत्वपूर्ण अंगों में खराबी के कारण हृदय पर पड़ने वाले अतिरिक्त कार्यभार तथा हृदय के अवयवों में गड़बड़ी होने से उत्पन्न स्थिति का अलग-अलग विश्लेषण और उपचार आवश्यक होता है। समस्या का मूल कारण मालूम करना जरूरी होता है। अतः जब तक समग्र दृष्टिकोण से हृदय रोग के लक्षण प्रकट न हों तो रोगी को बाह्य लक्षणों एवं ई.सी.जी. की रिपोर्ट के आधार पर हृदय रोगी घोषित करना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। हृदय रोग व्यक्ति को जितना परेशान नहीं करता, उससे ज्यादा हृदय रोग बतलाने के पश्चात् रोगी की मानसिकता, परिजनों की सजगता से रोगी को निरन्तर आवश्यक परहेज रखने हेतु आदेश एवं निर्देश आग में घी का कार्य करता है। जीवन के प्रति उत्साह समाप्त होने लगता है। मृत्यु का भय प्रतिक्षण लगने लगता है। चिन्ता, दुःख, तनाव, भय आदि नकारात्मक चिन्तन से शरीर में पंच ऊर्जाओं का असंतुलन बढ़ने लगता है और धीरे-धीरे व्यक्ति वास्तव में हृदय रोगी बन जाता है। आजकल पचास प्रतिशत से अधिक हृदय रोग का उपचार करवाने वाले व्यक्ति प्रारम्भिक अवस्था में हृदय रोग से पीड़ित नहीं होते, परन्तु चिकित्सकों द्वारा हृदय रोगी बतला देने के कारण मानसिक रूप से हृदय रोग से पूर्णतः ग्रसित हो जाते हैं, जिस पर निक्ष्पक्ष चिन्तन एवं शोध आवश्यक है। अतः जब तक हृदय की गड़बड़ी के परीक्षण में स्पष्ट संकेत प्राप्त न हों, किसी रोगी को हृदय रोगी घोषित नहीं करना चाहिए।

हृदय रोगों में विविध सुरक्षात्मक उपचार

आधुनिक विज्ञान ने हृदय रोग में राहत हेतु बाईपास सर्जरी, वाल्व परिवर्तन, पेसमेकर जैसी अनेक अत्यन्त खर्चीली सुविधाएँ उपलब्ध की हैं, परन्तु उनका उपयोग साधारण रोगी नहीं कर सकता। साथ ही शल्य चिकित्सा के पश्चात् सदैव दवाईयां की दासता ओर उनसे पड़ने वाले दुष्प्रभावों के कारण अन्य रोगों का सामना भी करना

पड़ सकता है। अतः स्वावलंबी प्रभावशाली चिकित्सा आधुनिक युग की सर्वाधिक आवश्यकता है। पुस्तक में चर्चित विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर हृदय रोगों का प्रभावशाली उपचार किया जा सकता है। प्रत्येक उपचार हृदय रोग से मुक्ति दिलाने में सक्षम होता है। परन्तु जब आवश्यकतानुसार अनेक स्वावलम्बी उपचार एक साथ किए जायें तो रोग तुरन्त नियन्त्रित हो जाता है। लेखक ने स्वयं अपने पर हृदय रोग से पीड़ित होने पर, बिना किसी दवा स्वावलम्बी चिकित्साओं द्वारा अपने आपको स्वस्थ करने का अनुभव किया है। हृदय छोटी आंत मेरेडियन में प्राकृतिक ऊर्जा चक्र के अनुसार प्राण ऊर्जा का अधिकतम प्रवाह सुबह लगभग 11.00 बजे से दोपहर 3.00 बजे के मध्य होता है। अतः उस समय किया गया आंशिक उपचार भी अधिक प्रभावशाली होता है।

दूसरी बात उस समय भोजन करने से पाचन तंत्र को अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः हृदय प्रकृति से प्राप्त प्राण ऊर्जा को पूर्णतः ग्रहण न कर सकने के कारण कमजोर होता है। इसलिये भोजन जब आमाशय सक्रिय हो, तभी करना श्रेयस्कर होता है।

तीसरी बात रात्रि के 11.00 बजे से 3.00 बजे तक हृदय छोटी आंत में प्रकृति से प्राण ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम होता है। अतः उस समय निद्रा लेकर हृदय को आराम देना जरूरी है। देर रात जागृत रहना विशेष कर हृदय रोगियों के लिये बहुत हानिकारक होता है। अर्थात् हृदय रोग के कारण जैसा प्रभाव पड़ता है, उसके अनुरूप असंतुलित ऊर्जा को संतुलित करने से रोग में तुरन्त राहत और कुछ दिनों में रोग से पूर्ण मुक्ति मिल सकती है।

हृदय रोगों से बचने अथवा रोग होने की स्थिति में पुनः शीघ्र रोग मुक्त होने के लिए स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु जिन बातों का दैनिक जीवन शैली में समावेश प्राथमिकता के आधार पर आवश्यक बतलाया गया है। उनकी यथा सम्भव अधिकाधिक पालना करनी चाहिए। उसके बिना उपचार प्रभावशाली एवं स्थायी नहीं हो सकता।

1. हृदय रोगियों का नाभि केन्द्र प्रायः विकार ग्रस्त हो जाता है। स्पन्दन केन्द्र में नहीं रहता। अतः नाभि केन्द्र को स्वस्थ रखना आवश्यक होता है। जब तक नाभि ठीक न हो जाए, नियमित नाभि का संतुलन करना चाहिए।
2. हृदय संबंधी रोगियों को अपने पैरो, गर्दन और मेरूदण्ड का संतुलन नित्य परीक्षण कर ठीक रखना चाहिए।
3. हृदय रोगियों को पगथली और हथेली में हृदय, छोटी आंत, तिल्ली, गुर्दो, फेफड़ों, यकृत, मेरूदण्ड, मस्तिष्क एवं सभी अन्तःश्रावी ग्रन्थियों के मुख्य प्रतिवेदन बिन्दुओं पर नियमित दबाव देने के साथ अन्य पीड़ा ग्रस्त प्रतिवेदन बिन्दुओं पर भी एक्युप्रेशर करना चाहिए।
4. हृदय और छोटी आंत बियोल मेरेडियन में (चित्र नं. 53 में) बतलायी विधि द्वारा ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित रखना चाहिए। जिससे हृदय की कार्य क्षमता बढ़ती है। शरीर के अन्य भागों में सहयोगी रोगों के लक्षण प्रकट होते हों उसके अनुरूप उस भाग से प्रवाहित होने वाली मेरेडियन की संबंधित असंतुलित ऊर्जा का संतुलन करने से हृदय रोग के दुष्परिणामों से सहज बचा जा सकता है। यदि शरीर के किसी भाग में जलन हो तो ताप ऊर्जा को कम करना, अवरोध आ गया हो तो ताप ऊर्जा को बढ़ाना, चर्म रोग हो गये हों तो शुष्क ऊर्जा घटाना, अचेतना हो तो ताप ऊर्जा बढाना, असहनीय दर्द अथवा गांठ हो तो ठण्डक ऊर्जा घटाना, कंपन हो तो संबंधित बियोल मेरेडियन की वायु ऊर्जा को कम करने से तुरन्त अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं।
5. यदि उच्च रक्त चाप हो तो (चित्र नं. 57 के अनुसार) हृदय बियोल मेरेडियन के ताप एवं वायु ऊर्जा वाले केन्द्र पर बटन चुम्बक का उत्तरी ध्रुव लगाने से रक्तचाप कम हो जाता है।

6. यदि निम्न रक्तचाप हो तो हृदय बियोल मेरेडियन के ताप एवं वायु ऊर्जा वाले केन्द्रों पर (चित्र नं. 58 के अनुसार) बटन चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव लगाने से चन्द मिनटों में ही रक्तचाप साधारण हो जाता है।
7. चुम्बकीय वाइब्रेटर के उत्तरी ध्रुव को दाहिने हथेली के नीचे 2-3 मिनट स्पर्श करने से (देखे चित्र नं. 156) भी उच्च रक्तचाप ठीक होने लगता है। ठीक उसी प्रकार बांयी हथेली के नीचे चुम्बकीय वाइब्रेटर के दक्षिणी ध्रुव का उपचार करने से निम्न रक्तचाप चन्द मिनटों में ही बराबर हो जाता है।
8. शरीर के जिस भाग की रक्त वाहिनियाँ कड़ी पड़ जाती है, उस भाग से गुजरने वाली मेरेडियन के बियोल मेरेडियन की शुष्क ऊर्जा कम करने तथा वायु ऊर्जा बढ़ा देने से चमत्कारी परिणाम मिलते है।
9. शरीर के जिस भाग की शिराएँ फूल जाती हैं, उस भाग से गुजरने वाली मेरेडियन की बियोल मेरेडियन की शुष्क ऊर्जा बढ़ाने तथा वायु ऊर्जा कम करने से शीघ्र लाभ मिलने लगता है।
10. यदि हृदय का आकार बढ़ा हो गया हो तो हृदय बियोल मेरेडियन की शुष्क ऊर्जा को बढ़ाना चाहिए।
11. यदि हृदय की धड़कन बढ़ गई हो तो, हृदय बियोल मेरेडियन की वायु ऊर्जा को कम करने से तुरन्त लाभ मिलता है। इसी प्रकार यदि हृदय की धड़कन कम हो गई हों तो, हृदय बियोल मेरेडियन की वायु ऊर्जा बढ़ाने से शीघ्र लाभ होता है।
12. यदि हृदय की मांसपेशियाँ सिकुड़ गई हों तो, हृदय बियोल मेरेडियन की वायु ऊर्जा को बढ़ाना एवं शुष्क ऊर्जा को कम करना चाहिए।
13. यदि हृदय और धमनियों में अवरोध आ गया हों तो, हृदय बियोल मेरेडियन की नमी ऊर्जा बढ़ानी चाहिए और ठण्डक ऊर्जा कम करनी चाहिए।
14. यदि हृदयघात हो गया हो अथवा उसकी कार्य क्षमता क्षीण हो गई हो तो, हृदय की ठण्डक ऊर्जा को घटाना और ताप ऊर्जा बढ़ानी चाहिए।
15. हृदय रोगियों को नियमित शुद्ध हवा में टहलना, प्राणायाम करना, पाचन के नियमों का पालन, पर्यावरण एवं प्रदूषण रहित वातावरण में रहना, अति आवश्यक होता है। ओम् के उच्चारण के साथ धीरे-धीरे गहरे श्वास लेना चाहिए। ओम् के उच्चारण में ''म'' का उच्चारण लम्बा करना चाहिए। ''म'' की ध्वनि हृदय से निकलती है। अत: ऐसे उच्चारण से हृदय की मांसपेशियां सशक्त होती हैं। साथ ही कपाल-भाति क्रिया द्वारा शरीर में जमें अनावश्यक विकारों को नि:श्वास द्वारा बाहर निकालना चाहिए।
16. रोगी को प्रात:काल प्रकृति के शुद्ध आक्सीजन युक्त वातावरण में खुलकर 10 से 15 मिनट तक हंसना चाहिए, जिससे शरीर में रक्त का प्रवाह तेजी से होने लगता है और रक्त नलिका में जमे हुए विकार अपना स्थान छोड़ने लग जाते हैं तथा रक्त का प्रवाह संतुलित होना प्रारम्भ हो जाता है। मस्तिष्क शोधन का अभ्यास भी बहुत लाभदायक होता है।
17. हृदय रोगियों को अपने स्वमूत्र का पान अवश्य करना चाहिए क्योंकि शिवाम्बु में शरीर के लिए सैकड़ों उपयोगी रसायन होते हैं, जो रक्त के शुद्धिकरण, भोजन के पाचन एवं श्वसन क्रियाओं को सुव्यवस्थित, नियंत्रित और संतुलित रखने के साथ-साथ शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाते हैं। आधुनिक चिकित्सकों द्वारा हृदय घात के समय दिया जाने वाला युरोकाइन इंजेक्शन भी मानव मूत्र से ही बनता है।

शिवाम्बु के सेवन से रक्त वाहिनियों की सफाई हो जाती है और बहुत बार शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती।

18. हृदय पर कुछ समय के लिए जब तक सिर में भारीपन अथवा चक्कर न आयें चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव को स्पर्श करना चाहिए, जिससे हृदय ताकतवर होने लगता है।
19. हृदय पर दाणा मेथी लगानें से वहां पर स्थित रक्त विकार दूर होने लगते हैं और पीड़ा शांत होती है।
20. हृदय रोगियों को कार्य के अनुरूप स्वर संचालन हेतु विशेष सजगता रखनी चाहिये। अचानक हृदय घात होते ही, स्वर परिवर्तन से तुरन्त लाभ होता है।
21. हृदय पर कपिंग द्वारा कुछ समय सहनीय चित्र नं. 119 में दर्शाये अनुसार खिंचाव चिकित्सा करनी चाहिये।
22. रोगी को हृदय और छोटी आंत पर ध्यान अथवा चैतन्य चिकित्सा द्वारा या अन्य विधि से अधिकाधिक प्राण ऊर्जा भिजवाने की, प्रातः जल्दी उठ शान्त, एकान्त, खुले, शुद्ध वातावरण में प्रक्रिया करनी चाहिए।
23. हृदय रोगियों को चित्र नं. 15 में दर्शायी अपान वायु मुद्रा का अधिक से अधिक अभ्यास करना चाहिए।
24. हृदय रोग का वाणी से सीधा संबंध होता है। अतः कम बोलना, मौन रखना बहुत आवश्यक है।
25. हृदय रोगियों को चिंता, तनाव, भय, क्रोध पैदा करने वाली परिस्थितियों से यथा संभव बचना आवश्यक है। अत्यधिक खुशी और दुःख के समाचार उन्हें तुरन्त नहीं बतलाने चाहिये। अत्यधिक भावुक एवं अधीर होने के कारण ऐसे समाचार सुनते ही कभी-कभी हृदयघात हो सकता है।
26. हृदय रोगियों को मेडुला मसाज नित्य करना चाहिये जिससे रक्तचाप एवं तनाव में तुरन्त राहत मिलती है।
27. हृदय, पेरिकार्डियन एवं कण्ट्रोलिंग वेसल बियोल मेरेडियन की ताप ऊर्जा बढ़ाने, तिल्ली बियोल मेरेडियन की नमी ऊर्जा बढ़ाने एवं यकृत बियोल मेरेडियन की वायु ऊर्जा बढ़ाने तथा गुर्दे की ठंडक ऊर्जा कम करने से हृदय के कार्य में अन्य अंगों का सहयोग मिलने से हृदय को आराम मिल जाता है, जिससे हृदय रोग में काफी राहत मिलती है।

हृदय रोग का दौरा पड़ने पर क्या करें ?

हृदय रोग के कारण अचानक हृदय की धड़कन बंद हो जाये तो प्रारम्भिक चन्द मिनटों की सजगता से किया गया उपचार रोगी का जीवन बचा सकता है। सर्व प्रथम रोगी का मुँह खोलकर जीभ को खींचकर सीधा करें। फिर मुख पर हलका कपड़ा रख अपने मुँह को रोगी के मुँह से हाथ के सहारे सटा दें और मुँह में श्वास भरकर जोर से फूंकें। साथ ही दूसरे व्यक्ति से रोगी के सीने पर दोनों हाथों से दबाव देकर कृत्रिम श्वास हेतु पम्पिंग करें तथा दोनों हाथों की छोटी अंगुलि में तेज गति से मसाज करें। यह प्रक्रिया तब तक करें जब तक रोगी की श्वसन क्रिया पुनः प्रारम्भ न हो जाए।

इस प्रक्रिया से हृदय मेरेडियन में प्राण ऊर्जा का प्रवाह नियमित होने लगता है और रोगी की श्वसन क्रिया यानी हृदय का धड़कना प्रारम्भ हो जाता है। उसके पश्चात् रोगी को चन्द दिनों तक पूर्ण आराम और मौन में रहकर आवश्यक उपचार करने से भविष्य में हृदय रोग होने की संभावना कम हो जाती है।

यदि हृदय रोगी उपर्युक्त बातों का पालन कर अनावश्यक कार्यो में ऊर्जा का अपव्यय न करें, आराम और निंद्रा बराबर लें, खाने, पीने व वाणी का संयम रखें, वाणी का प्रयोग कम से कम करें, अधिक समय मौन में रहें,

तनाव, चिन्ता, भय दूर करने वाले सद्-साहित्य का अध्ययन करें, प्रेरणात्मक भजनों अथवा गीतों का श्रवण या गायन करें तो, हृदय रोग तुरन्त ठीक हो सकता है। हम दवाओं और शल्य चिकित्सा द्वारा जीवन भर परावलम्बी जीवन जीएं अथवा प्रभावशाली स्वावलम्बी जीवन जीएं, हमारे स्वयं के विवेक पर निर्भर करता है।

इसी प्रकार हृदय रोगियों को रक्त पतला करने के लिये नियमित रूप से जीवन पर्यन्त प्रायः दवाओं पर आश्रित रहना पड़ता है। यदि ऐसे रोगी आवश्यकतानुसार हृदय की नमी ऊर्जा को बढ़ा कर संतुलित कर दें तो रोग से मुक्ति मिल सकती है। हृदय की मुख्य ऊर्जा गर्मी होती है। अतः हृदय रोगी हृदय बियोल मेरेडियन की ताप ऊर्जा को आवश्यकतानुसार बढ़ाकर संतुलित कर लें तो हृदय शक्तिशाली बन जाता है।

तैतीसवां अध्याय

बिना दवा मधुमेह का प्रभावशाली उपचार

मधुमेह का कारणः-

शरीर को स्वस्थ रखने एवं समुचित विकास हेतु भोजन में अन्य तत्त्वों के साथ संतुलित प्रोटीन, वसा तथा कार्बोहाइट्रेड आदि तत्त्वों की विशेष आवश्यकता होती है। जब इनमें से कोई भी या सारे तत्त्व शरीर को संतुलित मात्रा में भोजन में नहीं मिलते अथवा शरीर उन्हें पाचन के पश्चात् पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता तो शरीर में विविध रोग होने लगते हैं। इंसुलिन की कमी के कारण जब शरीर कार्बोहाइट्रेड को ग्लूकोज के रूप में अपने अन्दर नहीं समा सकता तथा उसका भलीभांति उपयोग नहीं कर पाता तो मधुमेह का रोग हो जाता है। मानसिक तनाव, शारीरिक श्रम का अभाव, गलत खान-पान अथवा पाचन के नियमों का पालन न करने से और अप्राकृतिक जीवन शैली इस रोग के मुख्य कारण होते हैं। कभी-कभी यह रोग वंशानुगत भी होता है।

मधुमेह क्या है?

शरीर में पेंक्रियाज एक दोहरी ग्रन्थि होती है जो पाचन हेतु पाचक रस और इंसुलिन नामक हारमोन्स को पैदा करती है। इंसुलिन भोजन में से कार्बोहाइड्रेट्स का पाचन कर उसको ग्लूकोज में बदलती है। कोशिकाएँ ग्लूकोज के रूप में ही पोष्टिक तत्त्वों को ग्रहण कर सकती हैं, अन्य रूप में उनको शोषित नहीं कर सकती। इंसुलिन रक्त में ग्लूकोज की मात्रा का भी नियन्त्रण करती है। ग्लूकोज रक्त द्वारा सारे शरीर में जाता है तथा कोशिकाएँ उसको ग्रहण कर लेती है, जिससे उनको ताकत मिलती है। ग्लूकोज का कुछ भाग यकृत ग्लाइकोजिन में बदल कर अपने पास संचय कर लेता है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसे पुनः ग्लूकोज में बदल कर कोशिकाओं के लिये उपयोगी बना सकें। शरीर की स्वस्थ अवस्था में ग्लूकोज को शरीर के विभिन्न अंगों में वसा (Fats) अथवा चर्बी के रूप में भी रखा जा सकता है। पाचन तंत्र की गड़बड़ी के कारण अथवा भोजन में शर्करा की मात्रा ज्यादा होने के कारण, अधिक इंसुलिन की आवश्यकता होती है। कभी-कभी पेन्क्रियाज ग्रन्थि के बराबर कार्य न करने पर भी इंसुलिन की आवश्यक मात्रा का निर्माण नहीं होता।

इंसुलिन की कमी के कारण पाचन क्रिया के पश्चात् आवश्यक मात्रा में ग्लूकोज नहीं बनता और कार्बोहाइड्रेट्स तत्त्व शर्करा के रूप में ही रह जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप जिन-जिन कोशिकाओं को ग्लूकोज

नहीं मिलता वे निष्क्रिय होने लगती हैं। उनकी कार्य क्षमता कम होने लगती है, जिससे प्रायः भूख और प्यास अधिक लगती है।

मधुमेह के दुष्परिणामः-

शरीर में लगातार अधिक शर्करा रहने से अनेक जैविक क्रियाएँ प्रभावित हो सकती हैं। अधिक मीठे रक्त से रक्त वाहिनियों की दीवारें मोटी हो जाती हैं और उसका लचीलापन कम होने लगता है। रक्त का प्रवाह बाधित हो सकता है। जब यह स्थिति हृदय में होती है तो हृदयघात और मस्तिष्क में होने पर पक्षाघात हो सकता है। पिण्डलियों में होने पर वहां भयंकर दर्द तथा प्रजनन अंगों पर होने से प्रजनन क्षमता प्रभावित हो सकती है।

रक्तवाहिनियों के बाधित प्रवाह से पैरों में संवेदनाओं में कमी आ सकती है तथा जाने अनजाने मामूली चोट भी घाव जल्दी न भरने के कारण गम्भीर रूप धारण कर सकती है। शरीर के सभी अंगों को क्षमता से अधिक कार्य करना पड़ सकता है। जिससे पैरों में कंपन, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, तनाव आदि के लक्षण प्रकट हो सकते हैं। संक्षेप में प्रभावित कोशिकाओं से संबंधित रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

शरीर में इंसुलिन की आवश्यकता को कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है?

मधुमेह का रोग शरीर में पेंक्रियाज ग्रन्थि के बराबर कार्य न करने से होता है। परन्तु पेंन्क्रियाज बराबर कार्य क्यों नहीं करता? क्या वास्तव में पेंक्रियाज इंसुलिन कम बनाता है? क्या जो इंसुलिन बनता है उसका हम पूर्ण सदुपयोग करते हैं? कहीं तनाव अथवा अप्राकृतिक जीवन शैली तथा पाचन के नियमों का पालन न करने से हमें आवश्यकता से अधिक मात्रा में इंसुलिन की आवश्यकता तो नहीं होती है?

पेंक्रियाज रोग ग्रस्त क्यों होता है? उसके रोग ग्रस्त होने से कौन से अंग अथवा अवयव प्रभावित होते हैं? पेंक्रियाज के कार्य को सहयोग देने वाले शरीर में कौन-कौन से अंग, उपांग, ग्रन्थियाँ और तंत्र होते हैं? पेंक्रियाज की क्षमता को कैसे बढ़ाया जा सकता है? यदि उस अंग को ठीक कर दिया जाये तथा पेन्क्रियाज की कार्य क्षमता बढ़ा दी जाए, पाचन में इंसुलिन का जो अनावश्यक दुरूपयोग करते हैं अर्थात् जो कार्य बिना इंसुलिन अन्य अवयवों द्वारा किए जा सकते हैं, कराये जाये तो समस्या का समाधान हो सकता है।

दूसरी बात, पाचन हेतु इंसुलिन की आवश्यकता को कैसे कम किया जा सकता है? यदि सहायक अंगों का सहयोग लिया जाये तो मधुमेह का उपचार बहुत ही सरल और प्रभावशाली हो सकता है। आधुनिक चिकित्सक मधुमेह को असाध्य रोग मानते हैं परन्तु उनका कथन शत-प्रतिशत ठीक नहीं होता है। मात्र पेंक्रियाज द्वारा पर्याप्त मात्रा में इंसुलिन न बना सकने के कारण बाहर से इंसुलिन देना समस्या का सही समाधान नहीं हो सकता? यह तो फूटे घड़े में बिना छिद्र को बंद किये पानी भरने के समान अथवा वृक्ष को सुरक्षित रखने के लिए फले पत्तों पर पानी देने के समान अदूरदर्शिता पूर्ण आचरण होता है। जिस प्रकार वृक्ष की सुरक्षा हेतु उसकी जड़ों में पानी देना आवश्यक होता है, ठीक उसी प्रकार पेंक्रियाज द्वारा इंसुलिन अथवा पाचक रस न बनाने अथवा कम बनाने के कारणों को दूर कर तथा इंसुलिन की आवश्यकता कम कर उसके सहयोगी अंगों से तालमेल एवं सहयोग लेकर मधुमेह को नियन्त्रित रखा जा सकता है। उसके दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है। अतः जो मधुमेह से बचना चाहें, अथवा जो मधुमेह से रोग ग्रस्त हैं, उन्हें स्वास्थ्य सुरक्षा एवं उपचार में चर्चित सभी बातों का ईमानदारी पूर्वक पालन करने के साथ-साथ निम्न बातों का विशेष पालन करना चाहिए।

शरीर में अधिकांश कार्यो की वैकल्पिक व्यवस्था होती है:-

शरीर में कोई अंग, उपांग, अवयव पूर्ण रूप से अकेला कार्य नहीं करता। उसके कार्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से कोई न कोई शरीर का अन्य अवयव अवश्य सहयोग करता है। उसके आंशिक विकल्प के रूप में कार्य करता है। शरीर में पेंक्रियाज एक अन्त:स्रावी ग्रन्थि है। सारी ग्रन्थियाँ सामूहिक जिम्मेदारी, तालमेल और आपसी समन्वय से कार्य करती है। अत: पेन्क्रियाज की गड़बड़ी होने पर अन्य ग्रन्थियों को अधिक कार्य करना पड़ता है। अतः यदि किसी विधि द्वारा पेंक्रियाज के साथ-साथ अन्य ग्रन्थियों को सक्रिय कर दिया जाये तो मधुमेह से मुक्ति मिल सकती है। चीनी पंच तत्त्व के सिद्धान्तानुसार पेंक्रियाज, तिल्ली-आमाशय परिवार का सदस्य होता है। अर्थात् पेंक्रियाज की गड़बड़ी का तिल्ली पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अतः यदि तिल्ली बियोल मेरेडियन में किसी विधि द्वारा प्राण ऊर्जा का प्रवाह बढ़ा दिया जाये तो पेन्क्रियाज की कार्य क्षमता ठीक हो सकती है।

तिल्ली का आमाशय पूरक अंग होता है। अत: पेंक्रियाज के बराबर कार्य न करने से तिल्ली-आमाशय का संतुलन बिगड़ जाता है। पाचन तंत्र बराबर कार्य नहीं करता। अतः पाचन के नियमों का दृढ़ता से पालन कर पाचन तंत्र की कार्य प्रणाली सुधारी जा सकती है जिससे पाचन हेतु अधिक इंसुलिन की आवश्यकता नहीं पड़ती।

हृदय, तिल्ली का मातृ अंग होता है और फेंफड़ा पुत्र अंग। तिल्ली, यकृत से नियन्त्रित होता है और गुर्दो को नियन्त्रित करता है। अत: पेंक्रियाज के बराबर कार्य न करने से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हृदय, फेंफड़े, गुर्दे, यकृत आदि भी प्रभावित हो सकते हैं, जिसका प्रभाव उनके पूरक अंगों की छोटी आंत, बड़ी आंत, मूत्राशय और पित्ताशय पर भी पड़ सकता है। जो अंग जितना-जितना असक्रिय होता है, उसी के अनुपात में उससे संबंधित रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इसी कारण सभी मधुमेह के रोगियों के बाह्य लक्षण एक जैसे नहीं होते।

किसी को भूख और प्यास अधिक लगती है, तो किसी को अधिक पेशाब। किसी की त्वचा खुश्क एवं खुरदरी हो जाती है या चर्म रोग होते हैं तो किसी के बाल झड़ने लगते हैं। किसी में यकृत, गुर्दो, हृदया या फेंफड़ों संबंधित रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। यदि लक्षणों के आधार पर संबंधित अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह को बियोल ऊर्जा संतुलन पद्धति द्वारा संतुलित कर दिया जाये तो असाध्य समझा जाने वाला मधुमेह चंद दिनों में ही बिना दवा ठीक किया जा सकता है। अतः सभी मधुमेह के रोगियों के लिये एक जैसा उपचार कैसे संभव हो सकता है?

पाचन तंत्र के नियमों का पालन आवश्यक

करोड़पति पिता का पुत्र यदि व्यर्थ धन का अपव्यय करें तो अधिक परेशानी नहीं होती परन्तु उसकी देखा-देखी उसका गरीब मित्र भी धन का अपव्यय करने लगें तो उसको कठिनाई हो सकती है। इंसुलिन का कार्य भोजन के पाचन में सहयोग करना होता है। अतः मधुमेह के रोगी यदि पाचन के नियमों का दृढ़ता से पालन करें एवं उपलब्ध सीमित इंसुलिन की मात्रा का सही उपयोग करें तो इंसुलिन की कमी से होने वाले दुष्प्रभावों से सहज बचा जा सकता है जिसका विवेचन जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं वाले अध्याय में भोजन और स्वास्थ्य के अध्याय में किया गया है।

सही समय पर भोजन करें:- जब प्रकृति से आमाशय और पेंक्रियाज/तिल्ली समूह में अधिकतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह हो, अर्थात् जब वे दिन में सर्वाधिक सक्रिय हों, उस समय मधुमेह के रोगियों को अपना मुख्य भोजन अवश्य कर लेना चाहिए, ताकि उसका सहजता से पाचन हों सके।

पाचन के नियमों का पालन करें:-

दूसरी बात, मधुमेह के रोगियों को खाना तनाव रहित वातावरण में धीरे-धीरे चबा-चबा कर खाना चाहिए जिससे भोजन में थूक और लार मिलने से उसका आंशिक पाचन मुँह में ही सम्पन्न हो सकें। आमाशय को पाचन हेतु अधिक ऊर्जा एवं इंसुलिन की आवश्यकता नहीं होती। चबा-चबा कर खाना खाना मधुमेह की सर्वोत्तम औषधि है। भोजन सूर्य स्वर में करने तथा भोजन के पश्चात् कुछ समय वज्रासन में बैठने से पाचन ठीक होता है। साथ ही भोजन करने के लगभग डेढ़ घंटें से दो घंटें तक जब तक पाचन की प्रारम्भिक क्रिया पूर्ण न हो जाये, पानी नहीं पीना चाहिए।

पाचन तंत्र को अनावश्यक क्रियाशील न रखें:-

तीसरी बात, मधुमेह के रोगियों को बार-बार मुंह में कुछ डालकर पाचन तंत्र को हर समय क्रियाशील नहीं रखना चाहिए अन्यथा भोजन के समय पाचन तंत्र पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं करता है। सुबह का भोजन यथा संभव जल्दी एवं सायंकाल का भोजन सूर्यास्त के पूर्व कर लेना चाहिये, क्योंकि उसके पश्चात् आमाशय और पेंक्रियाज में प्रकृति से प्राण ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम होता है। फलतः आवश्यक इंसुलिन उपलब्ध नहीं होता। यथा संभव दो बार से अधिक पाचन तंत्र को क्रियाशील नहीं करना चाहिए। प्रतिदिन एक समय भोजन करना तथा सप्ताह में एक बार उपवास मधुमेह के रोगियों के लिये बहुत लाभप्रद है।

भोजन में स्वाद का संतुलन रखें:-

चौथी बात, भोजन में कड़वे स्वाद वाले पदार्थ जैसे करेला, दाणामेथी, नीम आदि का अधिक प्रयोग करना चाहिये, जिससे पाचन हेतु ताप ऊर्जा उपलब्ध हों सके। भोजन में मीठे पदार्थो का सेवन जितना कम कर सकें, करना चाहिये, ताकि उनको पचाने हेतु इंसुलिन की कम आवश्यकता पड़े।

सद्साहित्य का स्वाध्याय एवं सम्यक् चिन्तन करें:-

तनाव, चिन्ता, भय तथा शारीरिक श्रम का अभाव मधुमेह का मुख्य कारण होता है। मधुमेह का रोगी किसी भी दृष्टि से शारीरिक अथवा मानसिक रूप से अपंग नहीं होता है। अतः उन्हें अपने चिन्तन की दिशा बदल जीवन शैली बदलनी चाहिए। संयमित, नियमित, अनुशासित दिनचर्या से वे जीवन के किसी भी लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। मधुमेह के रोगियों को सद्-साहित्य का स्वाध्याय, आध्यात्मिक भजनों का गायन व श्रवण, ध्यान,मौन एवं सकारात्मक चिन्तन में समय व्यतीत करना चाहिए। सम्यक् चिन्तन ही मधुमेह का स्थायी उपचार होता है।

तनाव विसर्जन के प्रयोग करें:-

प्रतिदिन कुछ मिनटों के लिये खुलकर हँसने से शरीर में तनाव के कारण एकत्रित विजातीय तत्त्व विसर्जित होने लगते हैं। मस्तिष्क शोधन की प्रक्रिया से नकारात्मक सोच और तनाव आसानी से दूर किया जा सकता है।

उदित होते सूर्य के नियमित सविधि दर्शन से भी शरीर के शारीरिक और मानसिक रोगों का शमन होता है, जिसका विस्तृत वर्णन सौर ऊर्जा का मानव कल्याण में योगदान अध्याय में किया गया है।

श्रम साध्य नियमित जीवन शैली जीएँ:-

मधुमेह के अन्य प्रमुख कारण शारीरिक श्रम का अभाव, अप्राकृतिक जीवन शैली और गलत खानपान आदि होते हैं। व्यायाम, आसन, प्राणायाम तथा प्राकृतिक नियमों का यथासंभव पालन कर एवं इन्द्रिय संयम से उन पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। मधुमेह के रोगी को अपने आपको अधिकाधिक व्यस्त रखना चाहिए। खुले बदन धूप सेवन से भी ऊर्जा मिलती है।

पेंक्रियाज को सशक्त बनाने के उपाय:-

1. प्रातःकाल जल्दी उठ शांत वातावरण में चैतन्य चिकित्सा द्वारा तिल्ली-पेंक्रियाज पर ध्यान के माध्यम से आवश्यक चेतना पहुँचानी चाहिए। जिससे तिल्ली और पेंक्रियाज शक्तिशाली होते हैं।
2. पेंक्रियाज और तिल्ली डायाफ्राम के नीचे बांयीं तरफ शरीर में स्थित होते हैं। अतः वहां पर दाणा मैथी का स्पर्श रखने से पेंक्रियाज की ताकत बढ़ती है।
3. रोगी को अपने स्वमूत्र का पान करना चाहिए, जिससे शरीर के अन्दर के सारे विकार दूर हो जाते हैं। प्रायः मधुमेह वालों को यह आशंका रहती है कि उनके मूत्र के साथ शर्करा का विसर्जन होता है, अतः उसको कैसे लिया जा सकता है? परन्तु शिवाम्बु चिकित्सा में रोगी का अपना शिवाम्बु ही उसके रोग की राम-बाण दवा होती है। शिवाम्बु का तर्कसंगत सद्-साहित्य पढ़ने से उसके प्रति मन की सारी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। शिवाम्बु के सेवन के प्रति आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। उसके साथ शिवाम्बु चिकित्सा का परामर्श लेते समय अनुभवी शिवाम्बु चिकित्सक का परामर्श लेना चाहिए न कि उपचार पद्धति के चिकित्सकों का जो शिवाम्बु का न तो स्वयं सेवन करते हैं और न अपने रोगियों को पीने की सलाह देते हैं, उनका परामर्श कैसे उपयोगी सिद्ध हो सकता है? जिस प्रकार जौहरी ही रत्नों की पहचान कर सकता है, इंजीनियर आदि अन्य व्यक्ति नहीं। ठीक उसी प्रकार जैसी चिकित्सा करनी है, उसी के अनुभवी चिकित्सक का परामर्श महत्त्वपूर्ण होता है, अन्य का नहीं।
4. चुम्बक का सक्रिय दक्षिणी ध्रुव तिल्ली-पेक्रियाज पर आवश्यकतानुसार कुछ समय स्पर्श करने से उसकी ताकत बढ़ती है। उपचार अधिक प्रभावशाली हो जाता है।
5. प्राण मुद्रा का अधिकाधिक अभ्यास करना चाहिए जिससे शरीर ताकतवर बनता है।
6. हथेली और पगथली में एक्युप्रेशर के सभी संवेदनशील प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देना चाहिए, परन्तु पेंक्रियाज, तिल्ली, लीवर, गुर्दो तथा सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के मुख्य बिन्दुओं पर विशेष एकाग्रता पूर्वक एक्युप्रेशर करना चाहिए।
7. तिल्ली बियोल मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह बढ़ाना चाहिए जिससे पेंक्रियाज में भी अधिक ऊर्जा पहुँचती है।
8. मधुमेह के रोगियों के लिए पथ्य अपथ्य का विवेक औषधि एवं उपचारों से श्रेष्ठ होता है।

मधुमेह शारीरिक से ज्यादा मानसिक रोग है। आधुनिक चिकित्सकों द्वारा उसको अज्ञानवश असाध्य बतलाने के कारण, रोगी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होता कि मधुमेह ठीक भी हो सकता है। अनेक रोगियों का उपचार करते समय लेखक ने अनुभव किया कि उपचार के पश्चात् मधुमेह के सारे लक्षण दूर हो जाने के बावजूद रोगी अपने आपको मधुमेह का रोगी मानते रहते हैं। एक बार चिकित्सक द्वारा मधुमेह की घोषणा करने के पश्चात् अपना नियमित परीक्षण करवाते रहते हैं और परीक्षणों में मधुमेह के लक्षण न आने के बावजूद बहुत से रोगी दवा की दासता नहीं छोड़ते। परन्तु जो सम्यक् चिन्तन और वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर रोग के मूल कारणों को समझ स्वावलम्बी उपचारों की प्रामाणिकता से अपना विवेक जागृत कर लेते हैं, उन्हें स्थायी रूप से दवाओं से मुक्ति मिलती है।

यदि उपर्युक्त नियमों की पालना की जाए तो मधुमेह जैसा असाध्य रोग चन्द दिनों में ही नियन्त्रण में आकर समाप्त हो जाता है।

मधुमेह उपचार के चामत्कारिक प्रयोगः-

श्री प्रकाशचंद जी चौपड़ा (टेलीफोन नं. 2644911) लगभग पिछले 12 वर्षों से मधुमेह के रोग के कारण अत्यधिक परेशान थे। उनके रक्त सुगर सदैव 400 से अधिक रहती थी। प्रतिदिन कम से कम दो बार और कभी-कभी तो तीन बार भी इंसुलिन के इंजेक्शन लेने पड़ते थे। रोग के कारण उन्हें बैंगलोर से अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। अपने रोग के कारण वे जीवन से हार चुके थे। उपचार हेतु उपचार केन्द्र पर उनसे लेखक का सम्पर्क हुआ।

सर्वप्रथम उनके शारीरिक संतुलनों जैसे पैर, नाभि एवं रीढ़ को संतुलित किया गया। साथ ही उनकी तिल्ली बियोल मेरेडियन में प्राण ऊर्जा अधिक प्रभावित करने हेतु नमी वाले प्रतिवेदन बिन्दु पर बटन चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव लगाया गया तथा प्रतिदिन 2-3 मिनट चुम्बकीय वाइब्रेटर से पेंक्रियाज पर दक्षिणी ध्रुव की मसाज प्रारम्भ की गयी। उन्हें पाचन संबंधी नियमों के पालन हेतु परामर्श दिया गया तथा दोनों हथेलियों एवं पगथली में दर्दस्थ प्रतिवेदन बिन्दुओं पर 20 से 30 सैकेण्ड एक्युप्रेशर किया गया। उपचार के प्रथम दिन से ही उन पर चमत्कारी प्रभाव पड़ने लगा। तीन दिन पश्चात् हमने इंसुलिन की मात्रा घटाने का परामर्श दिया और उन्होंने उसका पालन कर दिन में एक बार ही इंसुलिन लेना प्रारम्भ कर दिया। उनका मनोबल भी परिवर्तन होने लगा। उन्हें किसी भी प्रकार की परेशानी का अनुभव नहीं होता था। परीक्षण के अनुसार मधुमेह नियन्त्रण में ही रहने लग गया। सप्ताह भर उपचार के पश्चात् उन्हें एक दिन के अन्तराल में, दूसरे सप्ताह दो तीन के अन्तराल में, तीसरे सप्ताह उन्हें तीन दिन के अन्तराल में, चौथे सप्ताह 4 दिन के अन्तराल में दिन में एक बार इंसुलिन लेने का परामर्श दिया गया। पाँचवें सप्ताह में इंसुलिन लेना उन्होंने स्वतः बंद कर दिया। आज भी वे स्वस्थ हैं।

जोधपुर के ही सामाजिक कार्यकर्ता एवं गोयल मेड़िकल के मालिक श्री महेश जी गोयल (टेलिफोन नं. 2614831) भी अपने मधुमेह के उपचार हेतु हमारे उपचार केन्द्र में आये। उनका भी Blood Sugar 400 से अधिक रहता था। नियमित इंसुलिन लेने से वे परेशान थे। उपर्युक्त विधि से उनका भी उपचार किया गया। एक दो दिन के उपचार में ही उन्हें चमत्कारी प्रभाव लगने लगा। दवा व्यवसाय से जुड़े होने के कारण वे अपनी मधुमेह की जांच नियमित करवाते थे। सप्ताह भर के उपचार लेने के बाद उनको इंसुलिन की मात्रा कम करने का परामर्श

दिया गया। उन्होंने कहा कि ''उन्होंने तो उपचार के प्रथम दिन से ही इंसुलिन लेना बंद कर दिया है, क्योंकि परीक्षण करवाने के पश्चात् उनका मधुमेह साधारण ही आ रहा है।

''कहने का आशय यह है कि मधुमेह का प्रभावशाली उपचार स्वावलम्बी चिकित्सा पद्धतियों में सम्भव होता है, क्योंकि वहाँ पर रोग के मूल कारणों को दूर किया जाता है न कि, बाह्य माध्यम द्वारा इंसुलिन की पूर्ति कर रोग के मुख्य कारणों की उपेक्षा की जाती है। फैसला आपके हाथ में है, जीवन भर दवाईयाँ खाकर मधुमेह के रोगी बने रहें अथवा स्वावलम्बी उपचारों के द्वारा उससे अपने आपको मुक्त करें।

चौतीसवां अध्याय

बिना दवा दमा का प्रभावशाली उपचार

दमा क्या है?

हमारे शरीर में फेंफड़ा एक लचीला, हल्का स्पोन्जी और रबड़ की तरह फैलने वाला अंग होता है। जिसका प्रमुख कार्य श्वास के माध्यम से वायु के साथ आक्सीजन को ग्रहण करना तथा रक्त शुद्धि के पश्चात् जो कार्बन डाई-आक्साईड बनती है, उसे निःश्वास द्वारा बाहर फेंकने का होता हैं। जब हम श्वास लेते हैं तो फेंफड़ा फूल जाता है और जब श्वास निकालते हैं तो संकुचित हो जाता है। फेंफड़े दो होते हैं। दाहिना फेंफड़ा बांयें फेंफड़े से कुद बड़ा होता है।

श्वास नली तथा उसके बाद छोटी-छोटी श्वास नलियों द्वारा हवा फेंफड़ों में पहुँचती हैं। जब किसी कारण से श्वास नलियों के छिद्र सिकुड़ जाते हैं अथवा उनमें श्लेष्मा भर जाने से बंद हो जाते हैं तो उनमें से होकर वायु का फेंफड़ों तक नियमित रूप से आवागमन प्रभावित होने लगता हैं। फेंफड़ों को आवश्यकता के अनुसार आक्सीजन लेने के लिए अधिक ताकत लगानी पड़ती है और उसके कारण श्वास लेने में कठिनाई होने लगती है। शरीर की ऐसी अवस्था को श्वास रोग अथवा अस्थमा या दमा कहते हैं।

दमा क्यों होता है?

श्वास हमारे जीवन की मुख्य प्रक्रिया है। श्वास प्राणों का आधार होता है। श्वास से रक्त की शुद्धि होती है। जो वायु हम श्वास द्वारा ग्रहण करते हैं वह नाक, गला स्वर यंत्र, श्वास नलिका से होती हुई छोटी-छोटी श्वास नलियों द्वारा फेंफड़ों में पहुँचती है। अतः जब श्वसन तंत्र से संबंधित शरीर के इन अवयवों के कार्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कारणों से, अवरोध उत्पन्न होने लगता हैं तो श्वसन क्रिया प्रभावित होने लगती है।

दूसरी बात प्रदूषित अथवा आक्सीजन की कमी वाले वातावरण में श्वास लेने से फेंफड़ों में पूर्ण रूप से रक्त की शुद्धि नहीं हो पाती और रक्त के विकार बढ़ने लगते हैं। हमारे गलत खान-पान एवं अप्राकृतिक जीवन शैली से भी हमारी प्राण ऊर्जा का अनावश्यक दुरुपयोग अथवा अपव्यय होता है तथा रक्त में विकार बढ़ने लगते हैं। जब ऐसा विकार युक्त रक्त शुद्धिकरण हेतु फेंफड़ों की श्वास नलियों में पहुँचता है तो नलियों में से दूषित

विकारों के जमा होने से श्वास नलियाँ सिकुड़ने लगती है। श्वास नली भी कमजोर और दोषयुक्त हो जाती है और अस्थमा के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

फेंफड़ों में पहुँचने के पहले श्वसन द्वारा ग्रहण वायु का शुद्धिकरण और शरीर के तापक्रम के अनुरूप गर्मी और नमी की आवश्यकता होती है। नाक में वायु को नम बनाने के लिये नमी का उत्पादन करने वाली ग्रन्थियाँ एक निश्चित मात्रा में द्रव का उत्पादन करती है। परन्तु यदि हम मुँह से श्वास लेते हैं तो वायु सीधी फेंफड़ों में चली जाती है। अतः श्वास हमेशा नाक से ही लेनी चाहिए। अन्यथा दमा होने की संभावनाएँ बढ़ सकती है।

फेंफड़े मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह असंतुलित होने से फेंफड़े की कार्यक्षमता कम हो जाती है। जिससे भी दमा का रोग हो सकता है। अतः शरीर में जिस मार्ग से फेंफड़े की मेरेडियन प्रवाहित होती है, वहाँ पर भी दमा के साथ-साथ अन्य रोगों के लक्षण प्रगट हो सकते हैं। परिणाम स्वरूप मेरेडियन के एक्युप्रेशर प्रतिवेदन बिन्दुओं पर दबाव देने से पीड़ा होने लगती है।

दमा के प्रकारः-

दमा मुख्यतयाः दो प्रकार का होता है-

1. श्वास नली में सूजन से होने वाला दमा
2. एलर्जिक अस्थमा

श्वास नली में सूजन से होने वाला दमाः-

श्वास नली में सूजन से होने वाले अस्थमा का कारण प्रायः सर्दी अधिक नमी वाला वातावरण या मौसम परिवर्तन से होता है। जिसका प्रारम्भ प्रायः सर्दी, जुकाम, खांसी, गले में संक्रमण आदि से होता है। समुद्र के आसपास रहने वाले अथवा वर्षा के मौसम ा अधिक नमी वाले वातावरण में रहने वाले बहुत से व्यक्ति जिनका श्वसन तंत्र कमजोर होता है, अस्थमा होने की संभावना रहती हैं। जैसे ही वे बिना नमी वाले शुष्क वातवारण में चले जाते हैं, उनको अस्थमा से स्वतः राहत मिल जाती हैं।

एलर्जिक अस्थमाः-

हमारा शरीर शब्द, रंग, रस, गंध एवं स्पर्श के माध्यम से प्रकृति के पुद्गलों को ग्रहण करता है। कुछ पुद्गलों का सेवन अनुकूल अथवा अच्छा लगता है तो कुछ का प्रतिकूल यानी नापसन्द। ऐसे ही कुछ नापसन्द पुद्गलों के शरीर में प्रवेश के साथ ही तुरन्त प्रतिक्रिया होने लगती है। गंध के ऐसे ही पुद्गलों जिनको हमारा श्वसन तंत्र स्वीकार करते समय प्रतिक्रिया करता है, उसे एलर्जी कहते हैं तथा उसके कारण श्वसन तंत्र को क्षमता से अधिक कार्य करने के कारण होने वाले अस्थमा को एनर्जिक अस्थमा कहते हैं।

एलर्जी का प्रमुख कारण शरीर का असंतुलन, विभिन्न तंत्रों में तालमेल का अभाव एवं शरीर की प्रतीकारात्मक क्षमता में कमी होता है। किसी गंध के प्रति अत्यधिक नापसंद संवेदनशीलता भी इसका मुख्य कारण होती है। अतः जिन पदार्थो की गंध शरीर सहन नहीं कर सकता, उस वातावरण से अलग होते ही अस्थमा ठीक होने लगता है। अस्थमा का जैसा कारण होता है, उसके निवारण से ही दमा से मुक्ति मिल सकती है।

दमा होने के और भी कई कारण हो सकते हैं:-

आजकल दमा के रोग में उपचार करते समय प्रायः फेंफड़ों की खराबी को ही प्रधानता दी जाती है और दमा का उपचार करते समय सारा ध्यान फेंफड़ों तक ही सीमित रखा जाता है।

यदि रोग का कारण फेंफड़ों की खराबी तक ही सीमित हो, तब तो उपचार से रोग ठीक हो सकता है, परन्तु यदि रोग का मूल कारण फेंफड़े से संबंधित अन्य सहयोगी अंग में हो तो रोग से मुक्ति प्रायः नहीं मिलती। फिर भी आजकल प्रायः दमा से पड़ने वाले अन्य अंगों पर प्रभाव की उपेक्षा होती है। इसी कारण कभी-कभी लम्बे उपचार के बावजूद दमा से मुक्ति नहीं मिलती। मात्र थोड़े समय के लिये राहत मिल सकती है। दवा जीवन की आवश्यकता हो जाती है।

शरीर अपने आप में पूर्ण समन्वय से कार्य करता है। किसी भी अंग के रोग ग्रस्त हो जाने पर अन्य अंगों में प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से कुछ न कुछ अवश्य प्रभाव पड़ता है। अन्य अंगों में होने वाले असंतुलन को शीघ्र एवं सरलता से दूर किया जा सकता है। अन्य सहयोगी कारण दूर हो जाने से रोग शीघ्र नियन्त्रण में आ जाता है और उसका स्थायी रूप से निवारण किया जा सकता है।

यिन यांग के सिद्धान्तानुसार बड़ी आंत फेंफड़े का पूरक अंग होती है। अतः कभी-कभी जब बड़ी आंत बराबर कार्य नहीं करती है, तो फेंफड़ों की कार्य क्षमता भी घट जाती है और अस्थमा के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में प्रायः अधिकांश चिकित्सा पद्धतियाँ उसका कारण फेंफड़ों में ही ढूढ़ती है। परन्तु लम्बे उपचार के बावजूद रोगी को अस्थमा से राहत नही मिलती। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी पत्नि की बीमारी के कारण तनाव ग्रस्त हो तो उस व्यक्ति के तनाव का उपचार जब तक लाभप्रद नहीं होगा, जब तक कि उसकी पत्नी रोग मुक्त न हो जाये, जिसके कारण वह व्यक्ति तनावग्रस्त है। ठीक उसी प्रकार जब तक बड़ी आंत बराबर कार्य नहीं करेगी, फेंफड़ों का उपचार करने से दमा ठीक नहीं हो सकता। फेंफड़े और बड़ी आंत में आपसी समन्वय, संतुलन और तालमेल होते ही लम्बे समय से पीड़ित अस्थमा के रोगी चन्द दिनों में दमा के रोग से छुटकारा पा सकते हैं।

फेंफड़े मेरेडियन में प्राण ऊर्जा का प्रवाह तिल्ली मेरेडियन से होता है। तिल्ली हमारे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता का नियन्त्रण करती है। उसके बराबर कार्य न करने के कारण ही शरीर को एलर्जी की शिकायत होती है। अतः यदि तिल्ली एवं फेंफड़ों की मेरेडियन में प्राण ऊर्जा का प्रवाह बढ़ा दिया जाये तो एलर्जिक अस्थमा से राहत मिल सकती है।

यिन यांग सिद्धान्तानुसार तिल्ली का पूरक अंग आमाशय होता है। अतः तिल्ली के बराबर कार्य न करने का मुख्य कारण पाचन तंत्र की गड़बड़ी भी हो सकती है। अतः अस्थमा के रोगियों के लिये पाचन के नियमों का पालन भी उसका उपचार है। जिसका विस्तृत विवरण भोजन और स्वास्थ्य वाले अध्याय में किया गया है।

पंच तत्त्व के सिद्धान्तानुसार भी तिल्ली फेंफड़े का मातृ अंग होता है। अतः जब माता से पुत्र को पूर्ण पोषण नहीं मिलता है तो पुत्र वंशानुगत रोग से भी प्रभावित हो सकता है। अतः तिल्ली पर दक्षिणी ध्रुव का चुम्बक अथवा दाणा मेथी लगाने से तिल्ली सशक्त होती है और एलर्जिक अस्थमा हों या वंशानुगत कारणों से अस्थमा हों, प्रायः निश्चित राहत मिलती है।

पंच तत्त्व के सिद्धान्तानुसार गुर्दे, फेंफड़ों के पुत्र अंग होते हैं। परन्तु फेंफड़ों के पूर्ण क्षमता से कार्य न करने के कारण गुर्दो को रक्त शुद्धिकरण के लिये अधिक क्रियाशील होना पड़ता है। इसी प्रकार हृदय फेंफड़ों के कार्यो पर नियन्त्रण रखता हैं और यकृत, फेंफड़ों से नियन्त्रित होता है। अतः हृदय और यकृत भी फेंफड़े की कार्य क्षमता बराबर न होने से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। पेरिकार्डियन (मस्तिष्क) सभी यिन यांग अंगों के संचालन में तालमेल रखता है परन्तु दमा के कारण उसके कार्यो पर भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार सारा शरीर पूर्ण समन्वय और तालमेल से कार्य करता है और किसी एक की खराबी का प्रत्यक्ष परोक्ष दूसरे अवयव पर भी प्रभाव पड़ता है। जितना और जैसा प्रभाव पड़ता है वैसे ही अन्य रोगों के लक्षण प्रगट होने लगते हैं। इसी कारण सभी अस्थमा के रोगियों के सभी लक्षण एक जैसे नहीं होते हैं। जो अंग जितना-जितना प्रभावित होता है उसके अनुरूप उससे संबंधित रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। अतः दमा के सभी रोगियों का सारा उपचार एक जैसे कैसे संभव हो सकता है ? फिर भी उपचार करते समय निम्न सामान्य बातों का आचरण आवश्यक हैं।

फेंफड़े और बड़ी आंत में प्रकृति से प्राण ऊर्जा का अधिकतम प्रवाह लगभग प्रातः 3 बजे से 7 बजे के मध्य होता है। अतः उस समय किया गया उपचार अधिक प्रभावशाली होता है।

दमा के रोगियों को प्रातः जल्दी उठ फेंफड़ों से संबंधित आसन, प्राणायाम, व्यायाम आदि नियमित करने चाहिए। प्रातः खुली हवा में टहलना, हँसना, बहुत लाभदायक होता है। फेंफड़ों पर खिंचाव चिकित्सा, चैतन्य चिकित्सा भी काफी लाभदायक होती है।

जो व्यक्ति देर से निद्रा त्यागते हैं, वे जब बड़ी आंत सक्रिय होती है तब मल नहीं त्याग सकते। परिणाम स्वरूप अपेकाकृत उन्हें कब्ज की शिकायत ज्यादा होती है। बड़ी आंत और फेंफड़ों में असंतुलन रहने लगता है जिससे फेंफड़ों और बड़ी आंत संबंधी अन्य रोगों के होने की अधिक संभावना रहती है।

स्वचालित श्वसन क्रिया के नियन्त्रण में मेरूरज्जू एवं मस्तिष्क का जो मिलन केन्द्र मेडूला ओब्लंगेटा (M.O.) का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। हमारी विविध गतिविधियों के लिये अलग-अलग मात्रा में शुद्ध प्राण वायु की आवश्कता होती है। उसी के अनुरूप एम.ओ. द्वारा फेंफड़ों की क्षमता के अनुसार श्वसन की गति निर्धारित होती है। एम.ओ. को श्वसन नियामक भी कहते हैं। अतः श्वसन संबंधी रोगों में एम.ओ. पर हल्का दबाव कुछ मिनटों तक देना बहुत लाभदायक होता हैं।

दमा का उपचारः-

फेंफड़ों संबंधी विभिन्न रोगों से बचने अथवा रोग होने की स्थिति में पुनः स्वस्थ होने के लिए स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु जिन बातों का दैनिक जीवनशैली में समावेश प्राथमिकता के आधार पर आवश्यक बतलाया गया है, उनकी अधिकाधिक पालना अनिवार्य होती है। उसके साथ-साथ निम्न स्वावलंबी उपचारों से फेंफड़े संबंधी अधिकांश रोगों में बहुत कम समय में स्थायी परिणाम मिलते हैं।

1. रोगी को अपनी पगथली का निरीक्षण करना चाहिए और यदि वे ठण्डी हों तो हथेली से रगड़ कर उसको गर्म करना चाहिए। हमारे यहाँ एक लोक कहावत है- पैर गरम, पेट नरम और सिर ठण्डा फिर डॉक्टर आवे तो मारों डण्डा। अर्थात् जिसकी पगथली गर्म रहती है उसमें रोग होने की संभावनाएँ कम हो जाती है।

2. शरीर में किसी भी रोग की स्थिति में उसके बाह्य संतुलन जैसे नाभि, पैर, मेरू दण्ड आदि प्रायः असंतुलित हो जाते हैं। अतः उपचार के पूर्व उनका निरीक्षण अवश्य कर लेना चाहिए। उनके संतुलित होते ही रोग शरीर में अधिक दिनों तक नहीं रह सकता।
3. दमा के रोगियों को अपने स्वरों के चलन की सप्ताह भर की तालिका बना लेना चाहिए। रोग की अवस्था में चन्द्र और सूर्य स्वरों में असंतुलन हो जाता है। दमा के रोगियों के प्रायः चन्द्र स्वर अधिक चलता है। अतः जिस स्वर में जिस कार्य को करना चाहिए, उसके अनुरूप स्वर संचालन हेतु विशेष सजगता रखनी चाहिए। अचानक कभी किसी भी रोग की असहनीय स्थिति हो जाये तो तुरन्त जो स्वर चलता है, उसको बदलने से तुरन्त राहत मिलती है।
4. दमा श्वास का रोग है। अतः श्वसन संबंधी नियमों का पालन करने का अभ्यास यथा संभव प्राथमिकता से करना चाहिए।
5. प्रातः उदित सूर्य को नंगी आंखों से निहारना, खुले बदन सूर्य की आतापना लेना, कुछ समय नंगे पांव धूप में चलना, सूर्य तप्त सफेद बोतल का पानी पीना एवं हवा से श्वास लेना बहुत लाभदायक होता है। सौर ऊर्जा का मानव जीवन में योगदान, सूर्य किरण एवं रंग चिकित्सा के अध्यायों में सौर ऊर्जा के प्रयोग का तर्क संगत विश्लेषण किया गया है।
6. प्रातःकाल शिवाम्बु का पान, करने एवं उसके आधा घंटें पश्चात् उषापान करने से आंतों में जमा मल आसानी से बाहर निकल जाता है। बड़ी आंत फेंफड़े का यांग अंग होता है। अतः दमा के रोगियों को आंतों की सफाई हेतु विशेष सजग और सावधान रहना चाहिए। रात्रि में निद्रा लेने से पूर्व शिवाम्बू पान भी काफी उपयोगी होता है, जिससे रातभर में शिवाम्बु शरीर की आन्तरिक सफाई आसानी से कर देता है।

   अधिकांश शिवाम्बु चिकित्सक दमा के रोगियों को लम्बे उपवास के साथ शिवाम्बु कल्प का परामर्श देते हैं। शिवाम्बु को नासाग्र से पीने से दमा में तीव्र गति से लाभ होता है। मूल बात शिवाम्बु अपने आप में पूर्ण चिकित्सा है। परन्तु शिवाम्बु को चुम्बक ऊर्जा से ऊर्जित करने, रंगीन बोतलों में आवश्यकतानुसार सूर्य ऊर्जा से ऊर्जित करने, पिरामीड में रखने से उसका प्रभाव अनेक गुणा बढ़ जाता है।
7. दमा के रोगियों को ठण्डे खाद्य एवं पेय पदार्थों का सेवन बिल्कुल नहीं करना चाहिए। पीने योग्य जितना गर्म पानी पी सकते हैं, प्यास लगने पर अथवा दमा का दौर आने पर पीने से तुरन्त राहत मिलती है।
8. दमा के रोगियों को दिन में 2-3 बार शक्तिशाली चुम्बकों को विधि अनुसार दोनों पगथलियों, दोनों हथेलियों के नीचे रखना, चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव का पानी पीना तथा सीने और पीठ पर दक्षिणी ध्रुव को फेरने से श्वसन तंत्र ताकतवर होता है। सीने और पीठ पर चुम्बकीय वाइब्रेटर फेरने से भी जमें हुए कफ वहाँ से तुरन्त दूर होने लगते हैं।
9. दाणा मैथी वात और कफ नाशक है। अतः श्वास लेने अथवा खांसी आने पर सीने के जिस भाग में कठिनाई अथवा भारीपन हों, दाणा मैथी स्पर्श कर रखने से तुरन्त चामत्कारिक राहत मिलती है। कंधों के नीचे पीछे उभरे भाग पर, कमर के पीछे गुर्दे के ऊपर एड्रीनल ग्रन्थि के स्थान पर, मेथी लगाने से दमा के रोगियों को

शीघ्र आराम मिलने लगता है। जिनको एलर्जिक अस्थमा हों, उन्हें तिल्ली पर भी मेथी लगानी चाहिए, जिससे तिल्ली सशक्त होती है और एलर्जी का प्रभाव कम होने लगता है।

10. चीनी पंच तत्त्व के सिद्धान्तानुसार फेंफड़े और बड़ी आंत की गड़बड़ी वाले अपेक्षाकृत जल्दी दु:खी होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति में प्राय: दु:ख झलकता है। वे निराश जल्दी होते हैं तथा अपने आप में सिमटने लगते हैं। वे दूसरों पर बड़ी मुश्किल से विश्वास करते हैं। अपेक्षाकृत अधिक पूर्वाग्रही होते हैं। अत: उन्हें मस्तिष्क शोधन की प्रक्रिया एवं खुलकर हंसने का अभ्यास बहुत ही लाभप्रद होता है।
11. फेंफड़ों की खराबी से रक्त का शुद्धिकरण बराबर नहीं हो पाता। फलत: हृदय और गुर्दों को भी अपनी क्षमता के अधिक कार्य करना पड़ता है। अत: सूर्य मुखी तेल का गंडूस नियमित करना चाहिए। जिससे रक्त में विकार कम होने लगते हैं।
12. शुद्ध देशी गाय का घी ऑक्सीजन का प्रभावशाली स्रोत होता है। अत: रात्रि में निद्रा लेते समय नासाग्र में घी की चंद बूंदे डालने से श्वसन में आक्सीजन की पूर्ति हो जाती है और दमा का प्रभाव कम होने लगता है।
13. दमा के रोगियों का नाड़ी तंत्र प्राय: पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं करता। सीने की मांसपेशियों में भी लचीलापन कम हो जाता है। रीढ़ के घुमावदार व्यायाम उनके लिये बहुत ही लाभप्रद होते है। जिससे सारा नाड़ी तंत्र सक्रिय होने लगता है। ताड़ासन से मांसपेशियों में लचीलापन आता है तथा विभिन्न बंधों के प्रयोग से श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र और विसर्जन तंत्र सक्रिय होते हैं। अत: दैनिक कार्यक्रमों में इनका समावेश बहुत आवश्यक है। खुली हवा में टहलना, जोगिंग एवं श्वसन संबंधी अन्य क्रियाएँ भी लाभप्रद होती हैं।
14. दमा के रोगियों को पंच तत्त्वों को संतुलित रखने वाली मुद्राओं का नियमित अभ्यास करना चाहिए।
15. एक्युप्रेशर रोग निरीक्षण, परीक्षण और निदान की सर्वश्रेष्ठ पद्धतियों में से एक है। अत: दबाव देने का तरिका सीख स्वयं को ही हथेली और पगथली के दर्दस्थ बिन्दुओं का पता लगाकर, उन पर दबाव देना चाहिए। जिससे शरीर में सहायक रोग पहले दूर हो जाने से श्वसन तंत्र को अधिक प्राण ऊर्जा मिलने लगती है।

    रोग की अवस्था में फेंफड़ों के प्रमुख प्रतिवेदन केन्द्रों, अन्त:स्रावी ग्रन्थियों, मेरूदण्ड, डायाफ्राम, हाथ और पैर की अंगुलियों के अंतिम किनारे पर स्थित जोनल प्रतिवेदन बिन्दुओं पर तो विशेष एकाग्रता पूर्वक एक्युप्रेशर का विधिवत् अवश्य उपचार करना चाहिए।
16. फेंफड़े बड़ी आंत मेरेडियन के प्रवाह की दिशा में हाथ से मसाज करने से, इन मेरेडियनों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह सुधरता है।
17. फेंफड़ों पर हल्के हाथ से मसाज करते हुए चैतन्य चिकित्सा करने से फेंफड़ें शीघ्र सशक्त होने लगते हैं।
18. रंग चिकित्सा के अनुसार बैंगनी रंग फेंफड़े का पोषक रंग है और रोगाणुनाशक भी है। अत: एलर्जिक अस्थमा में बैंगनी रंग की किरणें फेंफड़ों पर डालने से फेंफड़े ताकतवर होते हैं।
19. फेंफड़ों पर खिंचाई वाले कप लगाने से रक्त का प्रवाह बढ़ता है और श्वसन तंत्र मजबूत होता है।

20. बियोल मेरेडियन सिद्धान्तानुसार तिल्ली और फेंफड़ों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह बढ़ाने से दोनों अंगों की कार्य क्षमता बढ़ती है।
21. दमा का कारण यदि सर्दी हो तो फेंफड़े बियोल मेरेडियन की ठण्डक ऊर्जा को घटाने का आधार बना अन्य संबंधित ऊर्जाओं को संतुलित करने से तुरन्त लाभ होता है।
22. दमा का कारण यदि नमी का वातावरण हों तो फेंफड़े की नमी ऊर्जा को घटाना चाहिए।
23. दमा के सहयोगी रोगों के रूप में शरीर के किसी भाग में यदि अन्य रोगों के लक्षण प्रकट हो गये हों तो उस भाग से गुजरने वाली मेरेडियन की संबंधित ऊर्जा को संतुलित करने से सहायक रोग शांत हो जाते हैं, और दमा में भी राहत मिलती है।

    उदाहरण के लिए यदि किसी भाग में चर्म रोग हो गये हों तो उसके पास गुजरने वाली मेरेडियन की बियोल मेरेडियन में शुष्क ऊर्जा कम करने तथा वायु और ताप ऊर्जा बढ़ाने से लाभ होता है। यदि दर्द हों तो ठण्डक और शुष्क ऊर्जा कम करने से लाभ होता है। यदि जलन हों तो ताप ऊर्जा कम करनी चाहिए ओर यदि सूजन हों तो नमी ऊर्जा बढ़ानी चाहिए।

    परन्तु रोग के लक्षण यदि सारे शरीर में प्रगट हो रहे हों तो असंतुलित ऊर्जा से संबंधित मुख्य बियोल मेरेडियन को आधार बनाकर उपचार करना चाहिए। जैसे जलन में हृदय-छोटी आंत, चर्म रोग में फेंफड़े-बड़ी आंत, मांसपेशियों संबंधी गड़बड़ी में यकृत-पित्ताशय, मूत्र अथवा प्रजनन संबंधी रोग में गुर्दे-मूत्राशय, रक्त संबंधी रोग में हृदय छोटी आंत, नाड़ी संस्थान अथवा मानसिक रोगों में पेरीकार्डियन-मेरुदण्ड बियोल मेरेडियन को प्रधानता देनी चाहिए।
24. दमा के रोगियों को अपनी दिनचर्या का निर्धारण इस प्रकार करना चाहिए जिससे प्रत्येक अंग जब अधिक सक्रिय हों तो उससे संबंधित कार्यो को प्राथमिकता दी जाये और जब किसी अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम हों तो, उस अंग में कम से कम कार्य लिया जाये।

उपर्युक्त नियमों का पालन करने से प्राय: सभी प्रकार के दमा रोगी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकते हैं।